प्रकाशक :
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड
आगरा

प्रथम संस्करण
नवम्बर १९६२

मूल्य : १५.००

मुद्रक
जनता प्रेस,
आगरा

परमपूज्य पण्डित जगन्नाथ जी तिवारी
[अध्यक्ष हिन्दी विभाग, आगरा कालेज, आगरा]

जिनकी स्तुति के लिए
अनगवज्र के ये शब्द
भी
अपर्याप्त हैं—

अनन्त बोधि सत्सौख्यं प्राप्यते यस्य तेजसा
श्रेष्ठत्वं सर्वभूतानां त्रैलोक्ये सचराचरे

उन्हीं के
चरण-कमलों
में
यह ग्रन्थ समर्पित है ।

भूमिका

प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है, "सन्त-वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव" (१४०० ई०-१७०० ई०)। सर्व प्रथम विषय के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण आवश्यक है। तंत्र शब्द की विस्तृत व्याख्या इस प्रबन्ध के प्रारम्भ में दी गई है, किन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि तंत्र से हमारा तात्पर्य शैवागम, शाक्तागम, पांचरात्रागम तथा बौद्धतन्त्र से ही है। इन तन्त्रों या आगमों का रचना-काल ईसा की छठी शताब्दी से लेकर लगभग तेरहवीं शता० तक है। तेरहवीं शताब्दी के बाद भी शैव व शाक्तागमों की रचना होती रही है तथापि मुसलमानों के द्वारा बौद्ध-विहारों के नष्ट हो जाने के कारण बौद्ध-तंत्रों की रचना रुक जाती है। इसी प्रकार सन्त एवम् वैष्णव शब्दों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। सन्त शब्द का प्रयोग केवल "निर्गुणियाँ" कहलाने वाले सन्त-कवि वर्ग से ही लिया गया है। प्रेममार्गी सूफी कवि सन्त कवियों में सम्मिलित नहीं किए गए अतएव सन्तकवियों से मेरा तात्पर्य कबीर, दादू, नानक आदि कवियों से है। वैष्णव कवि भी सन्तकवि कहे जा सकते हैं और कतिपय आलोचक सन्त एवम् वैष्णव—यह विभाजन स्वीकार नहीं करते, किन्तु मैंने कई कारणों से, वैष्णव कवियों और सन्त कवियों का अलग-अलग विवेचन किया है। अतएव 'तन्त्र' शब्द की तरह 'सन्त' और 'वैष्णव' शब्दों का इस शोध में स्वीकृत अर्थ स्मरणीय है।

साधनाओं में, थोड़ी बहुत भिन्नता रहने पर भी, अद्भुत सादृश्य मिलता है। शक्तिवाद, आराध्य की कृपा, कुण्डलिनी योग, शक्ति सहित देवता के रूप, वज्र वाहन, अस्त्र-शस्त्र, तथा मूर्ति के ध्यान द्वारा आराध्य के साथ तादात्म्य, मंत्र, मुद्रा, यन्त्र, गुरु की महत्ता आदि अनेक तत्व सभी तन्त्रों में समान रूप से मिलते हैं। सभी तन्त्र एक स्वर से समाज की स्थूल नैतिकता, संकीर्णता तथा बाह्याचार के विरोधी हैं। सभी तन्त्रों में राग को साधना का माध्यम बताया गया है। इन समानताओं को देखकर यह अनुमान असंगत नहीं है कि ईसा की षष्ट शताब्दी के बाद, एक ही तांत्रिक साधना विभिन्न सम्प्रदायों में प्रस्फुटित हुई है और नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र तथा पुरातत्व की सहायता से यह भी कहा जा सकता है कि यह साधना प्राचीन है, यहाँ तक कि वैदिक युग से भी पूर्व इसके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

इस तांत्रिक साहित्य और साधना का प्रभाव हिन्दी के सन्त-वैष्णव-काव्य पर बहुत अधिक दिखाई पड़ता है। इस प्रबन्ध में इस प्रभाव के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

तान्त्रिक प्रभाव का स्वरूप सन्त और वैष्णव-काव्य पर भिन्न-भिन्न प्रकार का है, उदाहरणार्थ सन्त सम्प्रदाय के कवियों ने तान्त्रिकों के कुण्डलिनीयोग को वाणी दी है। तान्त्रिकों के ही अनुसार सन्तकवि अपने समय की सामाजिक व्यवस्था के कठोर आलोचक हैं, वे एक स्वर से बाह्याचार विरोधी हैं। तंत्रमत की तरह ही सन्तमत भी गुरुवादी है। सन्तों की भक्ति, योग व ज्ञान-मूलक हैं, वह कोई बन्धन स्वीकार नहीं करती। तान्त्रिकों की ही तरह सन्तकवि सहज जीवन के प्रतिष्ठापक हैं।

तान्त्रिक प्रभाव के परिणाम स्वरूप वैष्णव काव्य में शक्तिवाद, शक्तिसहित देवता की उपासना, नाम या मन्त्रसाधना, गुरुमहिमा, रागात्मिकाभक्ति तथा अपनी शक्तियों के साथ भगवान की रतिलीलाओं का ध्यान आदि प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं। कृष्ण-सम्प्रदाय तथा रामभक्ति में रसिकसम्प्रदाय के कवियों पर शैवशाक्तागमों के शक्ति शक्तिमान की मधुर क्रीडा राधा-कृष्ण या सीता-राम के विलास-वर्णन के रूप में मुखरित हुई है।

उक्त सन्त-वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव में कुछ सादृश्य भी है तथापि उपर्युक्त भिन्नताओं को देखकर ही सन्त और वैष्णव भक्त-ऐसा विभाजन स्वीकार किया गया है। यों इन दोनों सम्प्रदायों में भक्ति, नाम साधना, गुरुतत्व आदि सामान्य तत्त्व हैं तथापि सन्तों की भक्ति व वैष्णवों की भक्ति में

तात्विक अन्तर है। सन्तो की भक्ति ज्ञान व योगमूलक है जबकि अधिकाश भक्तो ने योग व ज्ञान का उपहास किया है। सन्तकवि देवता के रूप को स्वीकार नहीं करते किन्तु नाम को मानते हैं, जबकि भक्तकवि नाम और रूप दोनो के विश्वासी हैं, सामाजिक व्यवस्था के प्रति भी दोनो के दृष्टिकोण भिन्न है। अत: सामान्य विभाजन स्वीकार न करके, विशिष्ट विभाजन ही इस प्रबन्ध में स्वीकार किया गया है।

इस प्रबन्ध मे छ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय तान्त्रिकधारा के विकास मे सम्बधित है। प्राग्वैदिक युग से लेकर तान्त्रिक युग के पूर्व तक इस साधना के विकास को समझने का प्रयत्न किया गया है। तान्त्रिक परम्परा अपने विशिष्ट और निश्चित रूप धारण करने के पूर्व किन-किन रूपो मे मिलती है, इस अध्याय मे यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त-वैष्णव काव्य मे व्यक्त धारणाओ, कल्पनाओ, देवी-देवताओ तथा मानवीय सम्बन्धो का रूप पहले क्या रहा है और कहाँ-कहाँ से किस रूप मे आकर नाना उपकरण मध्ययुग की काव्य-सामग्री का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार विचार करने पर सन्त-वैष्णव काव्य सस्कृति के एक अभिन्न अग के रूप मे कार्य करता हुआ दिखाई पडता है और समाज व सस्कृति के क्षेत्र मे उसकी भूमिका स्पष्ट हो जाती है। यह सर्वविदित तथ्य है कि हमारे समाज व सस्कृति का इतिहास प्रामाणिक रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सका है, फिर भी वैदिक आर्यों के यज्ञयाग के समानान्तर विकसित तान्त्रिक परम्परा का एक क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

द्वितीय अध्याय मे तान्त्रिक सम्प्रदायो के दर्शन और साधना का सक्षिप्त विवरण दिया गया है। इस अध्याय मे भी विकास पर ध्यान दिया गया है और उन्ही तत्वो पर अधिक प्रकाश डाला गया है जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे सन्त-वैष्णव-काव्य पर प्रभाव पडा है। सन्त-वैष्णव काव्य की तान्त्रिक पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाय, इस अध्याय का यही प्रयोजन है।

तृतीय अध्याय मे सन्तकाव्य का विकास और विवरण है। विकास प्रस्तुत करते समय सन्तकाव्य को निरपेक्ष रूप मे न लेकर उसे सम्पूर्ण समाज और उसके अनुरूप सस्कृति के अभिन्न अग के रूप मे स्वीकार किया गया है। तान्त्रिक परम्परा मे विकसित होने के कारण सन्तकाव्य के सामाजिक योगदान पर भी प्रकाश डाला गया है।

सन्त कवियो और उनकी रचनाओ का विवरण जो इस अध्याय मे प्रस्तुत

साधनाओं में, थोड़ी बहुत भिन्नता रहने पर भी, अद्भुत सादृश्य मिलता है। शक्तिवाद, आराध्य की कृपा, कुण्डलिनी योग, शक्ति सहित देवता के रूप, अस्त्र वाहन, शस्त्र-अस्त्र, तथा मूर्ति के ध्यान द्वारा आराध्य के साथ तादात्म्य, मंत्र, मुद्रा, यन्त्र, गुरु की महत्ता आदि अनेक तत्व सभी तन्त्रों में समान रूप से मिलते हैं। सभी तन्त्र एक स्वर से समाज की स्थूल नैतिकता, संकीर्णता तथा बाह्याचार के विरोधी हैं। सभी तन्त्रों में राग को साधना का माध्यम बनाया गया है। इन समानताओं को देखकर यह अनुमान असंगत नहीं है कि ईसा की छठ शताब्दी के बाद, एक ही तान्त्रिक साधना विभिन्न सम्प्रदायों में प्रस्फुटित हुई है और नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र तथा पुरातत्व की सहायता से यह भी कहा जा सकता है कि यह साधना प्राचीन है, यहाँ तक कि वैदिक युग से भी पूर्व इसके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

इस तान्त्रिक साहित्य और साधना का प्रभाव हिन्दी के सन्त-वैष्णव-काव्य पर बहुत अधिक दिखाई पड़ता है। इस प्रबन्ध में इस प्रभाव के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

तान्त्रिक प्रभाव का स्वरूप सन्त और वैष्णव-काव्य पर भिन्न-भिन्न प्रकार का है, उदाहरणतः सन्त सम्प्रदाय के कवियों ने तान्त्रिकों के कुण्डलिनीयोग को वाणी दी है। तान्त्रिकों के ही अनुसार सन्तकवि अपने समय की सामाजिक व्यवस्था के कठोर आलोचक हैं, वे एक स्वर से बाह्याचार विरोधी हैं। तंत्रमत की तरह ही सन्तमत भी गुरुवादी है। सन्तों की भक्ति, योग व ज्ञान-मूलक है, वह कोई बन्धन स्वीकार नहीं करती। तान्त्रिकों की ही तरह सन्तकवि सहज जीवन के प्रतिष्ठापक हैं।

तान्त्रिक प्रभाव के परिणाम स्वरूप वैष्णव-काव्य में शक्तिवाद, शक्तिसहित देवता की उपासना, नाम या मंत्रसाधना, गुरुमहिमा, रागात्मिकाभक्ति तथा अपनी शक्तियों के साथ भगवान की रतिलीलाओं का ध्यान आदि प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं। कृष्ण-सम्प्रदाय तथा रामभक्ति में रसिकसम्प्रदाय के कवियों पर शैवशाक्तागमों के शक्ति-शक्तिमान की मधुर क्रीडा राधा-कृष्ण या सीता-राम के विलास-वर्णन के रूप में मुखरित हुई है।

उक्त सन्त-वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव में कुछ सादृश्य भी हैं तथापि उपर्युक्त भिन्नताओं को देखकर ही सन्त और वैष्णव भक्त—ऐसा विभाजन स्वीकार किया गया है। यों इन दोनों सम्प्रदायों में भक्ति, नाम साधना, गुरुतत्व आदि सामान्य तत्व हैं तथापि सन्तों की भक्ति व वैष्णवों की भक्ति में

तात्विक अन्तर है। सन्तों की भक्ति ज्ञान व योगमूलक है जबकि अधिकांश भक्तों ने योग व ज्ञान का उपहास किया है। सन्तकवि देवता के रूप को स्वीकार नही करते किन्तु नाम को मानते हैं, जबकि भक्तकवि नाम और रूप दोनो के विश्वासी हैं, सामाजिक व्यवस्था के प्रति भी दोनो के दृष्टिकोण भिन्न हैं। अतः सामान्य विभाजन स्वीकार न करके, विशिष्ट विभाजन ही इस प्रबन्ध मे स्वीकार किया गया है।

इस प्रबन्ध मे छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय तान्त्रिकधारा के विकास से सम्बन्धित है। प्राग्वैदिक युग से लेकर तान्त्रिक युग के पूर्व तक इस साधना के विकास को समझने का प्रयत्न किया गया है। तान्त्रिक परम्परा अपने विशिष्ट और निश्चित रूप धारण करने के पूर्व किन-किन रूपो मे मिलती है, इस अध्याय मे यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त-वैष्णव काव्य मे व्यक्त धारणाओ, कल्पनाओ, देवी-देवताओ तथा मानवीय सम्बन्धो का रूप पहले क्या रहा है और कहाँ-कहाँ से किस रूप मे आकर नाना उपकरण मध्ययुग की काव्य-सामग्री का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार विचार करने पर सन्त-वैष्णव-काव्य संस्कृति के एक अभिन्न अंग के रूप मे कार्य करता हुआ दिखाई पडता है और समाज व संस्कृति के क्षेत्र मे उसकी भूमिका स्पष्ट हो जाती है। यह सर्वविदित तथ्य है कि हमारे समाज व संस्कृति का इतिहास प्रामाणिक रूप मे प्रस्तुत नहीं किया जा सका है, फिर भी वैदिक आर्यों के यज्ञयाग के समानान्तर विकसित तान्त्रिक परम्परा का एक क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

द्वितीय अध्याय मे तान्त्रिक सम्प्रदायो के दर्शन और साधना का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इस अध्याय में भी विकास पर ध्यान दिया गया है और उन्ही तत्वों पर अधिक प्रकाश डाला गया है जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे सन्त-वैष्णव-काव्य पर प्रभाव पडा है। सन्त-वैष्णव काव्य की तान्त्रिक पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाय, इस अध्याय का यही प्रयोजन है।

तृतीय अध्याय मे सन्तकाव्य का विकास और विवरण है। विकास प्रस्तुत करते समय सन्तकाव्य को निरपेक्ष रूप मे न लेकर उसे सम्पूर्ण समाज और उसके अनुरूप संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। तान्त्रिक परम्परा मे विकसित होने के कारण सन्तकाव्य के सामाजिक योगदान पर भी प्रकाश डाला गया है।

सन्त कवियों और उनकी रचनाओं का विवरण जो इस अध्याय मे प्रस्तुत

किया गया है उसमें केवल मुख्य सन्त कवियों का ही उल्लेख किया गया है। विवरण अधिकांशतः डा० रामकुमार वर्मा के "आलोचनात्मक इतिहास" पर आधारित है। "उत्तरभारत की सन्त-परम्परा" में सन्त कवियों का पूर्ण विवरण मिलता है। सन्तकवियों और उनकी रचनाओं की सूचियाँ प्रस्तुत करना मेरे इस कार्य के लिए अनावश्यक था।

चतुर्थ अध्याय में सन्तकाव्य पर तान्त्रिक प्रभाव का अध्ययन किया गया है। स्वभावतः तृतीय अध्याय से यह अध्याय अधिक विस्तृत है, क्योंकि तृतीय अध्याय इस अध्याय का सहायक अध्याय है। दर्शन, साधना तथा अभिव्यंजना पद्धति इन तीन मुख्य क्षेत्रों पर तान्त्रिक प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। साधना में गुरु, दीक्षा, मंत्र, आचार आदि तत्वों पर तान्त्रिक प्रभाव का स्वरूप निर्देशित किया गया है।

पंचम अध्याय वैष्णव-काव्य के विकास से सम्बन्धित है। इस अध्याय में विवेच्यकाल के कवियों और उनकी रचनाओं का ही विवरण दिया गया है। हिन्दी भाषा-क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में भी वैष्णवों ने हिन्दी में रचनाएँ की हैं किन्तु हिन्दी-वैष्णव-काव्य तक ही मैंने अपने को सीमित रखा है।

षष्ठ अध्याय में वैष्णव काव्य में व्यक्त दर्शन, साधना व कथन पद्धति आदि पर तान्त्रिक प्रभाव का स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। सुविधा के लिए उप-सम्प्रदायों पर अलग-अलग विचार किया गया है।

प्रबन्ध की मौलिकता के विषय में वास्तविक निर्णय तो अधिकारी विद्वान ही करेंगे, तथापि इस सम्बन्ध में यह निवेदन किया जा सकता है।

१ हिन्दी भाषा में प्रथम बार तान्त्रिक धारा को क्रम-बद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

२ तान्त्रिक साहित्य पर उपलब्ध सामग्री के साथ मूल ग्रन्थों का भी अध्ययन करके तान्त्रिक सम्प्रदायों के उस पक्ष को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसका प्रभाव सन्त-वैष्णव-काव्य पर पड़ा है।

३ इस प्रबन्ध में यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्तकाव्य में व्यक्त कुंडलिनीयोग वस्तुतः तान्त्रिक योग है। सन्तमत की परमतत्व व जगत् से सम्बन्धित धारणाएँ तान्त्रिक बौद्धमत से सादृश्य रखती हैं। शून्य, सहज, कायासिद्धान्त, चक्रसिद्धान्त, समरसावस्था आदि तत्व बौद्ध व शैव परम्पराओं से लिए गये हैं। कबीरपन्थ का चौकाविधान, तान्त्रिकों की चक्र-साधना का अनुकरण है। सन्तों की कथनपद्धति ही तान्त्रिक नहीं है, अपितु उनकी आलोचनात्मक दृष्टि पर भी तान्त्रिक प्रभाव प्रमाणित होता है।

४ इस प्रबन्ध मे यह प्रमाणित होता है कि वैष्णव काव्य मे व्यक्त दर्शन आगमो पर आधारित है। भक्तकवियो की युगल-उपासना तान्त्रिको की यामल-उपासना से प्रेरित है। कृष्ण व राम के राधा और सीता के साथ नित्यविहार की कल्पना पर आगमो के शक्ति-शक्तिमान के विहार का प्रभाव है। भक्तकवियो का नामजप, गुरुतत्व तथा मूर्ति उपासना आगममूलक है। भक्ति के क्षेत्र मे सभी जातियों को समानाधिकार देने की प्रवृत्ति तथा मधुराभक्ति के क्षेत्र मे मर्यादा की उपेक्षा की प्रवृत्ति पर तान्त्रिक प्रभाव प्रमाणित होता है।

अन्त मे यह कहना आवश्यक है, कि इस शोध मे मै जिन परिणामो पर पहुँचा हूँ, उनसे "परम सन्त" और "परम वैष्णव" लेखक कभी सहमत न होगे क्योंकि साम्प्रदायिक बुद्धि यह स्वीकार नही कर सकती कि उसके सम्प्रदाय पर किसी अन्य सम्प्रदाय का प्रभाव पडा है अथवा उसके निर्माण की प्रक्रिया मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अन्य तत्व भी सहायक रहे हैं। किन्तु मुझे आशा यह है, कि जो पाठक साहित्य, धर्म, दर्शन आदि को समाज के आधारभूत प्रवाह के साथ सन्निविष्ट रूप मे विकसित होता हुआ देख सकते है, उन्हे मेरे इस अध्ययन से अवश्य प्रसन्नता होगी। किसी व्यक्ति, संस्था अथवा सम्प्रदाय की चेतना, अपने युग के अन्य चेतनाप्रवाहो से स्वत: प्रभावित होती है। ईसा की षष्ठ शताब्दी के पश्चात् भारतीय धर्म और साधना तान्त्रिक तत्वों से इस प्रकार बुनी हुई लगती है, कि उन तत्वो को अलग करके देखने पर हमे आश्चर्य होता है।

मेरी इस शोध के पश्चात् श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय का लोकायत नामक ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा मे प्रकाशित हुआ है जिसमे तान्त्रिक मत की उत्पत्ति के विषय मे कृषीय आधार (एग्रीकल्चरल बेसिस) को मुख्य माना गया है किन्तु मैं तान्त्रिक साधना का सम्बन्ध आदिम कबीलो से मानता हूँ, अत: मुझे लोकायत के बाद भी अपनी शोध मे संशोधन करने का कोई कारण नही मिला।

यह प्रबन्ध आगरा विश्व विद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए पूज्य पं० जगन्नाथ तिवारी जी के निरीक्षण मे तैयार किया गया था। सम्पूर्ण भारतीय साधना मे तन्त्र-साहित्य एक अनन्त अरण्य के समान सबसे अधिक दुर्गम और गुह्य है। शताब्दियो मे निर्मित इस साहित्य से हमारा सन्त-वैष्णव-काव्य भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रभावित हुआ है, यह समझ लेना मेरे लिए असम्भव था, यदि पग-पग पर पूज्य पण्डित जी का मुझे पथ-प्रदर्शन न मिलता अत: इस अवसर पर सर्व प्रथम मैं गुरु-चरणो का स्मरण करता हूँ—

भवत्पादाम्बुजे स्थित्वा गम्या मे विद्यते गतिः ।

पूज्य पं० कैलाशचन्द्र मिश्र के चरणों में बैठ कर मैंने दो वर्ष तक कई ग्रंथों का अध्ययन किया है। इस प्रबन्ध में तांत्रिक सम्प्रदायों का मूल ग्रंथों के आधार पर विवरण प्रस्तुत करना मेरे लिए असम्भव हो जाता, यदि पूज्य मिश्रजी का अनुग्रह मुझे प्राप्त न होता। श्रद्धेय मिश्रजी साक्षात् सूर्य हैं, जिनके सन्निधान से बुद्धि का अंधकार नष्ट हो जाता है और वह सूर्यकान्तमणिवत् धग् से प्रज्वलित हो जाती है—

ध्वस्तसान्द्रान्धकारस्य, सन्निधानाद् विवस्वतः
धगिति प्रज्वलत्पुञ्चं सूर्यकान्तमणिर्यथा ।

ऐसे महान आचार्य के प्रति शब्दों द्वारा आभार-प्रदर्शन असम्भव है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सिद्धाचार्य नारायण स्वामी, डा० महादेव साहा तथा डा० शशिभूषणदास गुप्त द्वारा मुझे अमूल्य सुझाव प्राप्त हुए हैं। डा० सत्येन्द्र जी ने भी मेरी बड़ी सहायता की है, अत इस अवसर पर मैं इन सब विद्वानों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।

पं० उदयशंकर शास्त्री ने मुझे कुछ दुर्लभ सामग्री प्रदान कर इस अध्ययन को सम्भव बनाया है, एतदर्थ उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के यदि प्रकाशन से पूर्व सुझाव प्राप्त न होते तो इस अध्ययन को इस रूप में प्रकाशित करना असम्भव हो जाता। अत ये आचार्य द्वय धन्यवाद के पात्र हैं।

इतिहास-विशेषज्ञ डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने इस ग्रन्थ को पढ़ने की कृपा की है। कई महत्वपूर्ण तथ्यों और उनकी व्याख्या के लिए उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

मेरे प्रिय शिष्य प्रो० कुन्दनलाल उप्रेती ने इस ग्रन्थ को प्रकाशन योग्य बनाने मे घोर श्रम किया है, उन्हें इस ग्रन्थ के प्रकाशन से ही विकट प्रसन्नता होगी अतः धन्यवाद देना व्यर्थ ही लग रहा है।

मैंने इस ग्रन्थ मे जिन पुस्तको से सहायता ली है, उनके लेखको के प्रति मैं अत्यधिक आभारी हूँ। स्थानाभाव से पुस्तको की सूची मे सभी ग्रन्थो और लेखकों का उल्लेख भी नही हो पाया है।

मैं इस अवसर पर श्रीयुत भोलानाथ अग्रवाल, श्री राजकिशोर अग्रवाल (जिनका मेरे दुर्भाग्यवश स्वर्गवास होगया है और जो इस ग्रंथ को प्रकाशित रूप मे न देख पाए) एवं श्री विनोदकुमार अग्रवाल के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ, जिनके प्रयत्न से यह ग्रन्थ प्रकाशित होरहा है।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

१

आविर्भाव और विकास

तंत्र शब्द की व्याख्या—तन्त्र शब्द का सामान्य अर्थ इस प्रकार है—तन्=विस्तार, तन्यते=विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तंत्रम् (काशिका), जिससे ज्ञान का विस्तार हो, वह तंत्र है। इस अर्थ में ज्ञान की सभी शाखाएँ अन्तर्मुक्त हो जाती है। इसीलिए न्याय तंत्र, सांख्य तंत्र, चिकित्सा तंत्र आदि प्रयोग प्रचलित रहे है।[1]

तंत्र के सामान्य अर्थों में एक अर्थ यह है, तत्र=विश्वास करना। इस व्युत्पत्ति से तंत्र का अर्थ है विश्वास का साधन। अतः तंत्र का अर्थ उपासकों के उन पवित्र शास्त्रों से है जिनमें देवी की पूजा की विधियों आदि का वर्णन किया गया है। इस अर्थ में 'विश्वास करना' इतना अर्थ तो सामान्य है परन्तु देवी की पूजा में विश्वास करना, देवी-पूजा-सम्बन्धित शास्त्रों में विश्वास करना, यह तंत्र का विशेष अर्थ है, जो सर्व स्वीकृत है।[2] वाचस्पति, आनन्दगिरि तथा गोविन्दनाथ तंत्रि या तंत्रि धातु से व्युत्पाद (ओरिजिनेशन) या ज्ञान

---

१ एस० बी० दास गुप्ता: एन इन्ट्रोडक्शन आफ् तान्त्रिक बुद्धिज्म पृ० १, २ कलकत्ता।

२ एस० एन० दास गुप्ता. फिलोसोफीकल एसेज पृ० १५२, कलकत्ता।

अर्थ लेते हैं।[1] परन्तु तन् शब्द से विस्तार (इक्स्पान्शन) अर्थ ही अधिक प्रचलित है।[2] पिंगलामत तन्त्र में तन्त्र को आगम कहा गया है और आगम का अर्थ इस प्रकार किया गया है। आगम वह शास्त्र है जिनसे सभी सिद्धान्त उत्पन्न हुए हैं और जो शिव के मुख से नि:सृत हैं। ये शास्त्र गुरुशिष्य-परम्परा द्वारा छन्दोबद्ध रूप में प्रचलित हैं।[3]

पिंगलामत तन्त्र की यह परिभाषा तन्त्र के विशेष अर्थ की सूचक है। तन्त्र शिव या शक्ति के वार्ता रूप में कहे गए हैं। बौद्ध तन्त्रों में भी गौतम बुद्ध व साधकों के वार्तालाप रूप में ही तन्त्र मिलते हैं। हिन्दू तन्त्रों में सर्वदा शिव या शक्ति ही उपदेश देते दिखाई पड़ते हैं। इन तन्त्रों में शक्ति पूजा या शिव पूजा के अतिरिक्त ज्योतिष, रसायन, सृष्टि-विज्ञान आदि अनेक विषयों का वर्णन मिलता है। इसीलिए तंत्र का सामान्य अर्थ 'ज्ञान का विस्तार' लिया जाता है परन्तु तन्त्र शब्द के विशेष अर्थ में वेदों से भिन्न उस शास्त्र का अर्थ लिया जाता है जिसमें शक्ति धनात्मक, ऋणात्मक अथवा पुरुष व स्त्री शक्ति-पूजा का वर्णन हो। इसमें पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता के द्वारा सिद्धि व मुक्ति प्राप्त करने की विधि वर्णित है।[4] पुरुषशक्ति व स्त्री शक्ति की एकता के लिए तन्त्रों में योग, उपासना, चक्र, मन्त्रादि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार तन्त्र शब्द का विशेष अर्थ उस शास्त्र-समूह से है जिसमें पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता के उपायों का वर्णन होता है।

तन्त्रों में देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का वर्णन मिलता है। इनमें देवता विषयक मन्त्र मिलते हैं। उपासना के पाँचों अंग—पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र की व्यवस्था मिलती है।[5]

धर्म व विश्वकोश में तन्त्र शब्द के अर्थ का विकास भी समझाया गया है।

---

१ एस० एन० दास गुप्ता फिलोसोफीकल एसेज पृ० १५२ कलकत्ता।
२ तन्यते तन्यते तन्त्रा लोक नाम्न्यत्र शासने—तन्त्रालोक—प्रथम आह्निक पृ० २८। संस्कृत सीरीज, श्रीनगर, काश्मीर (जिल्द १)
३ कामलीफ मैन्स्क्रिप्टेड मैन्युस्क्रिप्ट, हरप्रसाद शास्त्री, वी० टू, प्रीफेस पृ० २२ कलकत्ता।
४ एस० बी० दास गुप्ता पृ० ३, ११०, ११३ तथा १२६।
५ बलदेव उपाध्याय बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ४१७ प्रथम संस्करण बनारस १९४६।

तंत्र का प्रथम अर्थ बुनना या आवरण था, पुनः उसका अर्थ निरन्तर रूप से होने वाली धार्मिक क्रिया हुआ। तत्पश्चात् तंत्र शब्द उन शास्त्रों के अर्थ में प्रचलित हो गया जिसमें तान्त्रिक सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। चिंतामणि भट्टाचार्य के अनुसार तंत्र से अभिप्राय उस शास्त्र से है जिसे शिवजी ने पार्वती के सम्मुख प्रकट किया था। क्योंकि कलियुग में वेद मंत्र कुण्ठित हो जाते है, यज्ञ योग का अवसर नहीं मिलता है। अतः एक नवीन शास्त्र की आवश्यकता समझ कर मुक्ति व भुक्ति दोनों की सरलता के साथ प्राप्ति कराने के लिए तंत्रो को प्रकट किया गया।[1] शिव के मुख से आने से तंत्र को आगम (आगच्छतीति आगमः) कहा जाता है। अथवा इन्हे निगम भी कहा जा सकता है क्योंकि शिव के लिए ये शास्त्र गिरजा के मुख से निकले थे। निर्गच्छतीति निगमः।

अभिनवगुप्त के अनुसार तंत्र का अर्थ "प्रसिद्धि-शास्त्र" है। प्रसिद्धि का अर्थ है भोग व अपवर्ग के लिए भैरव शिव द्वारा प्रकाशित विद्या! और इस पारमेश्वरी विद्या का जिन शास्त्रो मे वर्णन मिलता है वे शास्त्र आगम कहलाते है। अतः जिन जिन शास्त्रों के सम्बन्ध मे यह प्रसिद्धि हो कि गुरु शिष्य परम्परा से वे शिव द्वारा प्रकाशित होकर प्रचलित है, वे आगम कहलाते है।[2]

आगमो मे गुरु-शिष्य-परम्परा तथा साक्षात्कृत अनुभव को ही प्रमाण माना गया है। श्रुति का प्रामाण्य यहाँ सर्वत्र नही मिलता। इसका अर्थ यह नही कि आगम शास्त्र अप्रमाणिक है, क्योंकि प्रमाण के अभाव मे प्रमेय का अभाव नहीं माना जा सकता। अनिन्दनीय शास्त्र होने से तथा आप्त वाक्य होने से ये आगम प्रामाणिक माने जाते है।[3]

इस प्रकार शिव व शक्ति के संघट्ट (यामल) के लिए नाना साधनाओं का जिन शास्त्रो मे वर्णन है, वे ही आगम या तन्त्रशास्त्र कहलाते है। पुरुष शक्ति की प्रधानता से शैव तंत्र तथा स्त्री शक्ति की प्रधानता से ये शाक्ततंत्र कहलाते

---

१ सम्पादक चिंतामणि भट्टाचार्य मातृकाभेदतंत्रम्, भूमिका, कलकत्ता, १९३३।

२ तंत्रालोक. ३५ आ० पृ० ३५६, जिल्द १२।

३ अविगीतत्वं हि प्रसिद्धिरागम · तंत्रालोक-प्रथम आ० पृ० ४६, जिल्द १।

हैं। बौद्ध तंत्रों में भी पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता ही प्रतिपादित है। पांचरात्र आगमों में भी पुरुष शक्ति के साथ स्त्री शक्ति की प्रतिष्ठा का विधान मिलता है अतः शैव, शाक्त, पांचरात्र तथा बौद्ध इन नामों से तन्त्र प्रसिद्ध हैं।

यद्यपि हिन्दू (शैव, शाक्त, पांचरात्र) तथा बौद्ध तंत्रों में वर्णित शक्ति साधना की विधियों में अन्तर प्रतीत होता है परन्तु तंत्र की मूल एकता अर्थात् पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता सभी तन्त्रों में प्रतिष्ठित है। तंत्रों के विश्वास के अनुसार अद्वैत चिन्मय सत्ता में ही प्रवृत्ति व निवृत्ति अर्थात् पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति के भेद हो जाते हैं, जिनकी एकता से पुनः अद्वय चिन्मय सत्ता की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। हिन्दू तंत्रों में शिव शक्ति, विष्णु व लक्ष्मी तथा बौद्ध तन्त्रों में उपाय व प्रज्ञा, पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति के नाम है। अतः तंत्र अपने मूल अर्थ में एक और अविभाज्य है।

तंत्र का अर्थ स्पष्ट कर लेने के पश्चात् अब यह देखना चाहिए कि शिव-शक्ति की एकता के लिए जिन सिद्धान्तों तथा साधनाओं का वर्णन तंत्रों में मिलता है, उनका विकास किस प्रकार हुआ। तंत्रों में अनेक वेद विरोधी क्रियाओं का वर्णन मिलता है और इन क्रियाओं को तन्त्रों में प्रामाणिक माना गया है। अतः तंत्रों के विकास पर विचार करते समय प्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ये साधनाएँ वेदों के अतिरिक्त किस स्रोत से आई है। विद्वानों का विचार है कि तन्त्रों में वेदों से पूर्व के युगों में प्रचलित जनता के विश्वासों को स्वीकार कर लिया गया है। इस अनुमान की पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण अवश्य मिलते है। कुब्जिका तन्त्र में कहा गया है कि तन्त्र के प्रचार के लिए भारत देश में जाना चाहिए।[1] सम्मोहन तन्त्र में कहा गया है कि महानील सरस्वती की सहायता से ही ब्रह्मा वेद पढ़ते हैं। मेरु पर्वत के पश्चिम में नीलोग्रतारा देवी चोल नामक झील में रहती है। मेरु के उत्तर में अक्षोभ मुनि का निवास है, वह ही साक्षात् महादेव है। उन्होंने प्रथम महानील सरस्वती देवी की साधना की थी, यह देवी प्रलय के समय चीन देश में अवतरित हुई थी।[2] इन कथाओं

---

१ गच्छ त्वं भारतेवर्षे अधिकाराय च सर्वतः
हर प्रसाद शास्त्री : कैटालॉग आफ दरबार लाइब्रेरी, पृष्ठ ५६ नेपाल।

२ पी० सी० बागची : ग्रीन सम तांत्रिक टेक्स्ट्स स्टडीज इन एनसियेन्ट कम्बोज, पार्ट १ कलकत्ता।

से कम से कम इतना स्पष्ट होता है कि कतिपय तांत्रिक तत्व बाहर से भी आगे हैं।

प्रागैतिहासिक विभिन्न संस्कृतियों में तांत्रिक तत्व—इस प्रबन्ध में पूर्व वैदिक युग के लिए "प्रागैतिहासिक युग" शब्द का प्रयोग किया जाएगा। प्रागैतिहासिक युग में मिश्र देश (६००० ई० पूर्व) सुमेर देश (५००० ई० पू०) तथा पश्चिमी एशिया के देशों में शक्ति-उपासना के बहुत से प्रमाण मिलते हैं। मिश्र देश में रा, होरस, ओसिरस, रमु, अमेन, सेत आदि देवताओं के साथ आइसिस देवी की पूजा का बहुत अधिक प्रचार था। ग्रीक में यही देवी इओ के नाम से प्रसिद्ध हुई। देवी देवताओं को बलि देने का विधान उस काल में प्रचलित था। इन देवी देवताओं की मूर्तियों में अर्द्ध मनुष्य और अर्द्ध पशु की मिश्रित मूर्तियां मिलती हैं।[१]

सुमेर देश में इश्तर तथा बालजबल आदि देवियां की पूजा का प्रचार था। इनके अतिरिक्त जरमनित देवी तथा तममित देवी क्रमशः उत्पत्ति और वृद्धि की देवियां मानी जाती थी।[२]

बलि, मंत्र तथा मुक्त यौन-सम्बन्धों द्वारा इन देवी देवताओं की पूजा प्रागैतिहासिक युग में प्रचलित थी।[३] वामाचार के अतिरिक्त प्रार्थनाओं और विभिन्न द्रव्यों से देवी देवताओं की उपासना भी प्रचलित थी। इन देवी देवताओं में बहुत से प्रेत, राक्षस आदि की भी पूजा की जाती थी।[४]

पिंड-ब्रह्माण्ड-कल्पना—यह आश्चर्य का विषय है कि प्रागैतिहासिक युग में ही पिंड ब्रह्मांड की कल्पना हो चुकी थी। सुमेरियन विश्वासों के अनुसार पृथ्वी पर काल की क्रीडा स्वर्गीय घटनाओं का प्रतिबिम्ब मात्र है। शरीर में यकृत ही बुद्धि का क्षेत्र है, पशु की बलि देते समय उसके यकृत में स्थित देवता के विचारों का पता लगाया जा सकता है।[५]

---

१ हिस्टोरियन्स हिस्ट्री आफ द वर्ल्ड, लन्दन, जिल्द १, पृ० २१६ से २२४

२ वही पृष्ठ ३०६ से ५२१ तक। तथा एनसियेंट हिस्ट्री आफ वेस्टर्न एशिया, इन्डिया एण्ड क्रीट, प्रोफे० बी० ह्राजनी, न्यूयार्क (सेक्शन सुमेर अक्कादियन सिविलीजेशन)

३ वही।

४ वही।

५ प्रो० ह्राजनी, सेक्शन सुमेर अक्कादियन सिविलीजेशन।

गुरु—प्रागैतिहासिक युग में गुरु का महत्व तांत्रिक सम्प्रदायों के समान ही स्वीकृत था। इश्तार देवी की उपासना में स्त्री गुरुओं व स्त्री शिष्याओं की अधिकता थी।[1]

सुमेरियन सभ्यता में जादू व मंत्र का प्रयोग अधिक होता था। प्रेत व राक्षसग्रस्त व्यक्तियों के शरीर से धर्मपुरोहित मंत्रों द्वारा राक्षसों व प्रेतादि को भगा देते थे। जादू के बीज मंत्रों को मिट्टी के टुकड़ों पर लिखा जाता था जिन्हें तांत्रिक साहित्य में यंत्र कहा गया।

हत्ती या हिट्टायट भाषा में प्राप्त धर्म में भी बहुत से तांत्रिक तत्व मिलते हैं। हत्ती भाषा में १६०० ई० पूर्व के आस पास यज्ञों का प्रचार हुआ था। सम्भवत: उस समय तक हत्ती प्रदेश में आर्य कबीले आ चुके थे। इसलिए हत्ती प्रदेश में आर्यों ने १६०० ई० पूर्व के आस पास यज्ञ धर्म का प्रचार किया। किन्तु इससे पूर्व हत्ती प्रदेश में धर्म का वही स्वरूप मिलता है जो मिस्र और सुमेर देश के प्राचीन धर्मों में मिलता है।[2]

सिन्धु सभ्यता में तांत्रिक तत्व—प्रो० ह्राजनी के अनुसार सिन्धु घाटी पर २००० ई० पू० के आस पास द्रविड़ों का आक्रमण हुआ और १६०० ई० पू० के पश्चात् सिन्धु घाटी पर प्रारम्भिक आर्यों का आक्रमण हुआ। इस प्रकार वैदिक आर्यों के आने से पूर्व अर्थात् १५०० ई० पूर्व के पूर्व सिन्धु घाटी में प्रारम्भिक भारतीय धर्म का विकास हो चुका था जिसमें द्रविड़ों और प्रारम्भिक आर्यों के विश्वास भी मिलते हैं। १४०० ई० पू० के आस पास वैदिक आर्यों का आक्रमण सिन्धु घाटी पर हुआ था। इसीलिए वैदिक देवताओं में बहुत से देवताओं को वैदिक आर्यों ने सिन्धु सभ्यता के देवताओं से या तो उधार लिया है या उन्हीं के आधार पर इन्द्र, उषा, वरुण, विष्णु आदि देवताओं का विकास किया है।[3] प्रो० ह्राजनी का यह शोध चमत्कारक है। उन्होंने सिन्धु घाटी की लिपि को ठीक ठीक पढ़ने का दावा किया है। जो हो, ह्राजनी की शोध से यह तथ्य अवश्य स्पष्ट होता है कि सिन्धु सभ्यता वैदिक युग से पूर्व की सभ्यता है और उसमें वैदिक विश्वासों के साथ बहुत से अवैदिक अविश्वास भी मिलते हैं। इन अवैदिक विश्वासों के साथ मिस्र, सुमेर, तथा पश्चिमी एशिया के विश्वासों के साथ अद्भुत सादृश्य मिलता है।

---

१ प्रो० ह्राजनी संकलन सुमेर अक्कादियन सिविलीजेशन।

२ वही, संकलन हत्ती या हिट्टायट पीपुल।

३ संकलन प्राचीन भारत का इतिहास ' प्रो० ह्राजनी।

उदाहरण के लिए उत्तर देवी ने गमान ही सिन्धु घाटी मे देवी पूजा के कई प्रमाण मिलते है । एक सील पर यक्ष अंकित है उसके दूसरी ओर देवी की मूर्ति है । एक दूसरी सील पर एक शेर अंकित किया गया है जो स्पष्ट ही दुर्गा देवी से सम्बन्धित रहा होगा । सील पर लिखा है "गुह्य देव का गुह्ययंत्र" । गुह्य का सम्बन्ध लिंग पूजा से प्रतीत होता है । एक अन्य सील में शिवा शब्द मिलता है, इसमे देवी शयन-मुद्रा मे है । इस सील की पीठ पर एक आदमी किसी स्त्री का बलिदान करने को प्रस्तुत है । एक दूसरी सील पर मिश्र देश की मूर्तियो के समान देवी का शरीर शेर का है और मुख स्त्री का । शिवा देवी का चिन्ह योनि भी एक अन्य सील पर अंकित है । एक दूसरी सील पर "रुद्र" शब्द मिला है जिसका सम्बन्ध सर्प व कुंडलिनी से जोड़ा गया है ।

देवी के अतिरिक्त ह्लाजना ने एक सील पर नाट्य और दूसरी पर नटराज शब्द पढ़ा है ।[1] एक अन्य सील पर पशुपति योग मुद्रा मे अंकित है । वह नग्न है, मेखलाधारी है और पद्मासन लगाए हुए है । श्री ह्लाजनी ने यह भी बताया है कि सिन्धु घाटी मे वैदिक आर्यो के आगमन से पूर्व योग, कुंडलिनी, लिंग-योनि, पूजा, बलिप्रथा तथा मन्त्र आदि तत्व विद्यमान थे ।[1] यदि श्री ह्लाजनी की शोध प्रामाणिक है तो यह स्पष्ट है कि सिन्धु घाटी मे शक्ति-शिव पूजा तथा कुंडलिनी योग का प्रचार हो चुका था और इनके साथ वामाचार का सम्बन्ध भी था । ऋग्वेद मे रुद्र और आम्भृणी (देवी) को छोड़कर इस सिन्धु घाटी मे प्राप्त तांत्रिक साधना को स्वीकृति नही मिली किन्तु अथर्ववेद मे सभी प्रागैतिहासिक अर्थात् पूर्व वैदिक विश्वासो को यथावत् स्वीकार कर

---

१ प्रो० ह्लाजनी संक्षप्त प्राचीन भारत का इतिहास । इस ग्रन्थ के सिवा द्रष्टव्य "न्यूलाइट आन द मोस्ट एनसियेंट ईस्ट" वी० गारडन चाइल्ड, लंदन, १६५४ पृष्ठ, १८४, १८५ । गारडन चाइल्ड के अनुसार सिन्धु सभ्यता का धर्म ऋग्वेद से नहीं मिलता । हरप्पा और मोहन जोदडो का शिव प्रागैतिहासिक है । इसके सिवा देवी या शक्ति तत्व का स्थान वेदो मे महत्वपूर्ण नहीं है । अत: विद्वानो का मत है कि उत्तरवैदिककाल मे उक्त प्रागैतिहासिक तत्व—शिव योग, शक्ति पूजा आदि ब्राह्मण मत मे शनैः शनैः सम्मिलत हुए ।

किया गया। ब्राह्मण ग्रन्थों व कृष्ण यजुर्वेद पर इस प्रागैतिहासिक साधना का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उपनिषद् भी इस प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उपनिषदों के बाद यह प्रागैतिहासिक विश्वास जो भारतवर्ष में भी अनार्य कबीलों और जातियों में प्रचलित थे, शाक्त, शैव, वैष्णव तथा तांत्रिक बौद्ध धर्मों में विभिन्न रूप धारण करके प्रविष्ट हुए। तांत्रिक युग में इस विश्वास-परम्परा को दार्शनिक आधार भी दिया गया तथा कुंडलिनी योग के रूप में यही साधना नाथ पन्थ तथा कबीर, दादू, नानक आदि सन्त सम्प्रदायों में विकसित हुई तथा शक्तिवाद के रूप में यही साधना पांचरात्र वैष्णव आगम, पुराण तथा वल्लभ, हरिदास, हित हरिवंश, सूरदास आदि वैष्णव सम्प्रदायों में एक भिन्न रूप धारण कर प्रतिष्ठित हुई। और इस प्रकार सगुणभक्तों के आत्मसमर्पण-भाव के पूर्व में जो विराट सांस्कृतिक समन्वय प्रारम्भ हुआ उसमें तांत्रिक तत्वों को, उपर्युक्त इतिहास को, ध्यान में रखकर, स्पष्ट रूप से अलग किया जा सकता है।

वैदिक युग में तांत्रिक तत्व

पूर्व वैदिक युग में प्रारम्भिक तांत्रिक साधना के स्वरूप पर हम विचार कर चुके हैं। किन्तु ऋग्वेद का मुख्य स्वर याज्ञिक और पुरुष-देव प्रधान है। जबकि अनार्य जातियों में मातृपूजा का विशेष प्रचार था। ऋग्वेद में यह प्रवृत्ति बहुत कम मिलती है। फिर भी ऋग्वेद में देवता स्तवन का सम्बन्ध शक्ति जागरण के साथ दिखाई पड़ता है। ऋषि का विश्वास था कि अमुक मंत्र पढ़ने से अमुक शक्ति जाग्रत होती है। इस शक्ति विशेष को ही देवता कहा गया है। देवताओं का शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों में निवास है यह विश्वास भी यहीं मिलता है[1]। आगे चलकर तंत्रों में देवता की यही परिभाषा मिलती है कि देवता मंत्रात्मक है[2]।

ऋग्वेद में पुरुष देवताओं के अतिरिक्त कुछ शक्तियों की उपासना भी मिलती है[3]। सरस्वती या वाणी को देवी स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद के दशम मंडल के १२५ वें सूक्त में प्रसिद्ध वाग्देवी के मंत्र हैं जिनमें शक्ति नारी रूप में वर्णित है। सम्भवतः इन्हें बाद में जोड़ा गया है। ऋग्वेद में

---

१ ऋग्वेद–अनूदित, रामगोविन्द त्रिवेदी,३-६२-१०, प्रयाग १९५४।

२ सर्वे मंत्रात्मका देवा सर्वे मंत्रा: शिवात्मका:—तंत्रालोक, जिल्द १ आ० १।

३ ऋग्वेद १०-७२-१०६। १-३-१०। १-१८८-८। १-१६४-४५।

शची देवी की उपासना के संकेत भी मिलते है। यह वागदेवी की तरह ही गर्व और दर्प से पूर्ण दिखलाई पडती है। भोग मे आसक्ति और सौन्दर्य के प्रति अनुराग शचि मे अधिक दिखाई पडता है।[1] इसके अतिरिक्त सिनीवाली श्रद्धा, सूर्या, सरमा, इला, भारती, महिलुषी आदि देवियो के उल्लेख इस वेद मे मिलते हैं। दशम मडल मे एक पूरा गो-सूक्त भी मिलता है। इसी मडल के रात्रि सूक्त से तान्त्रिक काली देवी का सम्बन्ध जोडते है।[2] एक मन्त्र मे लिंग उपासना भी सकेतित है।[3] ऋग्वेद मे प्रागैतिहासिक रुद्र देवता को स्वीकार किया गया है[4]। अहिर्बुध्न्य की भी यहाँ चर्चा है जो रुद्र का ही एक रूप है। रुद्र अहिर्बुध्न्य और विष्णु ऋग्वेद म अधिक महत्वपूर्ण देवता नही है। तान्त्रिक युग मे इनका विशेष महत्व बढता है। सम्भवत ये देवता अपने मौलिक रूप मे सामान्य जनता द्वारा पूजित थे। बाद म इनको आर्यो ने विशेष रूप दे दिया।[5]

ऋग्वेद के यज्ञो म मास, मदिरादि का प्रयोग भी विशेष अवसरो पर अवश्य होता था[6]। दशम मंडल मे ऋषि स्पष्ट कहता है "इन्द्र तुम्हारे लिए पुरोहितो के साथ मे स्थूल काय बैल पाक करता हूँ।[7] ऋषि कक्षीवान् सुरा की प्रशसा करते है।[8] अभिनव गुप्त ने शायद ऐसे ही स्थलो को देखकर लिखा है कि ऋषि सुरा और गोमास का प्रयोग करते थे।[9]

ऋग्वेद मे उन चमत्कारा का भी वर्णन मिलता है जिसका तान्त्रिक युग पर विशेष प्रभाव दिखाई पडता है। किन्तु इसे आसुरी माया कह कर इस प्रवृत्ति के प्रति घृणा प्रकट की गई है।[10] राक्षस, पिशाच, असुर, नाग आदि अनार्यो मे गुह्य साधनाओ और अभिचार का विशेष प्रचार था। इन विश्वासो

१ ऋग्वेद १०-८६-६ से १६ तक।
२ „ १०-१२७-१।
३ „ ९-१००१।
४ „ १-११४।
५ गनेश - ए० गेटी, ऑक्सफोर्ड १९३६।
६ १० - ८६ - ६ से १६ तक तथा ८ - १३३ - ५ ऋग्वेद।
७ १० - २७ - २ ऋग्वेद।
८ १ - ११६ - ७, „
९ तन्त्रालोक जिल्द १ आ० ४ पृ० २९९।
१० ऋग्वेद ५ - २ - ८।

बलात् वश में किया जाता है। धर्म में साधक देवता की प्रसन्नता के लिए उसकी कृपा पर निर्भर रहता है, वह अपनी प्रार्थना, सेवा, समर्पण और भक्ति से देवता को प्रसन्न करना चाहता है जबकि जादू में कुछ विशेष क्रियाओं के द्वारा देवता को कार्य विशेष करने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। वस्तुतः धर्म और जादू मनुष्य की प्रकृति-विजय-आकांक्षा के प्रतीक हैं। विज्ञान के आविष्कार के पूर्व मनुष्य धर्म और जादू के द्वारा आत्म-विश्वास प्राप्त करने के लिए अनेक व्यर्थ प्रतीत होने वाली क्रियाओं को करता आया है। सादृश्य और सम्पर्क ये दो प्रसिद्ध जादू के सिद्धान्त हैं। सादृश्य सिद्धान्त में मनुष्य यह कल्पना कर लेता है कि सदृश वस्तु सदृश प्रभाव उत्पन्न करती है अथवा परिणाम कारण के सदृश होता है।[1]

जादू का यह रूप मारण क्रिया में देखा जा सकता है। मनुष्य किसी वृक्ष की शाखा को काटता है और कल्पना कर लेता है कि डाल काटना चूँकि गला काटने के समान है इसलिए डाल काटते ही शत्रु की मृत्यु हो जानी चाहिए। इसी प्रकार शत्रु के पुतले को बनाकर उसे काटा जाता है या सुई से छेदा जाता है और शत्रु की पीडा या वध की कल्पना करता जाता है।

सम्पर्क सिद्धान्त में यह मान लिया जाता है कि एक बार सम्पर्क में आकर दो वस्तुएँ विलग होने पर भी सम्पृक्त रहती हैं।[2] यदि किसी व्यक्ति के पैर की धूल लेकर उस आग में डाल दें तो धूल के जलने के साथ ही उस व्यक्ति का पैर भी जल जायगा। धूल का सम्पर्क उस व्यक्ति से हो चुका था। अतः मनुष्य यह मान लेता है कि उस व्यक्ति के चले जाने पर भी उस धूल का सम्पर्क उसके पैर से बना रहता है।

अथर्ववेद में कहा गया है कि खैर वृक्ष से उत्पन्न अश्वत्थ से बनी मणि को इन्द्र ने युद्ध में धारण किया था अतः इसे हमें भी धारण करना चाहिए।[3] इस उदाहरण में जादू का सम्पर्क-सिद्धान्त कार्य कर रहा है। अन्यत्र

---

१ फ्रेजर द गोल्डिन बाऊ पृ० ११, लंदन १९५४ संक्षिप्त संस्करण।
२ वही " " ।
३ अथर्ववेद हिन्दी अनुवाद-सायणभाष्य-रामचन्द्र शर्मा, मुरादाबाद संवत् १९८६, कांड ३ अनुवाक् २ सूक्त १ मन्त्र ३।

कहा गया है कि यदि मूत्र रुक जाय तो 'बास' शब्द कहे तो मूत्र बाहर निकल आएगा। यहाँ सादृश्य सिद्धान्त काम कर रहा है।[1] यह सादृश्य-सिद्धान्त निम्नलिखित मंत्रों में द्रष्टव्य है।[2] कौशिक गृह्य सूत्रों में जादू की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। शान्तिक, पौष्टिक, आभिचारिक तथा अद्भुत कर्मों का अथर्ववेद और कौशिक सूत्रों में विस्तृत विवरण मिलता है। यज्ञ में भी इस जादू का स्पष्ट रूप दिखाई पड़ता है। चावल की भूसी अग्नि में डालने से भूत प्रेतों पर विजय होती है। जबकि सामान्य यज्ञों में घृत का प्रयोग होता है, क्योंकि घृत सार तत्व है। अतः इसका प्रयोग सर्वग्राही है। भूसी में सार नहीं है। अतः सारहीन भूत प्रेत उससे वश में हो जाते हैं, ऐसा विश्वास इसमें अथर्ववेद में मिलता है। यज्ञों में विघ्न डालकर शत्रुओं की हानि की कल्पना भी इस वेद में मिलती है। पुरोहित यजमान के दोनों हाथों को बांधता है, मुख बन्द कर देता है और शत्रु की हवि को नष्ट कर देता है। इस क्रिया में कल्पना करली जाती है कि शत्रु नष्ट हो गया क्योंकि उसकी हवि नष्ट हो गई है। इसे जादू में टेलीपैथी का सिद्धान्त कहा जा सकता है। शाप देने, दुःस्वप्नों के नाश करने तथा तावीज देने में भी जादू के ही सिद्धान्त काम करते दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः ये सब शक्ति-प्राप्ति के नाना उपाय हैं जिनका विशिष्ट विकास आगे चल कर तन्त्रों में हुआ है। अथर्ववेद में वशीकरण के लिए कहा गया है कि तृण को जैसे वायु घुमाती है वैसे ही मैं तेरे हृदय को मथता हूँ। हे अश्विनी कुमार! इच्छित स्त्री को लाओ।[3] इसी प्रकार वाजीकरण के लिए कहा गया है कि हे पुरुष तू वृषभ के समान आचरण कर।[4] कौशिक सूत्र में वशीकरण के लिए यह क्रिया

---

१ अथर्ववेदः १-१-३ । १ से ८ तक ।

२ " २-३-५-३ । २-३-६-५ । २-५-४-१
३-५-५-१ । ४-२-४-८ । ५-१-२-५
५-४-७-४ । ६-१-४-१ । ६-७-५-६
६-१०-४-१ । ११-२-२-१० । ८-२-६-२
६-१-२-१ । १०-१-१-१

३ अथर्ववेद २ - ५ - ४ - १ से ५ तक।

४ " २ - ५ - ५ - १

बताई गई है कि उपर्युक्त वशीकरण-मंत्र से कूट को मक्खन में मिलाकर तीन समय अग्नि द्वारा शरीर को ताप दें। यहाँ भी जादू का सादृश्य सिद्धान्त ही दिखाई पड़ता है क्योंकि मक्खन का सादृश्य स्त्री के हृदय से माना गया है।

कृत्याओं के प्रयोग मे भी जादू का सिद्धान्त ही दिखाई पड़ता है। कृत्या स्त्री रूप में कल्पित वह नाशक शक्ति है जो मंत्रों से संचालित होती है। किसी शत्रु के मारण के लिए इसका प्रयोग होता है। एक पुतली बनाकर उसे मंत्रों से संयुक्त करके उसे हरी घास मे गाढ़ देते है और यह कल्पना कर ली जाती है कि यह अदृश्य रहकर शत्रु पर आक्रमण करेगी। कभी-कभी इस कृत्या का सिर या अवयव काट दिये जाते हैं और प्रयोग करते समय मंत्र पढ़े जाते हैं।[१]

जादू के ये सिद्धान्त वैदिक और तान्त्रिक दोनो आचारों मे देखे जा सकते हैं किन्तु विशेष रूप से इनका प्रयोग तान्त्रिक आचारों मे दिखाई पडता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जनसाधारण के अथर्ववेद में सुरक्षित सामान्य विश्वासो की परम्परा मे ही तान्त्रिक आचारो का विकास हुआ। तान्त्रिकों ने जादू, अभिचार और धर्म के उन सब स्वरूपों को भी समेट लिया है जो आर्येतर जातियो मे प्रचलित थे।

किन्तु अथर्ववेद के इन जादू मिश्रित आचारो और क्रियाओं से तान्त्रिक साधना मे एक अन्तर भी दिखाई पडता है। तंत्रों मे ज्ञान और क्रिया की एकता मानी गई है अतः प्रयोग कर्त्ता के चित्त की अवस्था के अनुसार फल मिलता है, ऐसा उनका विश्वास है। मारण या वशीकरण आदि मे साधक के चित्त की अवस्था वध या वशीकरण का कारण बनती है न कि बाह्य क्रिया मात्र। तंत्र सम्पूर्ण विश्व को चेतना का ही रूप स्वीकार करते है और मंत्र को चिन्मय मानते है। इसलिए जगत् शब्दमय होने के कारण मंत्र के द्वारा इच्छानुसार उसमे परिवर्तन किया जा सकता है, ऐसा तान्त्रिकों का विश्वास है। किन्तु यह विकास बाद चलकर ही होता है। यह निश्चित है कि तान्त्रिक क्रियाओं का प्रारम्भिक रूप अथर्ववेद मे सुरक्षित है।

अभिनवगुप्त ने तान्त्रिक परम्परा के प्रवर्तकों में राक्षसों, असुरों, यक्षों और दानवों की विशेष चर्चा की है। यह भी कहा गया है कि रावण

---

१ अथर्ववेद ४-४-२-४
,, ४-४-१-२

तंत्रों को चुरा कर लंका ले गया है। वहाँ पर विभीषण ने तंत्रों का उद्धार किया।[1]

सम्पूर्ण भारतीय साहित्य राक्षसों को मायावी कहता आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुह्य साधनाओं का इन अनार्य जातियों के साथ विशेष सम्बन्ध था और उन्हीं से आर्यों ने भी इन्हें सीखा। यह इस बात से पुष्ट होता है कि अथर्ववेद का अभिचार रक्षात्मक है, जबकि राक्षस, पिशाच आदि जातियों में वह दुष्ट जादू (ब्लैक मैजिक) के रूप में दिखाई देता है। राक्षसों को सम्भवतः इसीलिए यातुधान भी कहा गया है। अथर्ववेद में अनार्य जातियों द्वारा प्रयुक्त दुष्ट जादू से आर्यों के पीड़ित होने के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[2] अथर्ववेद में अनार्यों के धर्म और अभिचार में स्पष्ट ही मांस, मदिरा, मैथुनादि का बहुत प्रयोग होता था। यही परम्परा तान्त्रिकों की पञ्चमकार-साधना में विकसित हुई।

दर्शन—यद्यपि ऋग्वेद में भी, सत्ता एक है, विद्वान उसी को अनेक प्रकार से कहते हैं, ऐसा विश्वास मिलता है किन्तु फिर भी अथर्ववेद में ब्रह्मवाद अधिक प्रौढ़ हो गया है। इस ब्रह्म को अथर्ववेद एक जादूगर के रूप में भी प्रस्तुत करता है। 'ब्रह्मन्' शब्द का एक अर्थ जादू भी होता है। अर्थात् जो व्यक्ति इस जादू को जानता है वह ब्रह्म को भी जानता है, ऐसा उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[3] इस प्रकार अथर्ववेद के ब्रह्म या ब्रह्मन् या जादू से भी घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जा सकता है। इसलिए अथर्ववेद को ब्राह्मण-साहित्य तथा उपनिषद साहित्य के बीच की शृंखला के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि उपनिषदों में ब्रह्म के साथ 'माया' का सम्बन्ध घनिष्ठ होता हुआ दिखाई पड़ता है। इस माया को आगे चलकर शंकराचार्य ने एक अनिर्वचनीय शक्ति का रूप दिया है और तान्त्रिकों ने इसे ब्रह्म में ही एक अंश के रूप में स्वीकार किया है। यह निश्चय है कि माया की इस महत्ता की पृष्ठभूमि में जनता के अथर्ववेद में सुरक्षित जादू के भी सिद्धान्त थे।

---

१ तन्त्रालोक : जिल्द १२ आ० ३६ पृ० ३८२ से ३८८ तक।

२ अथर्ववेद १-२-१। १-२-२-२। १-५-७-३।
२-४-५-१। २-४-७-३ से ६ तक।

३ एन० जे० शिन्दे पृ० २१७।

शक्ति सिद्धान्त—माया को ब्रह्म की शक्ति माना गया है। यद्यपि अथर्ववेद मे कालिका, लक्ष्मी, इन्द्राणी आदि शक्तियों का वर्णन मिलता है[1] परन्तु अथर्ववेद में ब्रह्म अपनी माया मे ही सम्पूर्ण कार्य कर लेता है। तान्त्रिक शक्तिवाद का प्रारम्भिक रूप यहाँ देखा जा सकता है। अथर्ववेद मे वाक् शक्ति का बड़ा ही गम्भीर विवेचन मिलता है। यहा परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चारो वाणियों की व्याख्या की गई है।[2] यहाँ वाक् शक्ति को देवी परमेष्ठी कहा गया है—

इयं या देवी परमेष्ठिनी वाक् देवी ब्रह्म संहिता।[3]

अन्यत्र कहा गया है कि इस जगत् के कारण रूप ब्रह्म को स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता। अतः वाणी को प्राप्त करने की इच्छा अथर्ववेद म प्रकट की गई है।[4]

पिंड-ब्रह्माड-कल्पना—अथर्ववेद म पिंड-ब्रह्माड-कल्पना का विशेष विकास मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के यज्ञप्रधान आर्यो के समानान्तर तप, योग, और अभिचार आदि साधनाओ का जो जनता म प्रचार रहा होगा उसी को अथर्ववेदी आर्यो न स्वीकार किया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवनाम पूरयोध्या

तस्याम् हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषा वृत।[5]

अर्थात् आठ चक्र और नौ द्वार वाली देवताओ की अयोध्यापुरी है। उसम हिरण्यमय स्वर्गप्रद कोश ज्योति म आवृत है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।

तस्मिन् तद् यक्षमात्मन्वत् यद् वै ब्रह्मविदो विदु।[6]

उस त्र्यर त्रिप्रतिष्ठित हिरण्यमय कोश म जो पूजनीय आत्मा का स्थान है उसको ब्रह्मवेत्ता जानते ह।

गुह्य-ज्ञान-रूपक परम्परा—गुह्य ज्ञान का अर्थ है योनि अर्थात् कारण का

---

१ अथर्ववेद ५-१-२-६। ५-३-२-६। २-५-६-४।
२ " ८-१०-१२-१३। ७-१-१।
३ " १४-६-३।
४ अथर्ववेद—६-५-२-१५।
५ " १०-१-२-३१।
६ " १०-१-२-३२।

ज्ञान प्राप्त करना। ब्रह्म ही जगत की योनि है और योनि से ही विश्व प्रकट हुआ है। इस योनि-कोश का ज्ञान आवश्यक है।

कुलायेपि कुलायं कोशे कोशः समुम्भितः।
तत्र मर्तो विजायते यस्माद् विश्व प्रजायते।[1]

कुलाय मे कुलाय है और उस कोश मे गर्भ कोश है। उसी मे मरण-धर्मा उत्पन्न होता है। उसी से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है।

इसी प्रकार की उक्तियों की परम्परा से ही आगे प्रतीकात्मक पद्धति तंत्रो म विकसित हुई है, जिसमे दार्शनिक रहस्यो को चक्करदार शैली मे कहा जाता है।

"इसी प्रकार अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या" आदि मंत्रो मे भी इसी गोपनीय पद्धति का प्रयोग किया गया है। सिद्धो, तान्त्रिको तथा हिन्दी के सन्त कवियो की रूपक परम्परा का सर्व प्रथम स्रोत भी अथर्व-साहित्य मे ही प्राप्त होता है, यह स्पष्ट है।

काम तत्व—अथर्ववेद म कामतत्व अत्यधिक गूढ है। कहा गया है ब्रह्म की शक्ति माया है। माया के बाद मन उत्पन्न हुआ है और तत्पश्चात् सृष्टि-इच्छा काम उत्पन्न हुआ। काम देशकालादि से रहित ब्रह्म की सृष्टि-इच्छा का नाम है और चूंकि जीव भी ब्रह्म ही है अत जीव द्वारा प्रजनन की इच्छा भी "काम" कहलाती है। सर्ग-इच्छा ही कामोत्पत्ति है।

कहा गया है कि काम विद्यमान था, उससे पूर्व मन विद्यमान था। काम परमेश्वर की सयोनि है। परमेश्वर के व्यतिरिक्त अन्तःकरण से रहित है। एसा तू धन प्रदाता व हवि प्रदाता काम यजमान के लिए धन का पुष्टि करे।[2]

काम दुरित, प्रजाहीनता, अस्वगता और वृत्ति की अभाव रूपा दरिद्रता का नाशक है। काम उग्र है और वही ईश है।[3] वाक् का काम से नित्य सम्बन्ध है। क्योकि वाक् भी सर्गेच्छा का परिणाम है। अतः धेनु (वाणी) काम की पुत्री है। यह काम सर्व प्रथम उत्पन्न होता है। इसकी स मता दवता

---

१ अथर्ववेद ६-२-१-२०।
२ " १६-७-१-१।
३ " ६-१-२ तथा १-२-३।

पितर नहीं कर सकते। काम सम्पूर्ण को प्राप्त होने वाला है और वह श्रेष्ठ और महान् है।[1]

काल व प्राण-सिद्धान्त—प्राणानुशासन तन्त्र का एक प्रमुख विषय है। प्राण पर विजय करने से काल पर विजय होती है। क्योंकि काल ही प्राण के रूप में पिंड में विद्यमान है। प्राण के उत्क्रान्त होने पर काल का उत्क्रमण होता है। अतः योग में काल व प्राण का महत्व बहुत अधिक है।

अथर्ववेद में कहा गया है कि सब प्राण के ही वशवर्ती हैं। वह प्राण ध्वनि करने वाला है। विद्युत रूप में दमकता है और वर्षा करता है।[2] पूर्ण शरीर में व्याप्त प्राण ही हंस है। *हन्तिगच्छीति हंस । जगत्प्राण-प्राणवृत्ति* में ऊपर को जाता हुआ अपान वृत्यात्मक एक पाद को नहीं उठाता है। यदि वह प्राण उस अपान वृत्यात्मक पाद को भी उठा ले तो प्राण रूप से शरीर से निकल जाने पर आज कल रात्रि दिन आदि काल-विभाजन न हों। और अंधकार की निवृत्ति भी कभी न हो, अतः जगत की सजीवता के लिए एक पाद को प्राण नहीं उठाता।

> **एक पादं नोत्खिदति सलिलाद्ध स उच्चरन् ।**
> **यदग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्व स्यान्न रात्री नाह**
> **स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ।**[3]

यह त्वचा और ओज आदि आठ चक्र हैं जिनमें धुरा प्राण है। इसी प्राण परिस्पन्द से अनेक वर्ण वर्णात्मक शब्द व रूप उत्पन्न होते हैं। प्राण ही प्रवृत्ति व निवृत्ति का कारण है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि ब्रह्मा का एक पाद सकल प्राणी हैं और उनके तीन पाद स्वर्ग में हैं।[4]

काल—प्राण की तरह काल का वर्णन भी अथर्ववेद में अद्भुत है। काल अश्व है। वह सात रश्मियों, सहस्र लोचनों, और भूरि वीर्य वाला है। यह अपने सवारों को उचित स्थान पर पहुँचाता है।

---

१ अथर्ववेद—६ - १ - २ मन्त्र ५ - ६ - १६ - १६।
२ ,, ११ - ४ - ४ - मन्त्र १, २।
३ ,, ११ - ७ - ६ - १
४ ऋग्वेद १० - ६० - ३ (पादास्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि)

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा[1]

इस काल पर चतुर ही चढ़ते हैं। इसके चक्र ही भुवन हैं। काल ही परमेश्वर है। सप्तरश्मि का अर्थ है सात ऋतुएँ। ६ ऋतुएँ+१ अधिमास। इस काल को बुद्धिमान अधीन रखते हैं। और जो अधीन नहीं रखता वह गन्तव्य पर नहीं पहुँच पाता।

यह काल प्राणियों को प्रकट करता है। यह काल मनुजों में व्याप्त है। वही इन प्राणियों का जनक है। अतः पिता रूप में या पुत्र रूप में काल ही माना जाता है। काल ही सबसे अधिक तेजवान है।[2]

जगत की रचना की इच्छा काल से ही सम्भव होती है। उसमें ही सब जगत अन्तर्यामी प्राण रहता है। अथवा इसी काल में परमात्मा में सब जगत के मन व पंचवृत्तिक प्राण रहते हैं। नाम भी उसी में है और ऋतुओं आदि के रूप में स्थित काल द्वारा ही प्रजाएँ सन्तुष्ट होती हैं। जगत काल की उत्पत्ति है। काल ने ही सृष्टि के आदि में प्रजापति को उत्पन्न किया था। काल से ही जल प्रकट होता है, वायु चलती है, सूर्य उदित होता है।[3]

इस प्रकार तान्त्रिकों के सैद्धान्तिक और साधनात्मक पक्षों का प्रारम्भिक रूप अथर्ववेद में सुरक्षित है।

यजुर्वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदों में तन्त्र—यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-प्रक्रिया का विस्तार मिलता है। 'शक्ति एण्ड शाक्त' नामक ग्रंथ में ब्रजलाल बनर्जी का एक लेख है जिसमें उन्होंने वैदिक यज्ञों में भी तान्त्रिक तत्वों का, विशेष रूप से वामाचार की खोज की है।[4] उनके अनुसार यज्ञों में मिथुनीकरण का सिद्धान्त स्वीकृत था। शतपथ में सम्भोग को ही अग्निहोत्र कहा गया है[5]। यज्ञ-वेदी के निर्माण में भी मिथुन भावना दिखाई पड़ती है। ईंटों के मिलान से ही सृष्टि होती है ऐसा कहा गया है[6]। छन्दों के पक्षों में

---

१ अथर्ववेद - १९ - ६ - ८ - १।
२ ,, १९ - ६ - ८ - ४।
३ ,, १९ - ६ - ८ मंत्र ७-८-९-१०।
४ शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर ऐवेलोन पृ० १०४।
५ शतपथ ब्राह्मण काण्ड ११ अध्याय ६ ब्राह्मण २ मंत्र १०।
६ वही ६-५-३-५।

भी मिथुन भावना का ध्यान रखा जाता था। अनुष्टुप के दो चरण मिलाकर ही पढे जाते है। ऐतरेय ब्राह्मण मे यह स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री देवता की पूजा तब तक नही हो सकती जब तक वह किसी पुरुष देवता के साथ युगनद्ध न हो[1]। श्री बनर्जी के अनुसार यज्ञो मे मैथुन को अपवित्र नहीं माना जाता था। कामुकता की अवश्य सर्वत्र निंदा की गई है। यह भी प्रथा थी कि मैथुन के समय मंत्रोच्चारण किया जाय।[2]

सौत्रामणि यज्ञो मे सुरापान होता था, यह हम कह चुके है। तन्दुल, पिष्टक, लाज और धान के साथ पशुबलि का भी विधान यज्ञो मे होता था। कृष्ण यजुर्वेद मे शायद ही कोई ऐसा पशु बचा हो जिसकी बलि का विधान न किया गया हो। ([3] कृष्ण यजुर्वेद के सम्बन्ध मे आर्य समाजी प० रघुनन्दन शर्मा का कथन है कि पूर्ववदी पर तो नही परन्तु उत्तर वदी पर अवश्य पशु बलि होती थी। उनका यह भी कथन है कि रावण आदि द्रविड असुरो ने इस वेद की रचना की है।[4]) जो हो परन्तु यह एक तथ्य है कि कृष्ण यजुर्वेद मे अनार्य प्रभावो को स्वीकार किया गया है।

तान्त्रिको की चक्राकार बैठक का प्रथम रूप वाजपेय तथा सौत्रामणि यज्ञो मे मिलता है। यहाँ कहा गया है कि यज्ञ करते समय सभी भागवता ब्राह्मण हो जाते है। उस समय उनमे जाति भेद नही रहता।[5]

यज्ञ मे भी आचमन, न्यास, बीजमन्त्र। (खट्, फट्, हुम् आदि) मुद्रा आदि का विधान मिलता है[6]। कृष्णयजुर्वेद मे दीक्षा पर भी बहुत बल दिया गया है। प्राणायाम तथा तर्पण का प्रचार भी कृष्ण यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रंथो मे दिखाई पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि तान्त्रिको की वामाचारी साधना को वैदिक सिद्ध करने के लिए संहिताओ मे कुछ प्रमाण अवश्य मिल जाते है। ऐतिहासिक दृष्टि से ब्राह्मण साहित्य मे आर्य-अनार्य साधनाओ की अन्तर्मुक्ति का वेग के साथ प्रारम्भ होने लगा था। यह उपर्युक्त प्रमाणो से अवश्य पुष्टि होता है।

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण ३-५ ४।
२ शाक्ति एण्ड शाक्त पृ० १०४।
३ कृष्ण यजुर्वेद ५-७ १४।
४ वैदिक सम्पत्ति ५८३-६०७।
५ ऐतरेय ब्राह्मण ७-८-१।
६

देवता—ऋग्वेद में देवताओं के अतिरिक्त यजुर्वेद व ब्राह्मणों में अनार्य देवताओं की संख्या बढ़ने लगती है। यजुर्वेद की शतरुद्रीय प्रसिद्ध है[1]। रुद्र के अतिरिक्त अम्बा, दुला, गन्धर्व, नाग, पृथ्वी, वरुण, अग्नि, यम आदि की उपासना का विशेष प्रचार मिलता है।[2]

शतपथ में सरस्वती को पशुबलि देने का भी उल्लेख मिलता है।[3]

तैत्तरीय आरण्यक में लिंग उपासना का भी उल्लेख मिलता है।[4] सामविधान ब्राह्मण में रात्रिदेवी का वर्णन मिलता है।[5] तैत्तरीय आरण्यक में अग्नि की सात जिह्वाओं का दिव्य रूप में वर्णन है।[6]

शाक्तों के अनुसार रात्रिदेवी ही आगे काली के रूप में पूजित हुई। वस्तुतः ये स्थानीय जनता द्वारा पूजित देवियाँ थीं। जिन्हें आर्यों ने स्वीकार कर लिया। सामविधान ब्राह्मण में स्कन्द, विनायक व विष्णु की भी पूजा का उल्लेख है। इनका महत्व तांत्रिक युग में विशेष रूप से बढ़ा। गेटी ने बताया है कि गणेश आर्यों से पूर्व ग्राम देवता के रूप में पूजित था। बहुत से विचित्र और स्वच्छाचारी स्थानीय देवताओं को आर्यों ने स्वीकार कर उन्हें रुद्र शिव के गणों में शामिल कर दिया है।[7]

पुरातत्व के प्रमाणों से स्पष्ट है कि विष्णु, स्कन्द, गणेश, रुद्र आदि देवता प्रथम कुरूप थे। धीरे-धीरे उन्हें सुन्दर रूप दिया गया। विष्णु की गाधार शैली की मूर्तियों में विचित्र और कुरूप आकृतियाँ मिली हैं। विष्णु के तीन सिर हैं। एक ओर सिंह, दूसरी ओर वाराह और मध्य में मनुष्य का शीश मिलता है।[8] अतः उपनिषद् युग के बाद भागवतों ने विष्णु का जो सुन्दर रूप कल्पित किया है, वह परवर्ती है। उससे पूर्व विष्णु पशुपति रुद्र की तरह एक कुरूप स्थानीय देवता रहे होंगे। आगम युग में वैष्णवों ने इस स्थानीय

---

१ कृष्ण यजुर्वेद ४-५-१।

२ वही ४-४-५। ४-१-६। ७ ४ १६। ४-२-८।

३ शतपथ ३ ९-१-७। ५ ५ ४-१।

४ तैत्तरीय आरण्यक १० - १७।

५ समाविधान ब्राह्मण ३ ८।

६ शक्ति एवं शाक्त पृ १०८।

७ गनेश एलिसगेटी।

८ वही।

देवता को अपना कर उसका सम्बन्ध वैदिक विष्णु से जोड़ दिया जो वहां एक महत्वहीन देवता है। ये स्थानीय देवता अपने साथ नाना पद्धतियां को लाये हैं जिनका संस्कार भागवतों और शैवों ने वैष्णव और शैव सम्प्रदायों में किया। शाक्तों ने एक सीमा तक ही संस्कार को पसंद किया। तान्त्रिक बौद्धों ने भी बहुत से स्थानीय देवताओं और पूजा पद्धतियों को स्वीकार किया है।

मंत्र—यज्ञों में भी मंत्र, देवता और क्रिया की एकता स्वीकार की गई है।[1] ब्राह्मण साहित्य में बहुत से एकाक्षरी या बीज मंत्र मिलते हैं। ओउम् को सर्वश्रेष्ठ बीज मंत्र के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी को प्रणव भी कहते हैं।

कथन पद्धति—यज्ञ प्रक्रिया को बुद्धि संगत बनाने का कार्य ब्राह्मण साहित्य ने किया है। यज्ञ-प्रक्रिया में प्रयुक्त पदार्थों की ये व्याख्यायें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इन्हीं व्याख्याओं से प्रागैतिहासिक युग का आदिम धर्म सुसंस्कृत होकर समाज में स्वीकृत हुआ। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

"विष्णु थककर पृथ्वी में प्रविष्ट हो गए, देवों ने उन्हें तीन इंच खोदकर निकाला अतः वेदी के लिए तीन इंच खोदना चाहिए।[2] रोटी के पांच टुकड़े करने चाहिए क्योंकि पशु के पांच भाग होते हैं।[3] वह पूर्ण स्रुवा से हवि देता है, क्योंकि निःसन्देह पूर्ण ही यह सब ब्रह्माड है। अतः उस पूर्ण को इस पूर्ण स्रुवा से प्रसन्न किया जाता है।"[4]

इसका अर्थ यह हुआ कि वेदी के लिए ३ इंच जमीन खोदना, रोटी के पांच टुकड़े करना तथा पूर्ण स्रुवा से होम करना-ये क्रियाएं प्रतीक मात्र है। इनके पीछे जो रहस्य है, वह समझे बिना इन क्रियाओं का महत्व कुछ नहीं है।

इस प्रतीकवाद ने धार्मिक क्रियाओं को एक प्रकार की आतरिकता दे दी जिसकी चरम-सीमा तन्त्रों में मिलती है। वेदों की यज्ञ-पद्धति का विकास तो हुआ परन्तु धीरे धीरे लोग क्रियाओं के पीछे जो रहस्य था उसे भूल गए। अतः क्रियाओं का अन्ध अनुकरण होने लगा। उपनिषदों ने इन्हीं ज्ञानहीन क्रियाओं का अध्यात्मपरक अर्थ किया और आगमों ने अध्यात्मपरक व भोग

---

१ कृष्ण यजुर्वेद ५-१-१।
२ शतपथ ब्राह्मण १ २-५-६।
३ वही ,, १-८-१-१२।
४ वही ,, २-२-१-३।

करके दोनों प्रकार अर्थ किए। अतः मनुष्य के प्रत्येक कार्य को किसी न किसी आन्तरिक तत्त्व का प्रतीक बना दिया गया और उस आन्तरिकता की जानकारी मात्र को इतना अधिक महत्व दिया गया कि ज्ञान हीन क्रिया का भयंकर खंडन होने लगा। आन्तरिकता-प्रिय सिद्धों और नाथों ने वाह्य आचारवाद और क्रिया का घोर विरोध किया। किन्तु स्वयं तांत्रिकों में प्रारम्भिक साधना-सोपान के रूप में क्रिया-विस्तार को अपनाया गया है।

उपनिषदों में तांत्रिक तत्त्व—उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्म और जीव की एकता स्थापित करना है। उपनिषदों के नेतिनेतिवाद से आगे की सभी ब्रह्म सम्बन्धी धारणाएं प्रभावित हुई हैं। किन्तु जगत् के सम्बन्ध में उपनिषदों में परस्पर विरोधी धारणाएं भी मिलती हैं। इसलिए यदि शंकर किसी ने उपनिषदों में मायावाद की खोज की है तो किसी ने शक्तिवाद की। हम यह कह चुके हैं कि ब्रह्म और माया की धारणाओं के पीछे असुर या जादू के प्रचार का भी कुछ योग अवश्य रहा है। यद्यपि उपनिषदों का दृष्टिकोण वैराग्यमूलक है फिर भी अनेक ऋषियों के अनुभवों में रागमूलक साधनाओं के तत्त्व भी मिलते हैं।

मिथुन भावना—तांत्रिक दर्शन व साधना से प्राप्त काम तत्त्व उपनिषदों में भी मिलता है। ब्रह्म अकेला था उसने रमण नहीं किया तब उसने द्वितीय की इच्छा की।[१] यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार स्त्री और पुरुष परस्पर आलिंगित होते हैं, ब्रह्म वैसे ही परिमाण वाला हो गया। उसने अपने देह को दो भागों में विभक्त कर डाला उससे पति और पत्नी हुए। उसने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो। अतः उसने मन से वेद रूप मिथुन की भावना की। उससे जो रेत या वीर्य हुआ वह संवत्सर हुआ।[२] यह मिथुन भावना शतरूपा और मनु के उपाख्यान द्वारा भी पुष्ट होती है।[३] प्रश्नो० में रयि व प्राण की मिथुन द्वारा सृष्टि समझाई गई है।[४] श्वेताश्वतर० में

---

१ स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्
बृहदारण्यक, अध्याय १ ब्राह्मण ४ मंत्र ३ तथा १-४-१७

२ बृहदारण्यक १-२-४।

३ वही १-४-६।

४ प्रश्नो० प्रश्न १ मंत्र ४।

स्पष्टत: शक्ति व शक्तिमान के मिथुन की चर्चा मिलती है।[१] बृहदारण्यक० मे मिथुन की तुलना यज्ञ से की गई है। कहा गया है कि स्त्री ही अग्नि है। उपस्थ ही उसकी समिधि है। लोम धूम है। योनि ज्वाला है जो मैथुन व्यापार करता है वह अंगार है। आनन्द लेश चिनगारियाँ हैं। इसी प्रकार आत्म साक्षात्कारजन्य आनन्द की उपमा स्त्री के आलिगन से दी गई है।[२] सम्भवत: ऐसे ही स्थल आगे के वाममार्गियो के लिए प्रेरणा स्रोत बन गए।

शब्द-साधना—जिस प्रकार तांत्रिकों ने बीजाक्षरों के अध्यात्मपरक अर्थ किए है उसी प्रकार उपनिषदो में भी किए गए हैं। 'हृ' को हृदय, प्रजापति व ब्रह्म कहा गया है। इसी प्रकार 'द' और 'यम्' की भी व्याख्या की गई है। छान्दोग्य० मे हिंकारोपासना का वर्णन है। प्राण की सहज गति को हिंकार कहा गया है। प्रस्ताव उद्गीथ, निधन तथा साम की सत्ता भी प्राणों मे स्वीकार की गई गई है।[३] अन्यत्र ओउम् को ब्रह्म कहा गया है। ओउम् रूपी बाण से ब्रह्म रूपी लक्ष्य का वेध करना बताया गया है।[४]

पिंड-ब्रह्मांड की एकता—बृह० मे वेद, देवता, पितृगण और मनुष्य की सत्ता भी पिन्ड मे ही बताई गई है। इसमे सूर्य का उदय और अस्त तथा आकाश की सत्ता भी प्राण के अन्तर्गत मानी गई है। सूक्ष्म प्राण शक्तियो और नाडियो का भी वर्णन इस उप० में मिलता है।[५] ऐतरेय० से भी पिंड ब्रह्मांड की एकता पुष्ट होती है।[६] तैतरीय मे सुषुम्ना नाड़ी की पहुँच इन्द्र-योनि अर्थात् कपाल तक बताई गई है।[७] छान्दोग्य० मे पिन्ड विजय को अतियोग कहा गया है।[८] तान्त्रिको ने चक्रो की कमल के रूप में कल्पना की है। इस उपनिषद में उन्हे पुण्डरीक गृह कहा गया है। श्वेत० मे पिंड योग पर्याप्त विकसित रूप में मिलता है किन्तु कुंडलिनी की चर्चा उपनिषदों में नहीं मिलती।

---

१ श्वेताश्वतर १-३।
२ बृह० ४-३-२१ तथा ६-४।
३ छान्दोग्य० २-२-३।
४ तैतरीय १-८-१-मुंडक २-४।
५ बृह० १-५-६। १-५-२३। २-३-५। ४-२-३। २-१-१६।
६ ऐतरेय उप० १-२-४।
७ तैतरीय १-६-१।
८ छान्दोग्य० १-३-३। ३-१३-२। ७-२-१

की। श्वेताश्वतर मे काल, स्वभाव, नियत, यदृच्छा भूत और पुरुष को कारण माना गया है।[1] तंत्रो मे राग, कला, और विद्या आदि नए तत्व और जुड़ गए। इसी उपनिषद् में अन्यत्र पाश का विवेचन भी मिलता है जिसका शैवों और शाक्तों मे विशेष महत्व है।[2]

कथन-पद्धति—गुह्य कथन पद्धति का पूर्व रूप उपनिषदों मे भी मिलता है। कहा गया है कि इस भुवन के मध्य एक हंस है, वही जल मे स्थित अग्नि है।[3] अन्यत्र ईश्वर और जीव के लिए दो पक्षियो की कहानी कही गई है।[4] प्रकृति और जीव के सम्बन्ध को अजा और अज के सम्बन्ध के रूप मे दिखाया गया है।[5] उपनिषदों की सभी कथाएँ प्रतीकात्मक है। आन्तरिक सत्यों का उद्घाटन ही उनका उद्देश्य है। बृहदा० मे याज्ञवल्क्य के संवादो मे प्रतीकात्मक शैली प्रयुक्त हुई है। बाह्याचार की कठोर आलोचना उपनिषद में मिलती है उसी प्रकार जिस प्रकार तांत्रिक सिद्धो मे मिलती है।

इस प्रकार उपनिषदो मे प्राप्त शब्द-साधना, पिंड-ब्रह्मांड एकता, नाडी योग, ध्यान योग, आत्मा का साक्षात्कार, कर्मकांड के स्थान पर ज्ञान द्वारा मुक्ति आदि तत्व उन योगियो की परम्परा मे विकसित हुए है जो यज्ञ के स्थान पर अंतरावलोकन पर अधिक बल देते थे। आर्यों के धर्म म यज्ञ और प्रकृति-पूजा की प्रधानता थी। अथर्ववेद मे वर्णित व्रात्य योगी व तपस्वी आन्तरिक साधना पर अधिक बल देते थे। इस परम्परा को उपनिषदों ने अपने मे समेट लिया है। स्थानीय देवताओं की भक्ति को भी शैव उपनिषद श्वेता० मे स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उपनिषदो मे आर्य और आर्येतर विश्वासों की बहुत बडी मात्रा मे अंतर्भुक्ति हुई है। इसीलिए उपनिषदो से आगम परम्परा भी प्रभावित हुई है।

सूत्र-साहित्य मे तन्त्र—ऐतिहासिक दृष्टि से सूत्र युग प्राचीन उपनिषदो के बाद मे आता है। सूत्र साहित्य व्यवस्था, व्यावहारिकता तथा घरेलू आचारों

---

१ श्वेता० १ - २।
२ वही ३ - १ तथा ५ - ३।
३ बृहदा० २ - ४ - १४।
४ मुंडक० ३ - १ - १।
५ श्वेता० ४ - ५।

का साहित्य है। इसलिए इसमें आचार और देवता को छोड़ कर तान्त्रिक तत्व कम मिलते हैं।

सूत्र-साहित्य में तन्त्रों की तरह ही अनेक व्यर्थ गन्दी वाली क्रियाओं का उल्लेख है। सूत्रकाल में मूर्तिपूजा का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। मूर्ति पूजा स्पष्ट ही अवैदिक है और योग, तप तथा भक्ति की तरह सामान्य जनता से ली गई है। इसलिए सूत्रों में चैत्यों या मन्दिरों का भी वर्णन मिलता है।

सूत्र साहित्य में अनेक नवीन देवताओं के दर्शन होते हैं। जिन्हें आर्यों ने सामान्य जनता से ग्रहण किया है। विरूपाक्ष, समुद्र, नदियाँ, पर्वत, झाड़ियाँ, सिद्ध, यक्ष, राक्षस, धन्वन्तरि, पशुपति आदि अनेक नवीन देवताओं की उपासना का उल्लेख इन सूत्रों में मिलता है। देवताओं के साथ रुद्राणी, इन्द्राणी, शर्वाणी तथा भवानी आदि देवियों की पूजा देवताओं के साथ चल पड़ती है। पितृ पूजा का प्रचार सूत्र साहित्य की विशेषता है जो प्राचीन प्रेत पूजा का ही संस्कृत रूप है।[1]

---

१ विस्तार के लिए द्रष्टव्य।
सोशल एण्ड रिलीजस लाइफ इन द गृह्य- सूत्र——वी॰ एम॰ आप्टे
संशोधित संस्करण-१९५४।

२

महाभारत में तांत्रिक तत्व

यद्यपि महाभारत को अन्तिम रूप ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक मिल पाया है किन्तु महाभारत मे उपनिषद् कालीन विश्वास भी सुरक्षित है। महाभारत को वेदों का गुह्यतम रहस्य और अन्य शास्त्रो का सार कहा गया है। इसमें उपनिषद ज्ञान की भी विशेष चर्चा है। किन्तु साथ ही पाशुपत, भागवत और शाक्त सम्प्रदायो की चर्चा भी मिलती है। वर्तमान रूप मे प्राप्त महाभारत रुद्र व विष्णु रूपधारी कृष्ण की उपासना का प्रचार करता है। स्पष्ट ही प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के समानान्तर प्राचीन उपनिषदों के बाद जिन शैव और वैष्णव सम्प्रदायो का प्रचार हुआ उनमे साम्प्रदायिक आग्रह रहने पर भी रुद्र व विष्णु की एकता का प्रतिपादन किया गया है। महाभारत से यह प्रकृति स्पष्ट हो जाती है। विंटरनित्स ने महाभारत का निर्माण समय ईसापूर्व पचम शताब्दी से चार सौ ई० तक माना है। इसी काल म प्राचीन, कुरूप और भयंकर रुद्र व विष्णु को आकर्षक और करुणामय रूप दिया गया है। योग और ज्ञान के साथ इन्ही शताब्दियो मे भक्ति का भी विशेष प्रचार मिलता है और उसका सम्बन्ध रुद्र, विष्णु और शक्ति के साथ जोडा गया है। इन सम्प्रदायों के प्रचार के लिए जनता के सभी विश्वासो को स्वीकार कर लिया गया है। और नाना देवी, देवताओ की उपासनाओ को स्वीकार कर देवाधिपतियो के रूप मे रुद्र,

विष्णु और शक्ति की प्रतिष्ठा कर दी गई है। इसलिए शैव, वैष्णव व शाक्त-सम्प्रदायों में वैदिक और अवैदिक (तांत्रिक) परम्पराएं मिलकर एक हो गईं। शुद्ध वैदिकों ने पाशुपत शैवों और पांचरात्र वैष्णवों को अवैदिक भी सिद्ध किया है। किन्तु बौद्ध धर्म के विरुद्ध संघर्ष में आर्य परम्पराओं से मिल संघर्ष करने के कारण पुराणों और पुराणों के बाद शैव, वैष्णव सम्प्रदायों का शुद्ध वैष्णव धर्म मान लिया गया। यह प्रक्रिया महाभारत तथा अन्य पुराणों से स्पष्ट हो जाती है।

महाभारत में रुद्र के गणों के वर्णन से उनकी अवैदिकता स्पष्ट हो जाती है।[1] ग्यारह रुद्रों में सर्प, अहिर्बुध्न्य और कपाली जैसे नाम भी हैं जो सम्भवत नागों के देवता रहे होंगे। पशुपति रुद्र को मृगव्याध कहा गया है। रुद्र के साथ स्कन्द और धात्री, हलिमा, मालिनी, पलाला आदि मातृकाओं या देवियों की उपासना का सम्बन्ध भी जोड़ दिया गया है*। द्रोणपर्व में रुद्र को राक्षसों का स्वामी कहा गया है।† वे भयंकर अस्त्रशस्त्रों और गुह्य विद्या के उपदेशक के रूप में चित्रित किए गए हैं। द्रोणपर्व में ऋषि नर, नारायण (वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक) लिंगोपासक बताए गए हैं।[2]

महाभारत ने रुद्र कृष्ण की प्रशंसा करते हैं और कृष्ण रुद्र की।* यहाँ रुद्र सहस्रनाम भी मिलता है जो सम्भवतः परवर्ती है। इनमें तान्त्रिक साधना का रूप स्पष्ट होता है। इनमें रुद्र को पचपच, अघोर, हूँ हूँ, शृगाल, घटाधारी, मिलीमिली, धूर्त, मद्यप्रिय, गणाध्यक्ष, कनेर मालाधारी, निशाचर, उन्मत्त वेशधर और प्रेतचारी कहा गया है।† इससे स्पष्ट है कि अवैदिक उपासनाओं के उपदेष्टा के रूप में रुद्र की महिमा महाभारत में प्रतिष्ठित है किन्तु मनोरंजक तथ्य यह है कि रुद्र शिव द्वारा वैदिक यज्ञयाग और वर्णाश्रम धर्म आदि का भी उपदेश कराया गया है।

रुद्र भक्ति का भी पूर्ण विकसित रूप महाभारत में दिखाई पड़ता है।

---

१ महाभारत गीता प्रेस १६५५ आदिपर्व, अध्याय ६६।
 * ,, वनपर्व अध्याय २२८।
 † ,, द्रोणपर्व अध्याय ५२ श्लोक ४३।
२ ,, ,, ,, २०१
 * ,, सौप्तिकपर्व ,, १७ तथा अनुशासन पर्व अध्याय १४ से १७ तक।
 † ,, शान्तिपर्व ,, २८४ तथा ,, ,, ,, १७

गीता के द्वारा वासुदेव भक्ति का प्रचारक भी महाभारत ही है। इसमें भी सांख्य, योग, उपनिषद्-ज्ञान तथा भक्ति में अविरोध स्थापित किया गया है। कृष्ण को विष्णु का अवतार बनाकर मनुष्य के सम्पूर्ण रागों का उन्हें विषय बनाया गया है। हम कह चुके हैं कि वैदिक साहित्य में विष्णु महत्वहीन देवता था किन्तु महाभारत में विष्णु का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया है। भागवतों द्वारा सामान्य जनता की "टाटेम" उपासना को भी अवतारवाद के द्वारा वैष्णव सम्प्रदाय में समेट लिया गया है। कच्छप, अश्व, या 'हयग्रीव' मत्स्य, नृसिंह, हंस आदि आर्येतर जातियों के टाटेम थे। व्यास नामधारी आर्य कवियों ने इन सबको विष्णु के आदि अवतारों के रूप में स्वीकार कर लिया है। इनके साथ उनकी पूजा पद्धतियाँ भी आईं, जो निश्चित रूप से तान्त्रिक है। जिनमें देवता के रूप, वस्त्र, अस्त्र, शस्त्र, वाहन आदि का ध्यान तथा स्तोत्र, मंत्र तथा मूर्तिपूजा द्वारा उनकी उपासना प्रचलित थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने "संस्कृति संगम" नामक ग्रंथ में यह भी बताया है[1] कि इन नाना देवताओं की पूजा पद्धतियाँ आर्य पत्नियों के द्वारा आर्य घरों में प्रचलित हुई। क्योंकि आर्यों को अनार्या के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने पड़े थे।

यह निश्चित नहीं हो पाया है कि अनेक कृष्णों में से किस कृष्ण को सर्व प्रथम विष्णु का अवतार माना गया है। प्राचीन साहित्य में अनेक कृष्ण मिलते हैं जैसे कृष्ण हारीत, कृष्णदत्त लौहित्य, कृष्ण धृति सात्यकी, कृष्ण ऋषि तथा देवकी पुत्र कृष्ण।[2] फिर भी यह निश्चित है कि देवकी पुत्र कृष्ण को विष्णु बनाकर उन्हीं के मुख से गीता का उपदेश दिलवाया गया है। आगे चल कर यही देवकी पुत्र कृष्ण विष्णु से भी अधिक महत्व प्राप्त कर लेते हैं। सात्वत क्षत्रियों ने देवकी पुत्र कृष्ण की भक्ति के प्रचार में विशेष कार्य किया। इसलिए भागवत सम्प्रदाय सात्वत सम्प्रदाय भी कहलाता है। इस सम्प्रदाय में भी परवर्ती तांत्रिक मतों की तरह वासुदेव कृष्ण देवता के रूप में पूजित हुए। इस सम्प्रदाय का मंत्र है, ओउम् नमो भगवते वासुदेवाय। विष्णु या कृष्ण

---

१ संस्कृति-संगम : क्षितिमोहन सेन, साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग, प्रथम संस्करण १९५१ पृ० ४७ से ४९ तक।

२ प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास : रांगेय राघव, दिल्ली १९५३ पृ० २३०।

का विशेष रूप है। विशिष्ट अस्त्र, शस्त्र और वाहन हैं। इनकी ध्यान, जप और भक्ति भी उसी प्रकार होती है जैसे रुद्र शिव की। रुद्र की तरह कृष्ण भी नृत्य करते हैं। रुद्र ही की तरह वे विलासी हैं। वैसे ही उनके भयंकर और कोमल दो रूप हैं। इससे स्पष्ट है कि वासुदेव कृष्ण के रूप निर्माण में रुद्र शिव से बहुत प्रेरणा ली गई है। आगे वर्णित पांचरात्र संहिताओं में भी शैवागमों और पांचरात्र आगमों में केवल यह अन्तर दिखाई पड़ता है कि शैव दक्षिण 'वैदिक' और 'वाम मार्ग' दोनों मार्गों को अपनाते हैं। जबकि पांचरात्र मत आचार की शुद्धता को ही अपनाता है। इसीलिए मूलतः अवैदिक होने पर भी आगे चलकर वैष्णव सम्प्रदाय पूर्ण रूप से वैदिक मान लिया गया है।

शक्ति उपासना—महाभारत में कांति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा आदि को भी देवियों के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] वनपर्व० में भानुमती 'दिन की देवी', राका 'रात की देवी', सिनीवाली 'अमावस्या', तथा कुहू 'शुद्ध अमावस्या' आदि को भी देवी माना गया है।[2] स्कन्द के साथ कुछ देवियों का उल्लेख हम कर चुके हैं। शीत पूतना, अदिति, दिति, विनता तथा सरमा शिशुमांस भक्षण, गर्भहरण तथा अन्य कष्टों द्वारा जनता को केवल पीड़ित ही नहीं करतीं प्रसन्न होने पर बड़े बड़े वर भी देती हैं।

विराट् पर्व में युधिष्ठिर द्वारा दुर्गा देवी की उपासना का वर्णन है। जिसमें देवी को कृष्ण की भगिनी कहा गया है।[3] भीष्मपर्व में कुमारी, काली, कापाली, कपिला, भद्रकाली, महाकाली, शाकम्भरी, उमा, कात्यायनी, चंडी आदि देवियों का उल्लेख है। यह सम्भव है कि शाक्तों ने महाभारत में ये अंश पीछे से जोड़ दिये हों। किन्तु शक्ति उपासना प्रागैतिहासिक है यह हम देख चुके हैं। महाभारत में भी शिव व देवी पूजा के साथ भयंकरता और युद्ध का सम्बन्ध अधिक दिखाई पड़ता है। शल्य पर्व में देवी का परा या त्रिधा वाणी के रूप में दार्शनिक विवेचन भी मिलता है।[4] तांत्रिकों में शक्ति और

---

१ महाभारत आदि पर्व ६६-१५।

२ वनपर्व अध्याय २१३।

३ विराटपर्व अध्याय ६।

४ शल्यपर्व, अध्याय ४६।

शक्तिमान की एकता का विशेष प्रचार मिलता है, यह सक्षिप्त रूप म महाभारत म भी मिलता है। यहाँ शिव जगत के पदार्थो का शीत व उष्ण दो भागो म वाटते है। जगत अग्निसोम रूप है। विष्णु सोम रूप है और शिव अग्नि रूप है।[1] सोम और अग्नि की यह व्याख्या तान्त्रिक कुंडलिनी योग म भी मिलती है।

पाशुपत व्रत—महाभारत म पाशुपत व्रत का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु यह स्पष्ट नही है। इसम यम, नियम, प्राणायाम, ध्यान आदि के साथ कुछ गुह्य क्रियाए भी प्रचलित थी। यह पाशुपत व्रत वर्णाश्रम धर्म का विरोधी था। इस मत के द्वारा सिद्धिया की प्राप्ति सम्भव बताई गई है।[2]

इस प्रकार महाभारत म शैव, वैष्णव और शाक्त साधनाओ पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इसमे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रथम बार बहुत व्यापक रूप मे आर्यों ने अनेक विश्वासो और साधनाओ को वैदिक यज्ञ याग के साथ सयुक्त कर दिया था।

पुराणो मे तन्त्र—महाभारत की तरह अन्य पुराणो म भी अनेक तान्त्रिक साधनाओ को स्वीकार किया गया है। प्रचलित पुराणो म प्रत्येक पुराण किसी विशेष सम्प्रदाय से प्रभावित है। रामदास गौड का कहना है कि यह बात अभी निश्चित नही है कि इन पुराणो मे ही ये सम्प्रदाय चल पडे हैं अथवा सम्प्रदाय पहले से थे और पुराण बाद म बने।[3] हमारे उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिन गुह्य शैव शाक्त सम्प्रदायो को पुराणो म स्वीकार किया गया है वे किसी न किसी रूप म प्रागैतिहासिक काल म भी प्रचलित थे। पुराणो म इन सम्प्रदायो को स्वीकार भी किया गया है और साथ ही श्रेष्ठता का स्थान वैदिक परम्परा को दिया गया है।

पौराणिक युग (४०० ई० पू० से मध्य काल तक) म ब्राह्म, मौर्य, गाणपत्य, शाक्त, शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायो का विशेष प्रचार दिखाई पडता है। इनका अपना अपना देवता है और अपने अपने मन्त्र और पूजा विधान हैं। इन सम्प्रदायो को वैदिक स्वीकृति दिलाने के लिए पुराण घोर प्रयत्न करते हुए दिखाई पडते हैं क्योंकि याज्ञिक ब्राह्मण इन्हे स्वीकार नही करते थे। उपनिषदो

---

१ अनुशासन पर्व, अध्याय १४१।

२ वनपर्व, अध्याय २१३।

३ हिन्दुत्व : रामदास गौड सम्वत १६६५ वि पृ० १६२।

के प्रसाद के द्वारा ब्रह्म ने ही अनेक रूपों में देवताओं को स्वीकार कर सम्पूर्ण भारतवर्ष को धार्मिक दृष्टि से एक करने का प्रयत्न जितना पुराणों में दिखाई पडता है उतना अन्यत्र नहीं मिलता। इसीलिए १८ पुराणों में १० पुराण शैव हैं, ४ ब्राह्म हैं, २ शाक्त और २ वैष्णव हैं। विन्टरनित्ज के अनुसार महापुराणों में (उप-पुराणों में नहीं) सातवीं शताब्दी के बाद की घटनाएँ नहीं मिलती है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राचीन १८ महापुराणों को सातवीं शताब्दी तक लगभग वर्तमान रूप प्राप्त हो चुका होगा। इससे स्पष्ट है कि पुराणों द्वारा भी शाक्त शैव धारणाओं और साधनाओं का प्रचार होता रहा है और उनके साथ ही साथ उप-पुराणों, आगमों तथा परवर्ती शैव-शाक्त व वैष्णव उपनिषदों के द्वारा तांत्रिक साधना के प्रचार में वृद्धि हुई है।

ब्रह्मपुराण में शिव, शक्ति, गणपति, सूर्य व विष्णु की उपासना सम्बन्धी अनेक उल्लेख हैं। रामेश्वर लिंग की उपासना,[1] रुद्रमहिमा,[2] नृसिंह उपासना[3] नारायणकवच,[4] मार्कंडेय द्वारा भगवान के उदर में बालमुकुन्द का दर्शन,[5] कार्तिकेय व केसरी वानर की उपासना,[6] आदि के विवरणों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मपुराण में शिव व विष्णु के अवतारों व उपासनाओं का ही वर्णन अधिक है। विष्णु के अवतार कृष्ण का राम लीला के कुछ प्रमाण भी इस पुराण में मिलते है।[7] इन सब देवताओं की उपासनाओं में देवता, मंत्र, वाहन, वेष, कवच या स्तोत्र का महात्म्य अधिक दिखाई पडता है और देवता उपासना की यह पद्धति शुद्ध तान्त्रिक है।

पद्मपुराण में कापालिक व्रत-कथा मिलती है।[8] वैष्णवी व चामुण्डा शक्तियों द्वारा दैत्यवध के उल्लेख भी हैं।[9] इसमें तुलसी गणेश, दुर्गा तथा

---

१ ब्रह्मपुराण लब २८।
२ वही ३४-३६
३ वही ५८-
४ वही ६०
५ वही ५५
६ वही ८१-८४
७ वही १८६
८ पद्मपुराण, खंड १ अध्याय १४
९ वही १-३१

सूर्य की उपासना पर बल दिया गया है।[१] चूंकि पद्मपुराण का वर्तमान रूप वैष्णवों द्वारा बहुत बाद में प्राप्त हुआ है अतः इसमें ययाति को भी कृष्ण भक्त बताया गया है।[२] कामाक्षादेवी का वर्णन भी इसमें प्राप्त होता है।[३] कृष्ण की ब्रजलीला व राधा का कृष्ण की शक्ति के रूप में वर्णन किया गया है। यहाँ कृष्णमन्त्र व दीक्षादि का तान्त्रिक पद्धति पर निरूपण किया गया है।[४]

विष्णुपुराण में विष्णु-शक्ति लक्ष्मी की महिमा वर्णित है।[५] कृष्ण की रास लीला यहाँ भी प्राप्त होती है।[६] श्राद्ध में मधु-मासादि के दान का फल भी इस पुराण मे बताया गया है।[७] विष्णुपुराण में शिव को महत्व कम मिला है किन्तु लक्ष्मी तत्व के रूप में शक्तिवाद को स्वीकार किया गया है।

शिवपुराण मे विष्णुपुराण के विपरीत शिव की प्रधानता है। इसमें लिंग पूजा का महात्म्य अधिक बताया गया है।[८] साथ ही यज्ञयाग की भी प्रशंसा की गई है।[९] इस पुराण में शिव, सती, पार्वती तथा कुमार कार्तिकेय की कथाओं का विस्तार अधिक है। शतरुद्रसहिता में "अष्टमूर्ति" *शिव का वर्णन* है। वायवीय सहिता में अर्द्धनारीश्वर रूप भी वर्णित है। इसमें पाशुपत व्रत का भी वर्णन मिलता है। उमासहिता में देवी के चमत्कार वर्णित है। वायवीयसहिता के उत्तर खंड में शिव के मन्त्र वप, वस्त्र, अस्त्र आदि का विवरण है। आगमों मे वर्णित पद्धति इस पुराण में यथावत् मिलती है।[१०]

वायुपुराण पर शैव-प्रभाव अधिक दिखाई पडता है। पाशुपतयोग तथा

---

१ पद्मपुराण खण्ड १ अध्याय ८६,६०,६१,७७,८०,८१

२ पद्मपुराण भूमिखंड ८१

३ पाताल खंड १२ (पद्मपुराण)

४ " ६६-८३ "

५ विष्णुपुराण अंश १ अध्याय ८

६ वही " " ६

७ वही अंश ३ " १६

८ शिवपुराण रुद्रसहिता

९ वही विद्येश्वरसहिता १४

१० वायवीयसहिता उत्तरखंड १०-६० । (शिवपुराण)

मन्त्र योगो का वर्णन यहाँ मिलता है।[1] नारदीयमहापुराण मे तान्त्रिक पूजा पद्धति विशेष रूप मे दिखाई पडती है। यहाँ मन्त्रसिद्धि, दीक्षाविधि, गणेशमन्त्र, यन्त्रविधि, विष्णुमन्त्र, नृसिंहमन्त्र तथा नृसिंह-यन्त्र कथन, लक्ष्मण मन्त्र, हनुमन्मन्त्र, राधाकृष्ण मन्त्र, देवीमन्त्र आदि का वर्णन है। इस पुराण मे राधा-पूजा पद्धति पूर्णतया "तान्त्रिक पूजा विधान" के अनुरूप दिखाई पडता है। रुक्मिणी, दुर्गा, ललिता, महालक्ष्मी, राधा आदि शक्तियां के रूप मे स्वीकृत है।[2] लिंगपुराण मे भी शैव-प्रभाव दिखाई पडता है। उत्तरार्ध मे वैष्णव धर्म की भी स्वीकृति है। इसमे संगीत द्वारा विष्णु-आराधना पर बल दिया गया है।[3]

अग्निपुराण मे विष्णु, नवग्रह, सरस्वती, विष्णु के द्वारपाल वासुदेव की पूजा, मुद्रा, मन्त्र, दीक्षा, अभिषेक, मडल, कुम्भपूजा आदि पूर्ण तान्त्रिक विधि के अनुसार वर्णित है।[4] इस पुराण मे अभिचार का वर्णन भी मिलता है।[5] इसी तरह वाराहपुराण मे शैव व वैष्णव प्रभाव मिश्रित रूप मे प्राप्त होता है।[6] मार्कण्डेयपुराण मे मार्कण्डेय के योग का चमत्कार वर्णित है। मार्कण्डेय भारतीय परम्परा मे आदि योगी माने जाते है। इनके साथ दत्तात्रेय, अलर्क आदि का योग पद्धतियाँ भी वर्णित है। वामनपुराण मे भी शैव व शाक्त प्रभाव अधिक दिखाई पडता है। कूर्मपुराण मे हरिहर के अभेद पर बहुत बल दिया गया है और योग सिद्धि के लिए अभेद बुद्धि आवश्यक मानी गई है।[7] मत्स्यपुराण मे भी शिव, विष्णु तथा शक्ति की आराधना तथा इन देवताओं के महात्म्य का बहुत विस्तार किया गया। गरुडपुराण और ब्रह्माडपुराण मे भी यही प्रवृत्ति दिखाई पडती है।

श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्तपुराणो मे शैव शाक्त साधनाओ तथा वैष्णव साधना का समन्वय सबसे अधिक मिलता है। शिव व पार्वती की रति लीला के अनुकरण पर कृष्ण और गोपो की केलिलीला का विस्तार इन पुराणो मे

१ वायुपुराण ११-१५
२ नारदमहापुराण पूर्वार्द्ध ८२-८६
३ लिंगपुराण उत्तरार्द्ध २
४ अग्निपुराण २१-७७
५ वही १३८
६ वाराहपुराण अध्याय ३३-४२-४३-४४-४५-४६
७ कूर्मपुराण उत्तरार्द्ध-४

अधिक देखा जाता है। कपिल जैसे योगी को भी भागवतपुराण "परमभागवत भक्त" रूप में चित्रित करता है।[1] दशम स्कन्ध मे कृष्ण की गोकुल वृन्दावन लीला का विस्तार है और उसके ध्यान को ही पुरुषार्थ बताया गया है। हरिवंश-पुराण मे भी कृष्ण लीला का विस्तार मिलता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण म शंकर श्रीकृष्ण की स्तुति करते है।[2] यहाँ सृष्टि श्रीकृष्ण से विकसित होती है। यहाँ श्रीकृष्ण प्रत्येक देवता को शक्ति का दान करते है। नारायण का लक्ष्मी तथा महेश्वर को दुर्गा भेट की जाती है।[3] शक्ति व शक्तिमान की एकता व दोनो की एक साथ पूजा पर यह पुराण बहुत अधिक बल देता है। राधा की पूजा पद्धति मे तान्त्रिक पद्धति का अनुकरण किया गया है। राधा का ध्यान है, मन्त्र है और कवच या स्तोत्र भी मिलता है।[4] राधा की महत्ता स्थापन ही इस पुराण का मुख्य उद्देश्य है। एक जगह राधा यशोदा को भक्ति व ज्ञान का उपदेश देती है।[5] शिव-गौरी रति-विलास का अनुकरण यहाँ चरम सीमा पर दिखाई देता है। श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण को बहुत से विद्वान इसीलिए परवर्ती पुराण मानते हैं।

देवी भागवत भी परवर्ती पुराण माना जाता है। इसम देवी की महिमा व उसकी पूजा पद्धतिया का वर्णन है। भक्ति, योग व ज्ञान यहाँ मिश्रित रूप म प्राप्त होत ह। वेद से स्वाहा 'स्वाधा' आदि को लेकर इन्हे शक्ति रूप दिया गया है। राधा व दुर्गा को इस पुराण मे समान स्थान दिया गया है।

श्रीमद्भागवत, देवीभागवत तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण को महापुराणा म माना जाय या नही यह विवादास्पद है। तथ्य यह है कि इन पुराणा म सभी प्रकार की साधनाओं व धारणाओं मे अविरोध स्थापित करने का प्रयत्न अधिक है। यद्यपि अपने अपने इष्ट देवता की प्रभुता-स्थापन पर भी बहुत बल दिया गया है। भविष्य पुराण मे परम्परागत धर्म के आचरण की आवश्यकता बताई गई है।[6] अर्थात् जो कुछ हमारी संस्कृति म है सबको स्वीकार करना चाहिए,

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण-स्कन्ध-३-अध्याय २५
२ ब्रह्मवैवर्त-ब्रह्मखण्ड-३
३ वही " ६
४ वही प्रकृति खड ५५-५६
५ वही उत्तरार्द्ध १११
६ भविष्यपुराण-८

इसी प्रकार गणपति अनार्यों का देवता था, यह गेटी ने भलीभांति प्रमाणित किया है। गणेश प्रागैतिहासिक काल अर्थात् आर्यपूर्व युग मे जनता द्वारा पूजित था। जिस तरह हिन्दू धर्म मे सर्प, नागदेव, वानर, हनुमान और पक्षी गरुण हो गए उसी प्रकार हाथी भी गणेश मान लिया गया। इसी तरह कच्छप व मछली आदि को विष्णु का अवतार मान लिया गया।[1]

इस प्रकार पुराणो मे जो नाना देवी देवता स्वीकृत है, उनमे अधिकाश जनता के निम्न स्तरों से आए हैं, उनके आर्यीकरण का महान प्रयत्न पुराणो और आगमो में ही हुआ है। आज गणपति की यज्ञ में सर्व प्रथम पूजा की जाती है जो अवैदिक देवता है। शालग्राम की पूजा अनार्य उपासना है।[2] भक्ति अनार्य उपासना है।[3] इष्ट देवता या कुल देवता की कल्पना अवैदिक है। प्रथम दक्षिण के शैव और वैष्णव मंदिरो मे पुजारी सातानी या सातादवन अर्थात् शिखासूत्र विहीन लोग हुआ करते थे। बाद मे इनकी जगह ब्राह्मण पुजारी हुए। स्वयं पौराणिकों को वैदिक लोग अब तक महत्व नही देते है। पुराणों मे जिन व्रतों का इतना महत्व है, वह वैदिक साहित्य मे प्राप्त नही होता, न तीर्थों का वहाँ महत्व मिलता है। इसीलिए अवैदिकों को तैर्थिक कहा जाता था।[4] भक्ति को स्पष्टतः ही पद्मपुराण अवैदिक मानता है—

उत्पन्ना—द्राविड़े चाहं, कर्णाटे वृद्धिमागता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्ज्जरे जीर्णमागता।[5]

पुराणो मे जिन नाना जातियो का उल्लेख मिलता है उससे भी यह प्रमाणित होता है कि बौद्ध युग से लेकर ईसा की छटी शताब्दी तक आर्य अनार्य सम्पर्क व सास्कृतिक आदान-प्रदान बहुत अधिक हुआ है। इसी के फल पुराण हैं। छटी शताब्दी के आसपास से शैव, शाक्त वैष्णव तथा बौद्ध तन्त्र का निर्माण द्रुतगति से होता है।

तन्त्रो मे जन सामान्य मे प्रचलित कोमल व भयंकर आचारो को भी

---

१ गेटी : गनेश भूमिका—२० फाउचर
२ संस्कृति संगम पृ० ५०
३ वही पृ० ५१
४ वही पृ० ५६-५७तथा ए० के० सूर : प्री एरियन ऐलीमेन्टस इन इंडियन कल्चर, कलकत्ता, १९३४।
५ संस्कृति संगम से उद्धृत

कल्याण का विषय बनाया गया। जिन तत्त्वों को पुराण केवल स्वीकार करते हैं तन्त्र उन्हीं तत्त्वों को साधना का विषय बना कर चलते हैं। अतः पुराणों व तन्त्रों में बहुत से सामान्य तत्त्व मिलते हैं। किन्तु यह भी मानना पड़ता है कि पुराणों में पुनः विस्तार वैदिक तत्त्व प्रबल है। उनमें अर्थवादिता अधिक है। जबकि तन्त्रों में मनुष्य के दुर्बल अंशों को भी साधना द्वारा रूपान्तरित किया गया है।

इस प्रकार बौद्ध युग में पुराणों द्वारा स्वीकृत देवता तथा पूजा पद्धतियों में निम्न जनता से प्राप्त तत्त्व आये हैं और तन्त्रों की ही तरह पुराणों में देवता के मन्त्र, मुद्रा, न्यास, यन्त्र आदि की उपासना होती है। अतः पुराणों और तन्त्रों में जो विरोध देखते हैं वे भूल करते हैं किन्तु पुराण वैदिक कर्मकाण्ड व ऋषि मुनियों के मत का अधिक प्रचार करते हैं जबकि तन्त्रों में वैदिक कर्मकाण्ड और वर्णाश्रम धर्म के समानान्तर चलने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है।

स्मृतियों की तुलना में समाज के निम्न वर्गों के प्रति जिस प्रकार तान्त्रिक साधक उदार दृष्टिकोण अपनाते हैं, उसी प्रकार पुराण भी सम्पूर्ण वर्गों के आनन्द पर ध्यान देते हैं, यद्यपि वे उतने उदार नहीं हैं जितने कि तन्त्र। कुलार्णव तन्त्र में पुराणों के उदार दृष्टिकोण की प्रशंसा की है।[1]

---

१ पुण्य पापादिकथनाद्गद्येत्यादिवारणात् ।
नन्दनात्मकं वर्णानां, पुराणमिति कथ्यते । "हंस विलास" से उद्धृत
गायकवाड़ ओरि० सीरीज, १९३७ पृ० २०

३

षड्दर्शन तथा तन्त्र

षड्दर्शन से तात्पर्य, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त से है। दर्शन में जगत्, जीव और ब्रह्म की तर्कसंगत व्याख्या की जाती है। यहाँ हमारा तात्पर्य षड्दर्शनों के प्रामाण्यवाद से नहीं, मान्यताओं से है, जिन्हें विभिन्न प्रमाणों से तर्कसंगत बनाने की चेष्टा की गई है।

सांख्य में प्रकृति व पुरुष इन दो स्वतन्त्र तत्वों को स्वीकार किया गया है। सांख्य की अव्यक्त प्रकृति के सिद्धान्त से बहुत पूर्व जगत के मूल में नाना शक्तियों की कल्पना की गई है। आर्य व अनार्य नाना देवी देवताओं की पूजा करते थे। ब्रह्म को मायावी और जगत् को माया कहने के मूल में सम्भवतः अथर्ववेदी जादू के सिद्धान्त की ही कल्पना थी। उपनिषदों ने इसे दार्शनिक रूप दिया और सांख्य ने उसे अंधशक्ति या जड शक्ति के रूप में अपनाकर उसे ही अव्यक्त प्रकृति कहा जो नटी की तरह अभिनय करती है और पुरुष को मोह लेती है। अतः वेदान्त सूत्र के मायावी ब्रह्म, माया शक्ति, तथा सांख्य के अव्यक्त प्रकृति के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में कुछ आदिम विश्वास हैं जिन्हें हम अथर्ववेद के अध्ययन में देख चुके हैं। आगे चलकर शांकर-वेदान्ती 'मायावाद' शाक्त, शैव तथा वैष्णव अपने शक्तिवाद को व्यवस्थित करते हुए दिखाई पड़ते हैं। शाक्त, शैव तथा वैष्णव सृष्टि का सारा कार्य ब्रह्म की शक्ति

से कराते है और उस शक्ति को ब्रह्म का ही एक रूप मानते है जब कि वेदान्ती उस माया को ब्रह्म का ही एक रूप नहीं मानते ।

किन्तु यह मानना होगा कि शाक्त, शैव तथा वैष्णव विचारकों ने सांख्य के 'परिणामवाद' से—त्रिगुणात्मिका शक्ति के सिद्धान्त से बहुत कुछ उधार भी लिया है । जगत् को सत्य मानकर चलने वाले तांत्रिकों ने प्रकृति, बुद्धि, अहंकार तन्मात्र और पंचमहाभूत आदि को स्वीकार किया है । यहाँ तक कि वेदान्त ने भी 'प्रपंच' की व्याख्या के लिए सांख्य के तत्वों को स्वीकार किया है । शाक्त, शैव तथा वैष्णव आगमों में सत्ता एक है और सांख्य में दो है, बस यही मौलिक भेद है । आगम एक से अनेक को शक्तिवाद के अनुसार समझाते हैं । बिना विकृत हुए सत्ता । शिव, विष्णु । जगत के रूप में अपने एक रूप 'शक्ति' के द्वारा व्यक्त हो जाती है । इस सिद्धान्त पर सांख्य का प्रभाव दिखाई पड़ता है । इसी तरह शक्ति द्वारा सत्य प्राप्ति पर भी सांख्य का प्रभाव दिखाई पड़ता है ।[1] तांत्रिक अव्यक्त प्रकृति की जगह शक्ति को स्थानापन्न कर देते है, सांख्य की तरह उसे जड़ शक्ति न मान कर उसे "चित् शक्ति" पार्वती, उमा, परादेवी या लक्ष्मी कहते है ।

इस शक्तिवाद से तांत्रिक अपने को अविकृत परिणामवादी सिद्ध करते है । सांख्य के द्वैत तथा वेदान्त के मायावाद इन दो अतिवादों का सामंजस्य आगम अपने शक्तिवाद में खोजते है । जगत् लीला है, आभास है जो ब्रह्म की शक्ति द्वारा, उसके भीतर ही होती है अतः प्रकृति व पुरुष दो सत्ताएं नहीं, सत्ता एक है । शक्ति व शक्तिमान एक और अभिन्न है । दूसरी ओर आगम जगत को मिथ्या नहीं मानते, उसे सत्य मानते है क्योंकि वह भी शक्ति का ही एक रूप है और यह शक्ति "चन्द्र-चन्द्रिकावत्" ब्रह्म का ही रूप होने से वेदान्तियों की माया शक्ति की तरह जड़ नहीं है, यह शुद्ध चित् शक्ति है । इस प्रकार आगम दर्शन—सांख्य से प्रभावित होकर अपनी मौलिकता की रक्षा करता है और द्वैत—अद्वैत का समन्वय प्रस्तुत करता है । हम कह चुके है कि पाशुपत-मत द्वैतवादी है और आठवीं शताब्दी के पूर्व के शैवागमों में भी द्वैतवाद मिलता है । परन्तु आठवीं शताब्दी के पश्चात द्वैत और अद्वैतवाद के समन्वय करने की ओर आगम अधिकाधिक प्रवृत्त होते जाते हैं ।

---

१ इंटर नेशनल इस्यू आफ द तांत्रिक ओर्डर जर्नल जिल्द ५ नं० १, न्यूयार्क पृ० १२५

जिस प्रकार वेदान्त अपनी व्याख्या के लिए जाग्रत-स्वप्न, सुषुप्ति को स्वीकार करता है उसी प्रकार शाक्त और शैव शब्द या नाद के द्वारा सृष्टि विकास समझाते है।[1] मीमांसा मे शब्द को शाश्वत सत्ता माना जाता है। वहाँ शब्द ब्रह्म कहलाता है। पाणिनि शैव थे और उनके प्रथम सूत्र माहेश्वर-सूत्र कहलाते है। कहते हैं कि शिव की डमरू की ध्वनि मे ही १४ मूल ध्वनियों की सृष्टि हुई है और उसी से सारा वाङ्मय बना है अत. वैयाकरणो ने भी भाषा का अनुशासन १४ सूत्रों के द्वारा ही किया है। तात्पर्य यह है कि मीमांसा के शब्द-सिद्धान्त के मूल में शैव नाद सिद्धान्त है किन्तु यह सत्य है कि मीमांसकों और वैयाकरणों ने तात्विक दार्शनिकों मे भी पूर्व शब्द ब्रह्म का विवेचन किया था और बाद मे शैव-शाक्त आगमो मे भी इसी नाद-सिद्धान्त का पल्लवन हुआ। वैष्णवों का सृष्टि सिद्धान्त कञ्चुक या आवरण सिद्धान्त पर स्थापित किया गया है। उन्होंने नादबिंदु सिद्धान्त से उतनी सहायता नही ली। किन्तु शाक्त-शैव आगमो मे शब्द-साधना या मातृका-साधना की व्याख्या मे नाद सिद्धान्त का मीमांसा से अद्भुत सादृश्य मिलता है।

शब्द को शाश्वत मानने मे तथा समष्टि-शब्द (नाद) प्रक्रिया तथा व्यष्टि-शब्द-प्रक्रिया को एक मानने मे मीमांसा व शाक्त-शैव तन्त्र एक ही आधार पर खडे किए गए हैं। दोनो शब्द को 'वर्ण' मानते है और वर्ण नाद का ही आकुंचित रूप है जो अव्यक्त रूप मे सर्वत्र व्याप्त है। वर्ण नादात्मक है। वर्ण पर ध्यान केन्द्रित करने और उसके उच्चारण (जप) से नाद जाग्रत हो जाता है, सुषुप्त शक्ति या देवता की जागृति का भी यही कारण है। इस प्रकार मीमांसा का शब्द-सिद्धान्त तन्त्रों की प्राचीन शैव-परम्परा का ही एक विकसित रूप है।

बौद्धतन्त्र सृष्टि-प्रक्रिया को इस पद्धति पर नहीं समझाते क्योंकि बौद्ध-तात्विक दार्शनिक दृष्टि से या तो शून्यवादी है या विज्ञानवादी। शून्यवादी जगत की सांवृतिक सत्ता मानते हैं और विज्ञानवादी जगत की सत्ता न मानकर केवल क्षण क्षण परिवर्तित विज्ञान को ही सत्ता मानते हैं अत. उनके यहाँ बाह्य-सृष्टि प्रातीतिक है और इस प्रातीतिक परम्परा का प्रभाव

---

१ द जनरल इंट्रोडक्शन टू तन्त्र फिलोसफी ; सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता, पृ० १५६ कलकत्ता - १९४१ 'फिलोसफीकल एसेज नामक पुस्तक मे संकलित।

आधार वेदान्त पर गत है। शंकराचार्य भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हैं।

पारमार्थिक सत्ता की दृष्टि से वेदान्तसूत्र का वेदान्त तथा शाक्त, शैव तान्त्रिक बौद्ध तथा गाणपत्य वैष्णव उपनिषदों की आनन्दवादी परम्परा को आधार मानकर चले हैं। ब्रह्म आनन्द का ही पर्याय है। जीव का स्वरूप भी आनन्द ही है। किन्तु, आवरण या पाशों के कारण यह आनन्द आवृत रहता है। आवरण के कारण यह आनन्द क्षीण और क्षणिक रूप में जीवन के आनन्दों में व्यक्त होता है। इसे स्थायी बनाना ही तान्त्रिकों का उद्देश्य है। सभी तान्त्रिक पारमार्थिक आनन्द प्राप्त करने के लिए मनुष्य के रागात्मक आनन्द को ही माध्यम बनाते हैं जबकि वेदान्त रागात्मक आनन्द को भ्रम मानकर उसका त्याग ही विधेय ठहराता है। यही वेदान्त और तान्त्रिक दृष्टि में अन्तर है। यह विचित्र तथ्य है कि बौद्ध तान्त्रिक जगत को सांवृतिक सत्य मानकर ही रागात्मक आनन्द को साधना का माध्यम मानते हैं जबकि जगत की व्याख्या उन्हीं से उधार लेने वाले शंकराचार्य वैराग्यमूलक दृष्टिकोण अपनाते हैं। शाक्त-शैव व वैष्णवों में यह वैचित्र्य इसलिए नहीं मिलता क्योंकि वे तो जगत को आनन्दमयी शक्ति का ही विकास मानते हैं अतएव रागात्मक रूप में व्यक्त होने वाला आनन्द पारमार्थिक आनन्द का ही सहायक है।

मोक्ष के सिद्धान्त की दृष्टि से तान्त्रिक, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त, तथा वेदान्ती विचारक उपनिषदों की परम्परा को ही स्वीकार करते हैं यद्यपि मोक्ष में जीव की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं। उदाहरणतः वैष्णव मोक्ष की अवस्था में भी जीव की सत्ता मानते हैं जबकि शाक्त-शैव आगम ब्रह्मानन्दमय होने के बाद जीव का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं मानते। न्याय, वैशेषिक तो केवल क्लेश-नाश को ही मुक्ति मानते हैं। सांख्य की मुक्ति में विवेक की ही प्रधानता है आनन्द की नहीं। अतः तान्त्रिकों के आनन्द की कल्पना षड्दर्शनों में केवल वेदान्त से सादृश्य रखती है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा वेदान्त मनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक अनुभवों में द्वन्द्व मान कर चले हैं जबकि तान्त्रिक इनमें अविरोध स्थापित करते हैं अतः तान्त्रिक दर्शन षड्दर्शनों का पूरक दर्शन है। यदि वह सांख्य, योग तथा उपनिषद्-परम्परा से कुछ ग्रहण करता है तो उनकी उक्त कमी को पूरा भी करता है।

तान्त्रियोग कुंडलिनी योग पर आधारित है। पांचरात्र वैष्णव योग को स्वीकार करते हैं परन्तु आगे वे वैष्णव भक्तिभाव पर ही बल देते हैं। तान्त्रिक कुण्डलिनीयोग पातंजलयोग के षडंग या अष्टांग योग को स्वीकार करता है। राजयोग भी तान्त्रिकयोग में स्वीकृत है। किन्तु ब्रह्म, जगत् व जीव सम्बन्ध में तान्त्रिकों की धारणाएं पातंजलयोग से भिन्न हैं। स्वयं योग का सिद्धान्त आर्य पंडितों व साधकों ने अथर्ववेद की तपस्वी व योगी परम्पराओं में ग्रहण किया था। तान्त्रिक रसायनयोग पर सांख्य का प्रभाव दिखाई पडता है। सांख्य-योगियों का विश्वास था कि भूततत्व में शक्ति की वृद्धि, रक्षा, रूपान्तरण तथा नाश की शक्ति है। भूततत्व में शक्ति स्थिर है। इस मूल सिद्धान्त से ही भूत तत्वों के द्वारा शक्ति-वृद्धि के नाना उपायों का आविष्कार हुआ है अतः रसायनयोग पर सांख्य प्रभाव दिखाई पडता है।[1]

इस प्रकार तान्त्रिक दर्शन का सम्बन्ध षड्दर्शनों से देखने के पश्चात् हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि तान्त्रिक दर्शन और साधना मूल वैदिक यज्ञ-मार्ग को स्वीकार न करके प्रागैतिहासिक योग परम्परा में ही एक नवीन अध्याय जोडती है। दार्शनिक दृष्टि से उसका सादृश्य उपनिषदों, मीमांसा, सांख्य और वेदान्त में दिखाई पडता है किन्तु तान्त्रिकों की सबसे महत्वपूर्ण देन द्वैत और अद्वैत में समन्वय प्रस्तुत करना तथा मनोवैज्ञानिक और पारमार्थिक आनन्द के विरोध को समाप्त कर देना है। सामाजिक दृष्टिकोण से तान्त्रिक दर्शन भेदभाव समर्थक ब्राह्मण—बौद्ध पौरोहित्य का विरोध करता है तथा समाज के सभी स्तरों को एक समान भाव-भूमि पर लाने के लिए प्रयत्न करता है।

---

१ पी० सी० राय . हिस्ट्री आफ केमिस्ट्री पृ० २४८ कलकत्ता १९५६।

द्वितीय अध्याय

विभिन्न तांत्रिक सम्प्रदाय

१

विभिन्न तांत्रिक सम्प्रदाय

तान्त्रिक जैनमत—जैनमत मूलत योगमत है, इस योग म कृच्छ्र साधनाओं द्वारा राग का सर्वथा नाश ही ध्येय है। राग के नाश क लिए जैनाचार को अत्यधिक कठोर बनाया गया है। यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय अकाल पडन पर भद्रबाहु की देखरेख म दक्षिण जाने वाले जैन साधक जब श्वेत वस्त्र धारण करन लगे तो उत्तर क नग्न जैन भिक्षुओं ने उन्हे स्वीकार नहीं किया और केवल वस्त्र की सुविधा को भी भोग-प्रवृत्ति मानकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय को अलग कर दिया गया।

फिर भी कठोर आचार व साधनाए केवल सन्यासियों क लिए ही स्वीकृत की गई है। गृहस्थो म जैनमत अपेक्षाकृत कोमल है। जैन आगम म स्वर्ग और नर्क का भी विधान मिलता है। तीर्थंकरो की पूजा जैन गृहस्थ उसी प्रकार करते है, जैसे बौद्ध, शाक्त, शैव व वैष्णव करते ह। जैनियो क तीर्थंकरो व हिन्दुओं क ईश्वर म केवल नाम मात्र का ही अन्तर ह। ईश्वर की उपासना से जो मिलता है वह तीर्थंकर-उपासना म भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार हिन्दुओं का ईश्वर व महात्म्य, उसक रूप, वप, वाहन, मत्र आदि म विश्वास है उसी प्रकार तीर्थंकरो के अलग अलग मत्र और यत्र है। उनकी प्रकार महात्म्य कथाएँ ह जो जैन पुराणो म मिलती है। भक्ति, दवता म विश्वास, मत्र साधना, पूजा, उपासना सब कुछ जैन मत म प्राप्त होता है। इस प्रकार जनप्रिय जैनमत का स्वरूप तान्त्रिक मत स भिन्न नही दिखाई पडता। यह जनप्रिय रूप आठवी शताब्दी स और भी अधिक महत्व प्राप्त करता है।

आदिपुराण 'जिनसेन' का समय भी यही है। तात्पर्य यह है कि तान्त्रिक युग में ही जैनमत के जनप्रिय रूप पर तान्त्रिक प्रभाव देखा जा सकता है।

जैनशासन में तीर्थंकरों की धारणा व ध्यान तान्त्रिक पद्धति के अनुसार प्रचलित है। ध्यान के चार रूप जैनमत में मिलते हैं—(१) पिंडस्थ (२) पदस्थ (३) रूपस्थ (४) रूपवर्जित। पिंडस्थध्यान में ध्यान का आलम्बन पिंड के भीतर माना जाता है। पदस्थ ध्यान में वाक्य, वर्ण तथा पद पर धारणा की जाती है। इसी को शाक्त, बीज मातृका साधना कहते हैं। रूपस्थ ध्यान में अर्हत् के रूप का ध्यान किया जाता है, उसके साथ तादात्म्य किया जाता है। रूपवर्जित ध्यान में आत्मचिन्तन होता है।[1] निराकारमतावलम्बी योगी ऐसा ही ध्यान करते हैं।

तान्त्रिकों में भूतविजयसाधना में आकाश, वायु, अग्नि आदि तत्वों का ध्यान कर इन पर विजय प्राप्त की जाती है। जैनमत के पिंडस्थ ध्यान में यह सिद्धान्त भी स्वीकृत है।

हेमचन्द्र यह स्वीकार करते हैं कि आत्मतत्व के ध्यान में मग्न योगी को डाकिनी, शाकिनी, आदि शक्तियाँ सताती हैं। बहुत से सामान्य जैनसाधक इन निम्न शक्तियों को भी वश में करते थे[2] और इस प्रयत्न में तान्त्रिकों की पद्धति अपनानी पड़ती थी।

पिंडस्थध्यान में तान्त्रिकों का षट्चक्रवेध पूर्णतया स्वीकृत है। जैन योगी नाभिस्थान में १६ दल, १६ स्वर मातृकाएं, हृदयस्थान में २४ दल, २५ वर्ण, नाभिस्कन्द के नीचे आठ दल, अर्हत् पद आदि का ध्यान करके सुषुम्णा नाड़ी के मार्ग से जीव शक्ति को ऊर्ध्वगामिनी करते हैं। जैन नाड़ीयोग में १६ विद्या देवियाँ, अमृततत्व आदि सभी तान्त्रिकतत्व स्वीकृत हैं, अन्त में मूर्धा (चन्द्र) में अर्हत् के साथ तादात्म्य करके "सोऽम् सोऽम्" की भावना की जाती है। इष्ट देवता या अर्हत् के साथ एकीभाव प्राप्त होने से पिंडस्थध्यान सफल होता है। इस योग में तान्त्रिकों का पूरा मंत्र शास्त्र स्वीकार किया गया है। 'अरिह-'ताणम्'यह जैन पंचाक्षरी है। प्रणव (ओउम्) तथा माया (ह्रीं) आदि बीजाक्षर

---

१ शक्ति अंक - कल्याण - गोरखपुर, पृ० ५४७-५४६

२ द्रष्टव्य—ए हिस्ट्री आफ क्रिटीकल मन्त्रशास्त्र एम० भावेरी

भी स्वीकृत है। अंतर केवल यह है कि जैनयोग में वामाचार स्वीकृत नहीं है, शेष बातें तान्त्रिक हैं।

जैनयोग व उपासना में शाक्ततत्व बहुत अधिक हैं। बालचन्द्र सूरि ने वसन्तविलास के मंगलाचरण में सरस्वती की प्रार्थना इस प्रकार की है—

ज्योतिस्तडिद्दंडवती सुषुम्णा-कादम्बिनी मूर्ध्नि यदाम्युपेति।

अर्थात् जब सुषुम्णा नाम की नाडी रूपी बदली सरस्वती के तेजोमय बिजली के दंडभेदन से भेदित हो कर मूर्धा में आकर निवास करती है।[1] शाक्तों की पद्धति पर जैनागम में तीर्थंकर की "शासनदेवता" के रूप में शक्तिपूजा स्वीकृत है, श्वेताम्बरमत में २४ देवियों के नाम मिलते हैं तथा सरस्वती के १६ व्यूह माने गए हैं।

चक्रेश्वरी, अजितबला, दुरितारी, कालिका, महाकाली, श्यामा, शान्ता, ज्वाला, सुतारिका, अशोका, श्रीवत्सा, चंडा, विजया, अंकुशा, पन्नगा, निर्वाणी, बला, अम्बिका आदि देवियों की उपासना जैनियों में प्रचलित है।

सरस्वती के १६ विद्या व्यूहों में भी यही स्थिति दिखाई पड़ती है। रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृंखला, कुलिशांकुशा, चक्रेश्वरी, नरदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, सर्वास्त्रमहाज्वाला, मानवी, वैरोट्या अच्छुप्ता, मानसी तथा मानमानसिका इन १६ देवियों में कुछ नाम गढ़ लिये गए हैं और कुछ स्थानीय देवियों के नाम हैं। सिद्धायिका देवी की पूजा दिगम्बर जैन भी करते थे।[2] दिगम्बरों में भी मंत्रवाद प्रचलित था और ११ वीं शताब्दी में मल्लिषेण ने भैरवपद्मावती कल्प, ज्वालामालिनी कल्प, कामचाण्डाली कल्प तथा विद्यानुवाद आदि कई तंत्र ग्रन्थ लिखे हैं।[3] किन्तु स्पष्ट है कि भूत-प्रेत-सिद्धि को जैन उसी प्रकार महत्व नहीं देते जिस प्रकार उच्च कोटि के तान्त्रिक "भूतडामर" जैसे तंत्रों को महत्व नहीं देते हैं।

मठपति तथा वनवासी, जैन साधकों के ये दो भेद हैं। तान्त्रिक जैन मठों में रह कर ही साधना करते थे और देवी-अर्चन, वशीकरण, अंगनाकर्षण, गारुडी-विद्या आदि का अभ्यास करते थे।

---

१ कल्याण-शक्ति अंक पृ० ५४६

२ जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी, पृ० ४७०, बम्बई, १९५६ द्वितीय संस्करण।

३ वही पृ० ४९२। मल्लिषेण के दो तंत्र प्रकाशित हो चुके हैं—सरस्वती भवन, बम्बई।

२

तांत्रिक बौद्धमत

तांत्रिक बौद्धमत कर्मकांड और आरम्भिक हीनयानी मत की कठोर नैतिकता के विरुद्ध प्रादुर्भूत हुआ। आरम्भिक बौद्ध-धर्म में तपस्या और योग को स्वीकार किया गया था। उसकी प्रतिक्रिया में भिक्षु-संघों के भीतर गुह्य समाजों का संगठन हुआ। इन गुह्य समाजों का विकास महायान सम्प्रदाय के क्रोड़ में हुआ। महायानियों ने हीनयानियों की शब्दावली की भिन्न दार्शनिक व्याख्या की और इस दार्शनिकता को ही महायानी तांत्रिकों ने स्वीकार कर लिया। बुद्धत्व, कायासिद्धान्त, शून्य, पंचस्कंध, धातु, आयतन, आर्यसत्य, निर्वाण आदि शब्दों की महायानियों ने नई व्याख्या की है।[1] बौद्ध धर्म के विकास को निम्न सोपानों में विभाजित किया जा सकता है—

१—शुद्ध हीनयान मत ४५० ई० पू० से ३५० ई० पू० तक

२—मिश्रित हीनयानमत ३५० ई० पू० से १०० ई० पू० तक

३—महायान मत का प्रारम्भ और विकास—१०० ई० पू० से ३०० ई० पश्चात् तक।

---

१. महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन टु हीनयान-नलिनाक्षदत्त, लंदन १९३०।

४—तान्त्रिक बौद्ध, मत चतुर्थ शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक।

तान्त्रिक बौद्धमत ईसा की चतुर्थ शताब्दी के पूर्व गुह्य समाजों के रूप मे विकसित होता रहा और छठी शताब्दी तक उसका रूप निश्चित हो गया।

डा० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार तान्त्रिक बौद्धमत का प्रथम रूप निम्नलिखित ग्रंथों मे मिलता है।[1]

१—विद्याधर पिटक

२—सुखावती व्यूह

३—मंजु श्री मूल कल्प

ये रचनाएँ ईसा के जन्म समय के आसपास की हैं। मंजुश्रीमूलकल्प मे शाक्य मुनि व मंजुश्री के सम्वाद रूप मे मंत्र साधना का वर्णन मिलता है। इसमे विष्णु और रुद्र दोनों को स्वीकार किया गया है। शाक्य मुनि का स्पष्ट कथन है कि पूर्व कल्पों मे शिव ने जिस मार्ग का उपदेश दिया था उसी का उपदेश मैं कर रहा हूँ।[2]

इस तंत्र का समकालीन ही सद्धर्मपुंडरीक नामक ग्रन्थ है जिसमे अनेक तांत्रिक तत्व मिलते है। सभी वर्गों के लिए इसमे सरल साधना का उपदेश दिया गया है।[3] पौराणिकों के स्वर्गों की तरह इसमे सुखावती स्वर्ग का वर्णन किया गया है। शास्त्र के मर्म को लोक भाषा मे लिखित धारणी मंत्रो मे सुरक्षित किया गया है, जिनके श्रवन स्मरण तथा जप से मूल पुस्तक के पाठ का लाभ प्राप्त होता है। इसलिए कठोर तप और योग को अनावश्यक बताया गया है। गौतम बुद्ध को भैषज्यराज अर्थात् रसायन शास्त्री के रूप मे चित्रित किया गया है।[4] अथर्ववेद की तरह इसमे राक्षस-प्रेत-पिशाच साधना भी मिलती है। गौतम बुद्ध इन तन्त्रो मे संध्या भाषा का प्रयोग करते हैं जो सन्त कवियो के लिए प्रेरक बनी है।[5] सुखावती व्यूह तंत्र मे सम्मोहनजन्य ध्यान

---

१ साधनमाला भाग २, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा

२ मंजुश्री मूल कल्प : गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम सीरीज, पृ० ५२३, १९२० ई०

३ सद्धर्मपुंडरीक : सम्पा० कर्न, पृ० १३७, सेंटपीटर्सबर्ग, १९१२ ई०

४ वही पृ० ३९७ - ३९८

५ दुर्बोध्यं शारिपुत्र तथागतस्य संधाभाष्यम् सद्धर्म० पृ० ३९

का वर्णन किया गया है। कारण्डव्यूह में अवलोकितेश्वर व सुखावती स्वर्ग का वर्णन मिलता है। अवलोकितेश्वर का विराट रूप भी यहीं वर्णित है।[1] इसमें आकाश को लिंग, पृथ्वी को लिंग की पीठिका और सृष्टि को भगवान की लीला कहा गया है।[2]

प्रवृत्ति प्रधान जीवों के लिए ही तंत्र मार्ग का आविष्कार बताया गया है। कारण्डव्यूह में "ओं मणिपद्मे हुं"—यह षडक्षरी महाविद्या मिलती है। यही परम्परा गंडव्यूह, स्वर्णप्रभा और समाधिराज तन्त्रों में भी मिलती है। इन बौद्ध तंत्रों पर शैव प्रभाव दिखाई पड़ता है। तान्त्रिक बौद्ध मत का निश्चित स्वरूप तथागत गुह्यक नामक तंत्र में मिलता है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य इसका समय तृतीय शताब्दी मानते हैं।[3] इसका प्रथमार्द्ध और उत्तरार्द्ध नवीन है। इस तंत्र में गौतम बुद्ध तथागतों, ध्यानी बुद्धों तथा शक्तियों आदि की संगीति में उपदेश देते हैं। भोग द्वारा योग की साधना का वर्णन है। आनु-सिद्धि के लिए विधिनिषेध की अवहेलना और शक्ति-साधना का वर्णन यहाँ मिलता है। हठयोग को शक्ति साधना के सहायक के रूप में स्वीकार किया गया है। यह तंत्र भी संध्या भाषा में लिखा गया है। प्रारम्भ में ही कहा गया है कि तथागत काय, वाक्, चित्त, हृदय तथा वज्ररूपी स्त्री की भग में विहार करते हैं।[4] इन्द्रभूति ने ज्ञानसिद्धि में इसका यह अर्थ किया है कि हृदय का अर्थ ज्ञान है। यही वज्रयोषित् है। यही भग है, क्योंकि यह सारे क्लेश का भंजन करती है।[5] इसमें सांसारिक पदार्थ अनुत्पन्न माने गए हैं। कहा गया है कि बोध या चेतना आकाश के समान है। बोध के संयुक्त होने से ही पदार्थ प्रकाशित होते हैं। साधना के द्वारा जब भाव-अभाव, ग्राह्य-ग्राहक या

---

१ एन आउटलाइन आफ रिलीजस आफ इंडिया: जे० एन० फर्कुहर, पृ० १५८, १९२० ई०

२ कारण्डव्यूह पृ० १० : जीवानन्द, १८७३ ई०

३ तथागत गुह्यक गायकवाड़, ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा (भूमिका भाग)

४ एवं मया श्रुतम्. एकस्मिन समये भगवान सर्व तथागत कायवाकचित्तहृदय-वज्र योषिद्-भगेषु विजहार-तथागत गुह्यक।

५ हृदयं तदेव वज्रयोषित् अभेद्यमज्ञास्यस्वाभावात्।
तदेव भग सर्वक्लेशभंजनात् - ज्ञानसिद्धि
द्रष्टव्य गुह्यसमाज तंत्र पटल १

वेद्य-वेदक की स्थिति का नाश हो जाता है तो इसे शून्यता की स्थिति कहते है। किन्तु इस शून्यता के साथ करुणा को संयुक्त या युगनद्ध करना पड़ता है। यही अद्वय अवस्था है जिसको बोधिचित् कहा गया है।[1]

इस तंत्र में भक्ति और कर्म गौण हैं और ज्ञान को मुख्य माना गया है। यह ज्ञान गुरुकृपा और योग द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रज्ञा के साथ जीवों पर करुणा या उपाय को सम्बद्ध करना पड़ता है। बिना उपाय के प्रज्ञा निःसहाय है और बिना प्रज्ञा के उपाय अन्धा है। इसकी एकता ही युगनद्ध है। इस एकता की प्राप्ति में स्त्री और पुरुष की रति के समय की एकता को साधन रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि इसी प्रकार प्रज्ञोपाय की एकता का अनुभव शिष्य को कराया जा सकता है। यह शैवों और शाक्तों की शक्ति साधना का ही यह एक विशेष रूप है। प्रज्ञा व उपाय की एकता को ही योग कहा गया है।[2]

गुह्यसमाज तंत्र में बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। केवल चेतना की ही सत्ता स्वीकार की गई है। बौद्ध तंत्र दुष्ट, कामी, पापी आदि सभी प्रकार के लोगों को साधना के लिए उपयोगी मानते हैं।[3] गुह्य-समाज तंत्र में चक्र, रत्न, पद्म, रश्मिमंडल आदि का महीनों ध्यान करना पड़ता है। विद्वानों का विचार है कि भारतीय तान्त्रिक बौद्धमत की इस ध्यान साधना पर चीन और जापान में प्रचलित 'जैन' सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है। जैन सम्प्रदाय में भी पदार्थ की सत्ता निःस्वभाव ही मानी गई है। इसका प्रवर्तक कई वर्षों तक एक दीवाल पर ध्यान जमाए रहता था। दूसरे जैन सम्प्रदाय के साधक ध्यान के स्थान पर 'स्वयं प्रकाश ज्ञान' को ही इस धर्म का मूल मानते हैं। इन लोगों को सतोरी कहा जाता है। वस्तुतः चीन, जापान का प्रारम्भिक ध्यान सम्प्रदाय भारतवर्ष के ध्यान मार्ग से ही प्रभावित था क्योंकि यह ध्यान-साधना उपनिषदों में भी प्राप्त होती है तथा प्रारम्भिक बौद्ध और जैन मतों में भी इसका अस्तित्व मिलता है।

चीन, जापान के जैन सम्प्रदाय भारतीय तान्त्रिकों की तरह हठ सन्ध्या

---

१ गुह्यसमाज तंत्र—(तथागत गुह्यक) पटल १८

२ वही

३ वही पटल ५

भाषा का प्रयोग करते हैं।[1] किन्तु आरण्यकों में इस संध्या भाषा का पूर्व रूप अथर्ववेद में भी मिलता है, यह हम देख चुके हैं।

गुह्यसमाज तंत्र में जिन पदार्थों का ध्यान किया जाता है उनका प्रतीकार्थ भी साथ साथ ग्रहण किया जाता है। इस भावना से ध्यान के अतिरिक्त अभिषेक, न्यास, मंत्र चर्या आदि का भी विधान किया गया है।

जप—गुह्यसमाज में दस प्रकार के जप बताए गए हैं। भाव और अभाव का विचार करते हुए उच्च स्वर से जप करना भाव जप है। शब्द व अशब्द का विचार करते हुए जप करना वाक् जप है। चित्त जप में चित्तानुसंधान होता है। बुद्ध पर ध्यान करते हुए रत्न जाप किया जाता है। तत्व में बार बार गमन प्रयोग जप कहलाता है। क्रोध के समय ज्ञान द्वारा जप क्रोध जप है। सर्व जीवों के हित के लिए व्याकुल होने की अवस्था में मोह से युक्त होने पर ज्ञान पूर्वक जप मोह जप है। काया, वाक् तथा चित्त के स्थिर होने पर राग पद में स्थित होकर जप करना राग जप है। इसी प्रकार द्वेष की स्थिति में जप करना द्वेष जप है। उपर्युक्त सर्व तत्वों का एक साथ जप करना नपुंसक जप है।[2] जप के समय चेतना की उच्च अवस्था ही फल देती है। इस मंत्र चर्या में बाह्य प्रयत्न आवश्यक नहीं माना गया है। शुद्ध तत्व में चित्त का समाहित होना ही मंत्र चर्या है। तत्व का मनन ही मंत्र है।[3] आगे यही दृष्टि कबीर, दादू आदि सन्तों ने ग्रहण की है।

क्योंकि संसार में राग से बन्धन है इसलिए राग पर राग द्वारा, क्रोध पर क्रोध द्वारा तथा मोह पर मोह द्वारा विजय प्राप्त करने की विधियाँ इस तंत्र में वर्णित हैं।[4]

इस तंत्र में शब्दों की प्रतीकात्मकता पर बहुत बल दिया गया है। मण्डल=भग=बोधि चित्=शरीर। पुष्प=स्त्री। चक्र=ज्ञान। विद्या=स्त्री। पंचामृत=पाँच प्रकार का ज्ञान। वन्दन=चित्र का आकर्षण और

---

१ बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक : परशुराम चतुर्वेदी पृ० १४४ से १४८ तक प्रमाण १०५८

२ गुह्यसमाज तंत्र - पटल १३

३ वही - पटल १८

४ मोहो द्वेषस्तथा रागः सदा वज्रे रतिः स्थिता
उपायस्तेन बुद्धानां वज्रयानमिति स्मृतम्
रागो रागोपभोगेन, क्षयरागः पद्मान्तकृत-गुह्य समाज, पटल १८

अग्न्यर्चुसना। गुह्य=काय, वाक् और चित्त। समाज=काय, वाक् और चित्त का संघट्ट। रत्न=चित्त। सेवा=साधन का संयोग। इस प्रकार पूर्ण गुह्य साधना को प्रतीकात्मक रूप दिया गया है।[1]

तान्त्रिक बौद्धमत की वज्रयानी शाखा के विकास मे पद्मवज्र (६६३ ई०), अनंगवज्र (७०५), इन्द्रभूति (७१७), लक्ष्मीकरा देवी (७२६), लीलावज्र (७४१), दारिकापाद (७५३), सहजयोगिनी चिंता (७६५), डोम्बी हेरुक (७७७ ई०) आदि सिद्धों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। दूसरी परम्परा के अनुसार सरहपाद (६३३ ई०), नागार्जुन द्वितीय (६८५), शवरिपा (६५७), लुइपा (६६६), वज्रघंट (६८१), कच्छप (६९३), जालंधरीपा (७०५), कृष्णाचार्य (७१७), गुह्याचार (७२६), विजयपा (७८१), तैलोपा (६७८) तथा नारोपा (६६० ई०) आदि सिद्धों ने वज्रयान और सहजयान के विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया है।[2] इनमे इन्द्रभूति, लक्ष्मीकरा देवी और सरहपा को सहजयानी-आचार्यों मे मुख्य स्थान दिया जाता है। सातवीं शताब्दी मे शान्तिदेव ने शिक्षा समुच्चय नामक ग्रन्थ लिखकर परवर्ती तान्त्रिक मत को दार्शनिक आधार दिया। पालवंश के महाराज महीपाल के समय (६७८ से १०३० ई० तक) यह मत उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया। इसी समय कश्मीर मे शैव सम्प्रदाय की अभूतपूर्व उन्नति हुई जिसका इस मत के साथ सादृश्य मिलता है। वज्रयान सहजयान के अन्य आचार्यों मे कुक्कुरीपाद (६६३ ई०), वैरोचन रक्षित (आठवीं शताब्दी) दीपंकर (६८० से १०५३ तक) अद्वयवज्र (६७८ से १०८३ ई० तक), ललित गुप्त (१०५० ई०), मुकुट (११०० ई०), कुलाचार (११०० ई०), संघदत्त (१०७५ ई०), अभयकर गुप्त (१०८४ से ११००ई०) तथा आर्यदेव के नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक अर्थात् सन्त सम्प्रदाय के उद्भव के पूर्व शैव और बौद्ध योग का दक्षिण-पूर्व और उत्तर में बहुत अधिक प्रचार था और मध्य देश मे भी उसके बड़े-बड़े केन्द्र थे।

अद्वयवज्र ने तान्त्रिक बौद्धमत का दार्शनिक दृष्टि से इस प्रकार विभाजन किया है[3]—

---

१ मोहो द्वेषस्तथा रागः सदा वज्रे रति स्थिता उपायस्तेन बुद्धानां वज्रयानमिति स्मृतम् रागो रागोपभोगेन, शमरागः पद्मान्तकृत-गुह्य समाज पटल १८

२ साधनमाला, भाग २, भूमिका-बी० भट्टाचार्य

३ अद्वयवज्रसंग्रह में "तत्व रत्नावली" गायकवाड़ ओर० सीरीज, बड़ौदा
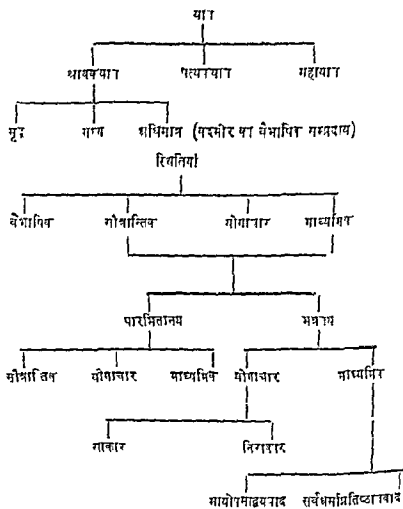
उक्त विभाजन से वज्रयान व मन्त्रयान की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। अद्वयवज्र स्वयं माध्यमिक थे अतः उन्होंने मन्त्रयान को योगाचार से अलग कर दिया है। वस्तुतः तान्त्रिक बौद्धमत में योगाचार या विज्ञानवाद तथा शून्यवाद दोनों स्वीकृत हैं। शान्तिरक्षित के तत्त्व संग्रह में विज्ञानवाद स्वीकृत है जबकि अनङ्गवज्र और इन्द्रभूति माध्यमिक हैं। विज्ञानवादी जगत् के पदार्थों को परमाणुओं का संघात नहीं मानते। पदार्थों के रूप में हमारा

---

१ द्रष्टव्य—अद्वयवज्र संग्रह में तत्त्व रत्नावली

करुणा—करुणा या उपाय को इस मत में राग माना गया है। यह राग सामान्य राग नहीं है। यह बोधि का ही एक रूप है। प्रदीप और आलोक के समान प्रज्ञा और उपाय भी रहता है।[1] राग में प्रज्ञा क्रियात्मक रूप धारण करती है और मानव जगत् की सेवा की ओर आकर्षित होता है। बौद्ध तन्त्रों में प्रज्ञा को स्त्री और उपाय को पुरुष माना गया है। देवियाँ, प्रज्ञास्वरूप हैं और देवता उपायस्वरूप है। दोनों की एक साथ उपासना ही ध्येय है। बौद्ध वामाचार भी इसी एकता को प्राप्त करने के लिए ही स्वीकृत हुआ है। प्रज्ञा को ज्ञानमुद्रा, महामुद्रा, सहजवधू आदि कहा गया है जिसमें योगी (पुरुष) रात-दिन संयुक्त रहता है। प्रज्ञा को योनि और उपाय को लिंग भी कहा गया है।

काया सिद्धान्त—गुरु, प्रधान मतों में गुरु की काया के अनेक रूप माने जाते हैं। हीनयानी गौतम बुद्ध को एक वास्तविक मनुष्य मानते थे। सर्वास्तिवादी रूपकाया और धर्मकाया को मानते हैं जिनमें धर्मकाया गुणों का शरीर है। शून्यवादियों ने गुणों का शून्य घोषित किया, इसलिए बुद्ध की धर्मकाया अनिर्वचनीय तथता के रूप में मान्य हो गई। महायान मत में रूपकाया के भी स्थूल और सूक्ष्म दो भेद माने गए हैं। धर्मकाया के भी दो भेद हैं। प्रथम गुणों का शरीर है और दूसरा वास्तविक काया या तथता है। योगाचार वास्तविक काया या तथता को स्वाभाविक काया कहता है। बुद्ध का जन्म, सन्यास, बोधिप्राप्ति आदि तान्त्रिकों के अनुसार केवल जनता में विश्वास उत्पन्न करने के लिए है। वस्तुतः बुद्ध अशरीरी हैं किन्तु जगत को वह शरीरी दिखाई पड़ते हैं। एक और सम्भोगकाया भी मानी गई है जिसके द्वारा भगवान आन्तरिक उपदेश देते हैं।

---

१ प्रज्ञा रहितो उपायो बन्ध, उपाय रहिता प्रज्ञा बन्ध तादात्म्य भावो सद्गुरूपदेशात् प्रदीपालोकयोरिव सहजसिद्धिमेवाधिगम्यते- अद्वयवज्रसंग्रह
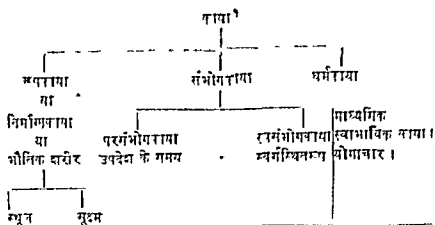
तान्त्रिकों ने रूप, संभोग और धर्म काया के अतिरिक्त एक सहज काया भी मानी है। इनको जाग्रत, स्वप्न आदि चार अवस्थाओं के साथ भी सम्बद्ध किया गया है। क्योंकि तान्त्रिक ज्ञान की कोटियों को व्यावहारिक दृष्टि से ही मानते हैं, अतः उपर्युक्त क्रम में विपर्यय भी माना गया है।[2]

१ सहजकाया २ धर्मकाया ३ संभोगकाया ४ रूपकाया

इस क्रम में सहजकाया अन्तिम भी है और प्रथम भी है, इसलिए इसमें प्रज्ञा या स्त्री के साथ योग करते समय मस्तक में स्थित बिन्दु को रति क्रिया द्वारा द्रवित किया जाता है। यही बोधिचित् का द्रवित होकर वज्रमणि अर्थात् लिंग तक आगमन है और प्रज्ञा (योनि) तक गमन है। इससे बाह्य सृष्टि भी होती है और आन्तरिक शक्ति भी जाग्रत होती है। इसमें स्खलित बिन्दु को पुनः मस्तक तक पहुँचा दिया जाता है और योगी इस प्रकार सहज या संभोग साधना द्वारा शरीर स्थित शक्ति को ऊर्ध्व संचरित करता है और अन्तिम स्थिति सहजकाया को प्राप्त कर निर्द्वन्द्व भी हो जाता है। यही सहजानन्द है। प्रथम और अन्तिम एकता भी यही है।[3]

---

१ विस्तार के लिए द्रष्टव्य-महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन टु हीनयान-एन० दत्ता तथा सेकोद्देश्यटीका, नारोपा, गायक०, सीरीज, भूमिका भाग

२ सेकोद्देश्यटीका, भूमिका भाग

३ स एव सहजकायः शून्यताविमोक्षविशुद्ध ज्ञानवज्रः सर्वशः प्रज्ञोपायात्मकः शुद्धयोग इति। स एव धर्मकायो''' स एव'''सम्भोगकायो''' स एव निर्माणकायो—वही पृ० ६

वज्रयोग—इस योग से, दीक्षित हो जाने के पश्चात्, साधक का पुनर्जन्म होता है और वह वज्रवत दृढ हो जाता है। साधना म प्रत्येक पदार्थ को साधक विशेष दृष्टि स देखता, सूँघता और स्पर्श करता है। प्रत्येक क्रिया से वह अद्वय अवस्था को प्राप्त करना सीखता है। प्रत्यक्ष क्रिया को वह आन्तरिक सत्यों के प्रतीक के रूप म ग्रहण करता है। विशुद्ध योग, धर्मयोग, मन्त्रयोग तथा सस्थानयोग इन चार सोपानो को योगी पार करता है। इनसे चार प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती है। इस साधना म वस्तुत जगत् की क्रियाएँ और पदार्थ साधक की आध्यात्मिक उन्नति म सहायक हो जात हैं। इसलिए सभोग और वीभत्स साधना को भी इसमे सहायक माना गया है।

अभिसम्बोधि सिद्धान्त—इस शब्द का अर्थ है पूर्ण प्रकाश। इसमे सृष्टि की व्याख्या की जा सकती है। जिस तरह शैव ओज या बिन्दु से सृष्टि का विकास समझते है वैसे ही बौद्ध तन्त्रा म बिन्दु की कल्पना की गई है। बिन्दुपात स जैसे जीव की सृष्टि होती है वैसे ही ज्ञान होने के पश्चात् चेतना ऊर्ध्व सचरण करती है और परमार्थ की ओर चलती है। अत: बिन्दु विकास व ह्रास दोना का प्रारम्भिक स्थान है। हिन्दी के सन्त कवि भी नाद और बिन्दु की चर्चा करते है जो उनके गूढ सृष्टि-विज्ञान को इगित करता ह। इच्छाशक्ति द्वारा प्रथम प्रश्वास को वश म किया जाता है। पिड पर पूर्ण रूप स विजय होने पर श्वास प्रश्वास रुक जाता है और योगी की शक्ति आत्म केन्द्रित हो जाती है। यही योगी का पुर्नजन्म है। इसी को वज्रसत्व अवस्था कहते ह। शैव साधक बिन्दु को ईश्वर मानकर उसम सृष्टि का विकास समझत ह। बौद्ध भी बिन्दु म स्थित अव्यक्त शक्ति को 'अच्युत' या 'स्वाभाविक' कहत है। बिन्दु से शरीर तक के सृष्टि विकास को योगी ध्यान द्वारा देखता ह। बिन्दु को शैवो की तरह ही सवित् भी कहा गया है। शैवो की तरह ही यहा श्वास को प्राण तथा प्रश्वास को विमर्श कहा गया है।[1]

आनन्द—निर्माण काया म सोलह प्रकार के आनन्दा पर विजय प्राप्त की जाती है। य आनन्द भौतिक भी ह और पारमार्थिक भी ह। दोना म अभेद स्थापित करना ही साधना है। इस साधना म श्वास-प्रश्वासा पर जैसे जैसे अनुशासन बढ़ता जाता है वैसे-वैसे भौतिक आनद कम क्षोभ उत्पन्न करत ह और अन्त म सासारिक और पारमार्थिक आनन्दो का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है।

---

१ सेकोद्देश टीका-भूमिका भाग

शैव साधना में भी यही विधि स्वीकृत है। उपर्युक्त १६ प्रकार के आनन्दों, मुद्राओं और आनन्दक्षणों का विवरण इस प्रकार है—
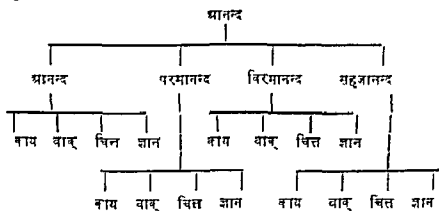
उक्त आनन्दों का मुद्राओं और आनन्द क्षणों से साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मुद्रा का अर्थ स्त्री भी है और स्थिति भी। इसी प्रकार उपर्युक्त आनन्द रति-क्रियाजन्य आनन्द भी है और आध्यात्मिक अनुभवजन्य भी।

क्षण—विचित्र विपाक विलक्षण विमर्द
आनन्द—आनन्द परमानन्द सहजानन्द विरमानन्द
मुद्रा—कर्ममुद्रा धर्ममुद्रा महामुद्रा समयमुद्रा

रतिक्रिया द्वारा ही इन मुद्रा और आनन्द के क्षणों को समझा जा सकता है। रतिक्रिया में अन्तिम क्षण विमर्द या घर्षण है जिससे वीर्य स्खलन होता है। इसी से विरमानन्द उत्पन्न होता है। एक क्षण के लिए जिस प्रकार इस अवस्था में मनुष्य भाव और अभाव से परे हो जाता है उसी प्रकार मुद्राओं के साथ आध्यात्मिक अभ्यास से बहुत स्थायी निर्द्वन्द्वता प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए प्रत्येक आनन्द को काय, वाक्, चित्त और ज्ञान इन चार भागों में बाँटा गया है।[1]

युगनद्ध सिद्धान्त—प्रज्ञा और उपाय की एकता ही युगनद्ध अवस्था है। रति क्रिया में स्त्री-पुरुष की सघट्टता से इसे संकेतित किया जाता है। शैव इसे शक्ति शिव का सामरस्य कहते हैं। ज्ञान और क्रिया की एकता से ही यह अवस्था प्राप्त होती है। इसीलिए बौद्ध देवमंडल में आलिंगनबद्ध देवी देवता दिखाए जाते हैं। तिब्बत में इसी को 'यबयुम' कहा गया है। वैष्णवों में लक्ष्मी

१ सेकोद्देश टीका—भूमिका भाग

नारायण या राधाकृष्ण की युगल साधना का भी यही रहस्य है। भाव और अभाव दोनों की एकता में ही युगनद्धता प्राप्त होती है।[1] इसी को शून्यता कहा गया है। यही सहज प्रेमावस्था है।[2] इस सहज प्रेम के दर्शन ही हिन्दी के मध्यकालीन कवि अपने अपने ढंग से करते हैं।

महासुख या सामरस्य—चेतना में वस्तु शून्यता का ज्ञान होते ही देवताकारास्फूर्ति उत्पन्न होने लगती है। इस स्फूर्ति में ही साधक को फल मिलता है। लौकिक सुख भोग में भी इस स्फूर्ति का अनुभव होता है। इसी स्फूर्ति का स्थायी बनाना साधक का काम है। स्थायी स्फूर्ति ही महासुख है। इसलिए लौकिक सुखों का दमन कर देने से महासुख नहीं उत्पन्न हो सकता।[3] लौकिक सुखों का दमन करके जो साधना की जाती है, वह कठिन है, असहज है जबकि तान्त्रिक साधना सहज साधना है। पूर्णता की अनुभूति को ही समरसता कहा गया है। इसमें प्रज्ञा और क्रिया का अलग अलग बोध नहीं होता, इसलिए जीवन के चक्र में एक ही रस की अनुभूति प्राप्त करना समरसता है। इस अवस्था में मन की प्रवृत्ति या निवृत्ति नष्ट हो जाती है। सिद्ध कन्हपाद ने कहा है कि जल में लवणवत जब मन शून्यता (स्त्री) में मग्न हो जाय तभी सामरस्य की प्राप्ति होती है। वैष्णव भक्त राधाकृष्ण या लक्ष्मी नारायण की इसी तात्विक एकता के गुण गाते है।

सहज सिद्धान्त—इन्द्रभूति और लक्ष्मीकरा देवी ने इसका विशेष प्रचार किया। सहज का अर्थ प्रज्ञाज्ञान है। सम्पूर्ण धर्मों का अकृत्रिम लक्षण ही सहज है। धर्म का अकृत्रिम लक्षण यह है कि व निःस्वभाव, अर्थात् शून्य हैं। अतः भाव और अभाव से परे शुद्धबोधि का ज्ञान ही सहजज्ञान है। व्यावहारिक दृष्टि से सहज का अर्थ सरल है। भोगों की ओर मन का उन्मुख होना सहज है। अतः भोग द्वारा योग की प्राप्ति ही सहज मार्ग है। हठयोग और सन्यास मार्ग कठिन मार्ग हैं। तत्वज्ञान सहज गृहस्थ जीवन द्वारा भी प्राप्त हो सकता है। हमारे सन्त कवि इसी अर्थ में सहजयानी हैं। कोरे क्रियावादी ज्ञानहीन क्रियाओं द्वारा सहजानुभूति प्राप्त करना चाहते हैं, इसलिए सहजयानियों ने उनका खंडन किया है। तान्त्रिकों ने सहज सुख को अकृत्रिम, निःसंग आदि

---

१ युगनद्ध प्रकाश—अद्वयवज्रसंग्रह।

२ प्रेमपंचक—अद्वयवज्रसंग्रह।

३ महासुख प्रकाश—"

विशेषण दिए है। विश्व को अपनी चेतना में स्थित करके ही यह सहजावस्था प्राप्त होती है।[1]

दीक्षा—वज्रयान सहजयान मतों की दीक्षा में शास्त्र की जगह गुरु का ही विशेष महत्व है। गुरु के "पोषधदान" के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। वैष्णव इसी को अनुग्रह या पुष्टि कहते हैं। तान्त्रिक अभिषेक में रक्षा व मंडल का विधान किया जाता है। उसमें गुरु शिष्य के अंगों को पवित्र करता है। इन क्रियाओं में एक प्रकार का सम्मोहन दिखाई पड़ता है। गुह्याभिषेक में वामाचार स्वीकृत है। इसमें सभी को शामिल नहीं किया जाता। विलास में रति युक्त साधक आन्तरिक् शक्तियों को जाग्रत करते है। जिस प्रकार धनात्मक तथा ऋणात्मक शक्ति की एकता से महाशक्ति जाग्रत होती है उसी तरह पुरुष तत्व और स्त्री तत्व की एकता से ही शक्ति का जागरण सम्भव बताया गया है। तान्त्रिकों की अश्लील शब्दावली का मर्म यही है।

षड्ंग योग—तान्त्रिक बौद्ध योग में प्रत्यहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि—ये छः प्रकार का योग स्वीकृत है। निरभ्र गगन में धारणा करना ही प्रत्यहार है। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख व एकाग्रता का अभ्यास ध्यान द्वारा होता है। वितर्क का अर्थ है किसी आदर्श आकार का अवतरण। वस्तु विशेष को पूर्ण प्रकाश में देखना ही विचार है। उससे जन्य आनन्द का अनुभव ही सुख है। चित्त की प्रसन्न अवस्था का नाम ही प्रीति है। शून्यता पर ध्यान केन्द्रित करना एकाग्रता है। इस प्रकार तान्त्रिक बौद्ध योग में मौलिकता दिखाई पड़ती है। पातंजल योग से यह आगे का विकास है।

इस योग के अनुसार छः महत्वपूर्ण नाड़ियों का सम्बन्ध ध्यानी बुद्धों और पंच भूतों से जोड़ा गया है।

१ ललना	(इडा, वामनाडी)	अमिताभ—जलतत्व
२ रसना	(पिंगला, दक्षिणनाडी)	रत्नसंभव—अग्नि तत्व
३ मलत्याग नाडी		वैरोचन—पृथ्वी तत्व
४ मूत्र त्याग नाडी		अमोघसिद्धि—वायु तत्व
५ अवधूती (सुषुम्ना)		अक्षोभ—शून्य तत्व
६ वीर्य नाडी		वज्रसत्व

१ अद्वयवज्रसंग्रह

ललना, रसना व अवधूती ये तीन नाडिया ही प्रधान हैं—

१	नाडी	ललना	अवधूती	रसना
२	नदी	गंगा	सरस्वती	यमुना
३	वायु	प्राण	ऐक्य .	अपान
४	शब्द	स्वर	,,	व्यंजन
५	काल	रात्रि	,,	दिवस
६	ज्ञान	ग्राह्य	बोधिचित्	ग्राहक
७	तत्व	करुणा	बोधिचित्	उपाय
८	,,	वीर्य	,,	रज

इस प्रकार वायु, नाड़ी, स्वर, व्यंजन तथा तत्वो की एकता तथा परस्पर सम्बन्ध पर तात्रिक योग बहुत बल देता है। रेचक, पूरक, कुम्भक आदि प्राणायामो से चन्द्र (ललना), सूर्य (रसना), नाडियो की शुद्धि के बाद इन्हे छोडकर मध्यमार्ग (अवधूती) का अवलम्बन करने से प्राणयोग सिद्ध होता है। इस नाडीयोग मे चार चक्रो को पार करना पडता है। नाभिस्थान मे निर्माण चक्र है, हृदयस्थान मे सम्भोग चक्र, कंठ मे धर्म और शीश मे उष्णीश चक्र है। इस प्रकार बौद्ध तन्त्र केवल चार चक्रों को ही मानते हैं। सेकोद्देश टीका मे ललाट व उष्णीश मे अलग अलग चक्र माने गये हैं। उष्णीश ही विन्दुस्थान है। यही मध्य मार्ग द्वारा प्राण को चढ़ाकर रोका जाता है। इसी को धारणा कहते है। प्रत्याहार व प्राणायाम दोनो मे ध्यान सम्मिलित है। ध्यान से ही धारणा प्राप्त होती है। 'जप' भी साथ-साथ चलता है, इसी को वज्र जप कहा जाता है। वज्र जप की अवस्था म प्राणवायु का ललना व रसना मे संचरण निषिद्ध है। प्राणायाम धारणा का उपसाधन है। धारणा के बल से नाभि स्थल मे ज्वलित 'चंडाली' (शक्ति-देवी या कुंडलिनी) को देखता हुआ योगी बार बार इस महामुद्रा का अनुस्मरण करता है। यही अनुस्मृति है। अर्थात् धारणा के अन्त मे चंडाली की भावना की जाती है। इस अवस्था मे ज्ञान की अग्नि से स्कन्ध, धातु आयतन आदि दग्ध हो जाते हैं। चंडाली की ज्ञान शिखा से ललाट मे चन्द्र स्थान मे स्थित बोधिचित् विन्दु रूप मे द्रवित होकर कंठ, हृदय, नाभि और गुह्यकमल अर्थात् लिंग तक आ जाता है। इसी बिन्दुपात की अनुभूति कराने के लिए मैथुनान्त मे वीर्य-धारण का दृष्टान्त दिया गया है। स्पष्ट कहा गया है कि मैथुन जन्य आनन्द से यह योगज

बिन्दुपात का आनन्द करोड़ों गुना अधिक होता है। जिस प्रकार सत्व मानो मैथुनरतहोकर वीर्य को इच्छानुसार रोक सकता है, उसी प्रकार प्राणयोग द्वारा बिन्दु को पुनः उष्णीश तक पहुँचकर योगी 'अजर' हो जाता है। योगज आनन्द ही सहजानन्द कहलाता है क्योंकि इन्द्रियों का आनन्द तो इसी का एक रूप मात्र है।[1]

शून्यता का नाम ही समाधि है। ग्राह्य-ग्राहकभाव रहित चित्त की अवस्था ही शून्यता है।[2] इस साधना में प्रत्याहार आदि से नादानुसंधान द्वारा प्राण को मध्यमार्ग में प्रवाहित कर उष्णीश में बोधिचित् बिन्दु को निरुद्ध कर अक्षर क्षण की साधना की जाती है।

हिन्दू तन्त्रों में कुंडलिनी शक्ति मूलाधार चक्र में स्थित मानी गई है किन्तु यहाँ शक्ति नाभि में स्थित मानी गई है। प्राणायाम द्वारा यहीं से यह शक्ति दंड रूप में ऊपर उठती है। मध्यनाड़ी में होकर यह शक्ति चक्रों को पार करती हुई मृदु ललित गति से उष्णीश तक पहुँचती है।

असमावस्था—उष्णीश को भेद कर 'खचरत्व' प्राप्त होता है अर्थात् चेतना गगनवत् निर्मल हो जाती है और द्वन्द्व मिट जाते हैं। बादलों के समान कल्मष नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में जगत स्वप्नवत् प्रतीत होता है और स्वर्गादि लोक स्पष्ट दीखने हैं। संकल्प मात्र से सृष्टि करने की शक्ति उत्पन्न होती है, महासुख प्राप्त होता है। इसी ज्ञान को 'तथागत' ज्ञान कहा गया है। कम्पनरहित होने से यही ज्ञान 'अक्षोभ्य', सात्विक ज्ञान होने से 'रत्नसम्भव' असख्यगुण सयोगी होने से 'अमिताभ' तथा बन्धन रहित होने से यह ज्ञान 'अमोघसिद्धि' कहलाता है। इसी तरह सर्वश्रेष्ठ होने से 'लोचना' व्यापक होने से 'मामकी', सर्वतारणदक्ष होने से 'तारा', तथा सभी सृष्टि का कारण होने से यह ज्ञान षड्भुज कहलाता है।[3] इस अवस्था में न उच्छेदवाद है, और न शाश्वतवाद है। यह ज्ञान आदि, मध्य व अन्त से वर्जित सर्वातीत ज्ञान है।[4]

सर्वद्वन्द्वों से अतीत होकर[4] चेतना की वास्तविक स्थिति को ही कबीर

---

१ विस्तार के लिए द्रष्टव्य-सेकोद्देश टीका पृ० ४२

२ वही पृ० ४५

३ ज्ञानसिद्धि-इन्द्रभूति

४ असमं असम शान्तमादिम ध्यान्तवर्जितम्—अद्वयवज्र

दाद आदि भी रासमावस्था मानते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए चक्र, मुद्रा, आनन्द, देवी देवता, क्षण, सिद्धान्त, काया, सत्य, काल, वर्ण, भूत, गुण आदि को परस्पर सम्बन्धित करना पड़ता है और उनका वास्तविक स्वरूप समझना पड़ता है। इनका अन्तिम निश्चित विवरण इस प्रकार है।[1]

चक्र	नाभिचक्र	हृदय चक्र	कंठ चक्र	उष्णीश चक्र
देवी	लोचना	मामकी	पाडा	तारा
गुण	करुणा	मैत्री	मुदिता	उपेक्षा
भूत	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु
वर्ण	इ	वम्	म	य
मुद्रा	कर्म	धर्म	महा	समय
काया	निर्माण	धर्म	सम्भोग	सहज
क्षण	विचित्र	विपाक	विमर्द	विलक्षण
अंग	सेवा	उपसेवा	साधना	महासाधना
सत्य	दुःख	दुःख का कारण	दुःख का विनाश	दुःख नाश का उपाय
आनन्द	आनन्द	परमानन्द	विरमानन्द	सहजानन्द
निकाय	स्थविरवाद	सर्वास्तिवाद	सवित्वाद	महासाधिक
प्रहर	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वज्रयान, सहजयान, तथा कालचक्रयान में सभी बौद्ध सम्प्रदायों व सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। कालचक्रयान का प्रतिनिधि ग्रन्थ नारोपा का सेकोद्देश्य टीका ग्रन्थ है।

आदि बुद्ध का सिद्धान्त तथा देव-मडल—सर्वातीत सत्ता को वज्रयान आदि बुद्ध नाम देता है। इससे पंचध्यानी बुद्धों की अभिव्यक्ति होती है। इस आदि बुद्ध को नारोपा का कालचक्रयान 'काल' कहता है। इसे चक्र भी कहा गया है। और यह कालचक्र भी कहलाता है। पंचध्यानी बुद्धों के मानवीय रूप 'बोधि सत्व' कहलाते हैं। हिन्दू तंत्रों के अनुसार ही प्रत्येक ध्यानी बुद्ध की अलग अलग शक्तियाँ दिशाएँ, वर्ण, कुल, वाहन, मुद्राएँ, तथा बीज मंत्र आदि हैं। इन ध्यानी बुद्धों का ध्यान साधक शक्ति-संयुक्त रूप में ही

---

१ एन इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म

करते हैं। हिन्दुओं के पंचरक्षामंडल देवनाओं की तरह बौद्धपंचरक्षा मंडल भी मिलता है। इसमें महामहाप्रमर्दिनी, महामायूरी, महाशीतवती आदि देवियाँ भी हैं। इनके अतिरिक्त गणपति, वज्रहुंकार, भूत, डामर, सरस्वती, अपराजिता, तारा, तारा, चोनगम्ता आदि की उपासना प्रचलित है।

ध्यानी बुद्ध वैरोचन का सम्बन्ध रूपस्कन्ध, केन्द्र दिशा, श्वेत वर्ण, तारा शक्ति, समन्त भद्र बोधि सत्व, मोह कुल, सर्प वाहन, धर्म चक्रमुद्रा, 'ॐ' बीज, आकाश, शब्द, वायु महाभूत आदि से माना गया है। इसी तरह अक्षोभ ध्यानी बुद्ध का सम्बन्ध विज्ञान स्कन्ध, पूर्व दिशा, नील वर्ण, लोचना शक्ति, वज्रपाणि बोधिसत्व, द्वेष कुल, गज वाहन, भूस्पर्श मुद्रा, हूँ बीज, आदि से जोड़ा गया है। इसी तरह अन्य तीन ध्यानी बुद्धों का अलग अलग शक्तियाँ वेष, वाहन, मुद्रा और बीजमंत्र हैं। तात्पर्य यह है कि देवनामों, शक्तियों आदि के नामों के अन्तर को छोड़कर शैव, शाक्त, वैष्णव और तांत्रिक बौद्धमत की देव उपासना में कोई अन्तर नहीं पाया जाता।

इस बौद्ध देवमंडल का विकास सातवीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक हुआ है। शैव, शाक्त और वैष्णव आगमों के साथ इसका अद्भुत सादृश्य दिखाई पड़ता है। तांत्रिक बौद्ध मत में देवता को भी चित्त स्थिति विशेष ही माना गया है।[1]

इन देवताओं और देवियों का ध्यान मंत्रमंडल, देवता के रूप, वेष अस्त्र शस्त्र आदि के ध्यान द्वारा किया जाता है। यह तांत्रिक प्रवृत्ति आर्यों की परवर्ती उपनिषदों और परवर्ती वैष्णव मत में भी पूर्णतया सुरक्षित है। इसमें प्रत्येक सम्प्रदाय का अलग अलग देवता है जैसे विष्णु, राम, कृष्ण, हनुमान, महादेव आदि, अलग अलग मंत्र और उपासनाएँ हैं। इन देवताओं की वैष्णव मत में भी शक्ति सहित ही उपासना की जाती है। इस प्रकार वैष्णव, शैव और तांत्रिक बौद्ध देव उपासना के बीच एक ही सिद्धान्त काम करता हुआ दिखाई देता है और यह निश्चित रूप से तांत्रिक सिद्धान्त है जिसमें मंत्र, मंडल आदि के द्वारा देवता के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है।

कथन पद्धति—तंत्र मार्ग रहस्य मार्ग है। रहस्यतत्व का प्रतीकों द्वारा ही व्यंजित किया जा सकता है क्योंकि सत्य भाव व अभाव से परे है अतः भावा

१ सेकोद्देश्य टीका तथा निष्पन्नयोगावली की भूमिका

द्वारा उसका वर्णन सम्भव नहीं है।[1] भाषा या तो भावात्मक हो सकती है या अभावात्मक। इसीलिए तन्त्र प्रतीकों का उपयोग करते हैं। 'शुक्र' को "वैरोचन," "मन्त्र" को "वज्रोदक", योनि को 'पद्म', लिंग को 'वज्र' आदि प्रतीकों द्वारा वर्णित किया जाता है।

साधक सामान्य जनों द्वारा गुह्य साधना को दुरुपयोग से बचाने के लिए 'सन्ध्या भाषा' का प्रयोग करते थे। गुह्यमडलियों में इस प्रकार की वर्णन पद्धति प्रागैतिहासिक काल से ही चली आ रही है। एक उदाहरण लीजिए—

सप्तमस्य द्वितीयस्यमष्टमस्य चतुर्थकम्।
प्रथमस्य चतुर्थेन, भूषित तत सबिन्दुकम्॥

अर्थात् सप्तम् वर्ग (अन्तस्थ) का द्वितीय वर्ण है 'र'। अष्टम का चतुर्थ वर्ण है "ह" (ऊष्म), प्रथम का चतुर्थ वर्ण है (स्वर) 'ई'। बिन्दु का अर्थ है "म" अत सरस्वती का बीज मन्त्र हुआ "ह्रीं"।[2]

सिद्ध योग-प्रक्रिया को इसी सन्ध्या भाषा में कहते थे। भासुकपाद ने 'प्राणवायु' को चुहिया कहा है। इसी को मारने से 'ज्ञान' की रक्षा होती है। कन्हुपाद ने लिखा है कि मैंने सास को मार डाला है, माता को मार कर मैं कपाली होगया हूँ। यहाँ सास प्राण वायु है, माता माया है। अन्यत्र कहा है कि सास के सो जाने पर बधू जाग्रत होती है। सास प्राणवायु है और बधू अवधूतिका है।[3]

लामावाद में अविद्या को 'अंधी ऊँटिनी' कहा गया है। चेतनरहित इच्छा को 'योनि' (सैक्स), पाप को कालाधाधा, पुण्य को श्वेत धाधा, विज्ञान को 'बन्दर', नाम रूप को 'नाडी देखते हुए वैद्य,' षडायतन को 'मुखावरण', स्पर्श को 'चुम्बन', वेदना को 'वाण', तृष्णा को सुरा, उपादान को 'फलों का सग्रह', भाव को 'विवाहित स्त्री', तथा जाति को 'शिशुसहित स्त्री कहा गया है। जरामरण को 'शव' कहा गया है।[4] श्री वैडल का मत है कि धर्म के

---

१ स्वभावाद् देवताकाय तस्माद् वक्तु न शक्यते ज्ञानसिद्धि इन्द्रभूति
२ साधनमाला भूमिका भाग
३ एन इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म
४ लामाइज्म-वेडेल, कॅम्ब्रिज द्वितीय सस्करण, १६३४ पृ० ११७ तथा संश्लिष्ट सिम्बल्स तथा जादू शीर्षक, अध्याय

लिए प्रतीकवाद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि इस्लाम में चित्र व मूर्ति के बिना भी कार्य चल जाता है; अतः प्रतीक कल्पना के पीछे धार्मिकों की कलाप्रियता है। जो भी हो, यह मानना पड़ता है कि इस बौद्ध प्रतीक-विधान ने न केवल रहस्यवादी सिद्ध सन्त साहित्य को जन्म दिया है अपितु स्थापत्य व मूर्तिनिर्माण कला को भी प्रभावित किया है।

तिब्बती मत के कुछ प्रतीक इस प्रकार हैं[1]—

प्रतीकात्मक शब्द	अर्थ
कमल	पवित्रता
रत्न	संघ, बुद्ध, धर्म
स्वस्तिक	जगत प्रवाह
श्वेतहाथी	सार्वभौमिक शक्ति
अश्व	सूर्य रथ का अश्व
हाथी की सूँड	वैभवपूर्ण जीवन व सुरक्षा
तलवार	विजय
दर्पण	मंगल
गजमुक्ता	,,
दधि	,,
दूर्वा	,,
बिल्वदल	,,
शंख	,,
गरुड	ब्रह्मांड
संख्याएँ = ३	काम, रूप, अरूप
४	समुद्र
५	स्कन्ध
७	सप्तर्षि
८	सर्प
९	कुबेर के कोष
१०	दिशा

वज्रयान-सहजयान का महत्व—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्ध

१ लामाइज्म

तंत्रमार्ग अत्यधिक रहस्यमय और गम्भीर है। मनुष्य के मन में अनन्त शक्तियाँ निहित हैं, मन व प्राणवायु के साधना से सब कुछ प्राप्त हो सकता है, तन्त्रों का यही सन्देश है।

इसके अतिरिक्त बौद्धतंत्र भोग व योग की एकमात्र शिक्षा देते हैं। शैव—शाक्त में भी यही क्रम है। देवताओं की भक्ति व पूजा भी तंत्रों से ही विकसित हुई है, यह भी इस अध्ययन से स्पष्ट है। परन्तु तंत्रों में सम्भोग द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की पद्धति विचित्र है। बाह्य नैतिकता की चिन्ता न करके साहसी सिद्धों ने इसका अभ्यास किया था। भोग को उपाय के रूप में स्वीकार कर बौद्ध तन्त्रों ने यद्यपि बौद्ध धर्म के पतन के लिए मार्ग खोल दिया था परन्तु गृहजीवन को भी तान्त्रिकों ने ही पुन:प्रतिष्ठित किया। संन्यासियों के विरुद्ध इन रागमार्गियों ने 'राग' को ही मुक्ति का साधन घोषित किया। और प्रत्येक व्यक्ति का, अधिकारी भेद के अनुसार, उसकी रुचि और इच्छा को देखकर, देवता या देवी के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ दिया। देवता या देवी के साथ तादात्म्य और एकता स्थापित करना ही समाज का मुख्य धर्म हो गया जिसमें सामान्य लोग पत्र, पुष्प, भोजन, वस्त्र, धन आदि द्वारा देवता को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते थे, ध्यान या जप करते थे। वे मन्दिरों में जाकर देवताओं की प्रार्थनाएँ करते थे और देवता की शरण में अपने सुखों और दु:खों का निवेदन करते थे। यही प्रवृत्ति हिन्दू धर्म में भी मुख्य होती गई और ईश्वर को मानवीय भावनाओं का विषय बनाया गया तथा साथ ही गुह्य समाजों के रूप में तान्त्रिक रति-क्रिया मांस मदिरादि के द्वारा गुह्य योग का भी अभ्यास करते रहे। सर्व साधारण के लिए वर्ग, वर्ण, जाति आदि बाहरी बातों पर ध्यान न देकर बौद्ध तंत्रों ने सरलतम साधना का प्रचार किया और सामान्य गृहस्थ जीवन को अत्यधिक गौरव दिया। यह स्मरणीय है कि गुह्य योग का अधिकार केवल चुने हुए लोगों को ही दिया जाता था, सामान्य जनता के लिए तान्त्रिकों ने उपासनापरक धर्म पर ही विशेष बल दिया है जिसमें मनुष्य के राग और भाव के उपयोग पर विशेष बल दिया गया है। मन किस प्रकार स्थिर हो, इसके लिए मन को आकर्षक लगने वाली वस्तुओं को ही उपाय के रूप में तान्त्रिकों ने स्वीकार किया। जिससे बन्धन है उसी से मुक्ति होनी चाहिए क्योंकि विष से विष का नाश होता है, यह उनका तर्क है। मैल से ही मैल छूटता है, जो लोहा समुद्र में डूब जाता है, उसी से नाव बनाकर पार हो जाते हैं, अत: ज्ञान द्वारा भोग मुक्तिदाता है, यह तन्त्रों का

विचारधारा तथा तान्त्रिक बौद्ध देवमण्डल का विकास अपने चरम शिखर पर इस युग में पहुँचा। नालन्दा, विक्रमशील तथा ओदन्तपुरी तंत्र-साधना के प्रकाश स्तम्भ थे।

ह्वानच्वांग के अनुसार सप्तमी शताब्दी में बंगाल में १० सहस्र संघाराम थे। श्री हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार १० लाख बौद्ध परिवार बंगाल में रहते थे। १२ वीं शताब्दी तक ब्राह्मण व जैन प्रभाव बंगाल में बहुत कम था, बौद्ध प्रभाव बहुत अधिक था। बौद्ध संघ दृढ़ व शक्तिशाली थे। बौद्ध पुरोहित धारणी रचते, बोधिसत्वों की पूजा करते और मृत्यु व विवाहादि में कृत्य कराते थे। प्रत्येक कृत्य मन्त्र से सम्पन्न होता था। १२ वीं शताब्दी में बल्लालसेन ने जन-गणना कराई थी, इसमें केवल ८०० परिवार ब्राह्मणों के मिले थे। इस प्रकार मुसलमानों के आने के पूर्व पूर्वी भारत में बौद्ध प्रभाव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। बंगाल की तीन-चौथाई आबादी बौद्ध हो चुकी थी, बौद्धों ने तान्त्रिक बौद्ध मत को इतने सरल रूप में प्रस्तुत किया था कि बिना ज्ञान के ही धारणी मन्त्रों के जाप से, अथवा बोधिसत्वों की पूजा व ध्यान से सब कुछ प्राप्त हो सकता था। धनी वर्ग के लिए बौद्ध पुरोहित धन लेकर मन्त्र जपते थे और फल धनदाता को होता था। सारा समाज अत्यधिक सरल धर्म और आचारों के द्वारा इस जीवन में भुक्ति और मृत्यु के बाद मुक्ति की प्राप्ति सम्भव समझता था किन्तु इस युग में तान्त्रिक बौद्धमत क्रिया प्रधान (मैत्रामैंटल) होता गया। शिक्षित बौद्ध वर्ग इन क्रियाओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि से परिचित होने के लिए नालन्दा, विक्रमशील व ओदन्तपुरी में जाते थे परन्तु सामान्य जनता मन्त्र जप, देवमूर्ति पूजा, गुरुसेवा, ध्यान तथा धार्मिक कृत्यों तक ही सीमित थी। गुह्य साधकों में वामाचार का प्रचार था। स्वयं विश्वविद्यालयों में भी वामाचार प्रधान बौद्ध साधना का अभ्यास बढ़ रहा था। नाना देवताओं और देवियों का आविष्कार और अनेकानेक रहस्यमय अनुभवों व उपलब्धियों का विस्तार इन विश्वविद्यालयों द्वारा हुआ है। संघों में भिक्षु अविवाहित रहते थे परन्तु वज्रयान के प्रभाव स्वरूप संघ के बाहर के साधक विवाह करते थे, किन्तु वे उसे विवाह नहीं कहते थे, 'शक्ति ले रहा हूँ' विवाह में स्त्री के लिए ये शब्द कहे जाते थे।[1]

---

[1] माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उड़ीसा—एन० एन० वसु, कलकत्ता १९११

नाथपन्थियों में आज तक मिलती हैं। यद्यपि इन सन्तों पर हिन्दू पातंजल योग, शैव योग तथा वेदान्त का भी प्रभाव मिलता है। परन्तु बौद्ध प्रवृत्तियाँ उनमें बिल्कुल स्पष्ट हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि बौद्ध धर्म का इस देश से सहसा ही निष्कासन हो गया, यह कहना अधिक समीचीन होगा कि बौद्धमत, तान्त्रिक बौद्धमत, नाथमत, सन्तमत तथा वैष्णव मतों का रूप धारण करके भारतीय समाज में मिल गया है।

बंगाल में कैवर्त, योगी, धर्मधारिया योगी, धर्मदेवता के उपासक, कर, अनाचरणीय कहलाने वाली जातियाँ, सुनार, बढ़ई, चित्रकार, वैश्य, कायस्थ आदि जातियाँ प्रथम बौद्ध थीं। नेपाल के वैश्य, सुनार, बढ़ई, चित्रकार आदि विवाहित बौद्धों की सन्तानें है। यवनों के आगमन के पूर्व ब्राह्मण व बौद्ध दो ही जातिवर्ग थे परन्तु यवनों के बाद बौद्धों को भी ब्राह्मणों द्वारा निर्मित वर्ण व्यवस्था में सम्मिलित होना पड़ा। अतः बहुत सी जातियों ने ब्राह्मणों के 'वर्णसंकर' के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया, और वे अपने मूल उद्गम को भूल गईं।[1]

नेपाल में सारे धर्म दो भागों में बंट जाते हैं—प्रथम, बौद्ध गुरु पूजक है और द्वितीय, ब्राह्मण देवता पूजक। किन्तु नेपाल से कहीं अधिक मिश्रण मैदानी भागों में हुआ। अतः यवनों के आक्रमण के पश्चात् की शताब्दियों में हिन्दू धर्म में गुरुवाद व देवतावाद घुलमिल गया। सन्तों में यह गुरुवाद स्पष्ट दिखाई पड़ता है क्योंकि उन पर बौद्धप्रभाव सबसे अधिक है। वैष्णवों में भी गुरुवाद कम नहीं है। यह स्पष्ट तान्त्रिक प्रभाव है। वेदवादी ब्राह्मणवर्ग तान्त्रिक परम्परा से प्रभावित नहीं हुआ परन्तु चैतन्यमत के गोस्वामी और भक्तों को श्री हरप्रसाद शास्त्री 'गुरुवादी' मानते हैं।[2]

महाराष्ट्र का 'विठोबा देवता' तथा पुरी के जगन्नाथ पर बौद्ध प्रभाव सभी मानते हैं।[3] इसी तरह धर्म सम्प्रदाय, सहज या वैष्णव मत, नाथमत, *तथा बंगाल के सराकी तांत्रिक लोग बौद्धों से प्रभावित हैं। 'सराकी' स्पष्टतः* श्रावक का अपभ्रंश है।

११ वीं शताब्दी में बौद्धमार्ग प्रवृत्तिमार्ग व निवृत्तिमार्ग दो भागों में

---

१ मोडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उड़ीसा - भूमिका भाग
२ वही
३ वही

विभाजित हो गया था। प्रवृत्तिमार्ग में सहजिया साधना प्रचलित थी। अतः यवनों के शासनकाल में भी सहजिया सम्प्रदाय प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थों को प्रभावित करता रहा। वैष्णव धर्म के रूप में यह अब तक जीवित है।

निवृत्तिमार्गीय साहित्य में रमाईपंडित ने 'शून्यपुराण' लिखा। धर्म-सम्प्रदाय के प्रवर्तक रमाई थे। शून्यपुराण में महायानमत स्वीकृत है। 'शून्य' को एक निराकार ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। यह धर्म-सम्प्रदाय आगे चलकर सन्तमत में अन्तर्भुक्त हो गया। निर्गुण भक्ति के विकास में शून्यपुराण एक महत्वपूर्ण शृंखला है।[1]

यवन आक्रमण के पश्चात् बौद्धों ने दक्षिणी भारत में विजयनगर, कलिंग गोवा आदि स्थानों में अपने केन्द्र स्थापित किए। उड़ीसा में आज भी बौद्धमत जीवित है। उड़ीसा में १९ वीं शताब्दी में प्रचलित 'महिमाधर्म' भी बौद्ध मत का ही एक ही रूप है। इसे 'सद्धर्म' भी कहते हैं। इसने न केवल उड़ीया-वैष्णव मत को प्रभावित किया है बल्कि सन्त सम्प्रदाय को भी प्रभावित किया है। मध्य देश के वैष्णव धर्म व सन्तमत की पृष्ठभूमि में बौद्धमत का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। तांत्रिक बौद्धमत से प्रभावित बंगाली वैष्णवों ने वल्लभ, हरिदास, हितहरिवंश आदि की विचारधारा व साधना-पद्धति को दूर तक प्रभावित किया।

---

१ मोडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उड़ीसा—(भूमिका महा-हरप्रसाद शास्त्री) नगेन्द्रनाथ वसु

३

पांचरात्र तांत्रिक मत

तान्त्रिक दर्शन एव साधना के इतिहास म पाचरात्र मत का स्थान महत्त्व-पूर्ण है इस मत की २१० से भी अधिक सहिताएं प्राप्त होती है । इन सहिताओ का समय अनिश्चित है किन्तु श्रेडर के अनुसार पौष्कर, सात्वत, जयाख्य, वाराह, ब्रह्म, पारमेश्वर सनत्कुमार, परम, पद्मोद्भव, माहेन्द्र, काराव, पद्म ईश्वर तथा अहिर्बुध्न्य सहिताएं आठवी शताब्दी स पूर्व तक अवश्य निर्मित हो गई थी ।[1] अन्य सहिताएं आठवी शताब्दी के बाद भी लिखी जाती रही । नारद पाचरात्र की भी इन्ही परवर्ती सहिताओं म गणना होनी चाहिए ।

अहिर्बुध्न्य सहिता का निर्माण काश्मीर म हुआ था । इससे यह भी पता चलता है कि पाचरात्र आगम क साथ शैवो का घनिष्ठ सम्बन्ध था ।

इस मत का सम्बन्ध पुरुषसूक्त (ऋग्वेद) तथा शतपथ ब्राह्मण म आगत नारायण पाचरात्र नामक यज्ञ से जोडा जाता है ।[2] शतपथ मे पाचरात्र शब्द

---

१ इन्ट्रोडक्शन टू द पाचरात्र एड द अहिर्बुध्न्य सहिता—एफ० ओ० श्रेडर अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १६१६ ।

२ शतपथ—१३—६—१

वर्ग विशेष के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। महाभारत के शान्तिपर्व में श्वेत द्वीप की कथा है जहाँ नारद को भक्ति का उपदेश नारायण से मिला। संभवतः श्वेत द्वीप से उत्तरीय पर्वत प्रदेश संकेतित है, क्योंकि पांचरात्र आगमों का निर्माण सर्व प्रथम उत्तरी भारत में ही हुआ है।[1] निश्चित रूप से पांचरात्र तंत्रों का निर्माण मूल महाभारत के बाद हुआ है। पांचरात्र तंत्रों में जिस आचार का वर्णन मिलता है वह वर्तमान रूप में प्राप्त महाभारत में भी नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत के दीर्घ निर्माणकाल (४०० ई० पू० से ४००ई०पश्चात् तक) के समानान्तर पांचरात्र संहिताओं की रचना होती रही है।

पांचरात्र मत अवैदिक तत्वों से युक्त है। इसीलिए इसकी स्मृतियों में निन्दा की गई है।[2] सात्वत शब्द का अर्थ ही निम्न जाति है।[3] व्यवसाय की दृष्टि से सात्वत लोग मूर्ति पर चढ़ी हुई भेंट, दीक्षा व दान पर निर्भर रहते थे। वे वैदिक यज्ञ नहीं करते थे। डा० एम० एन० दास गुप्त का अनुमान है कि बादरायण ने इसीलिए पांचरात्रों का खंडन किया है।[4]

यामुनाचार्य ने "आगम प्रामाण्य" में कापालिक, कालामुख और पाशुपत मतों को अवैदिक तथा पांचरात्र मत को वैदिक सिद्ध किया है। उनके अनुसार यह मत उन भक्तों के लिए है जो वैदिक यज्ञों के झगड़ों से दूर रहना चाहते थे।[5] किन्तु यामुनाचार्य के इस प्रयत्न से ही स्पष्ट है कि यह मत अवैदिक था। डा० दास गुप्त के अनुसार पांचरात्र पूजा-पद्धति भी अवैदिक है। यह पद्धति छठवीं शताब्दी में ही प्रचलित होगई थी किन्तु इसका उन्होंने प्रमाण नहीं दिया है फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में यह मत अच्छी स्थिति में था जैसा कि बेसनगर के स्तम्भ से प्रमाणित होता है।

पुराणों में पांचरात्र मत के अनेक सिद्धान्त मिलते हैं किन्तु कहीं कहीं उनकी निन्दा भी की गई है। कूर्मपुराण में कापालिक, गारुड़, शाक्त, भैरव,

---

१ श्रेडर, पृ० १६

२ ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलोसफी—डा० एस० एन० दास गुप्ता, जिल्द ३, पृ० १५, कैम्ब्रिज, १९४०

३ वही

४ वही

५ वही पृ० १७

पाचरात्र तथा पाशुपत मत की निन्दा की गई है।[1] स्कन्द पुराण मे भी पाचरात्र मत मे दीक्षित द्विज को गर्हित कहा गया है।[2] किन्तु इसके विपरीत श्रीमद्भागवत, महाभारत, विष्णुपुराण, नारदीय, पद्म, वाराह आदिपुराणो म इसे सात्विकपुराणमत कहा गया है।[3]

पाचरात्र शब्द का अर्थ तत्व, मुक्तिप्रद, भक्तिप्रद, यौगिक तथा वैशेपिक–यह पाँच प्रकार का ज्ञान है। रात्र शब्द का अर्थ ज्ञान है। तत्व का अर्थ सृष्टि की उत्पत्ति है। मुक्ति खड मे आवागमन से मुक्ति का वर्णन है। भक्ति और योग उपायो के रूप मे स्वीकृत हैं। वैशेपिक मे इन्द्रियो के विपयो का वर्णन है। नारद पाँचरात्र मे 'रात्र' शब्द का अर्थ है **"किस प्रकार हमे ज्ञात नही।"** आजकल पाचरात्र शब्द से वैष्णव सम्प्रदाय का अर्थ लिया जाता है।

पाचरात्र तत्रो मे दर्शन, मत्र, यत्र, माया, योग, मदिरनिर्माण, प्रतिष्ठा-विधि, संस्कार, वर्णाश्रमधर्म, तथा उत्सव इन दस विपयो का वर्णन है। भक्ति के साथ वैष्णव तन्त्रो म इस प्रकार योग, मत्र, यत्र आदि को स्वीकार किया गया है।

अहिर्बुध्न्य सहिता म दुर्वासा कहते हैं कि यह तत्र नारद को अहिर्बुध्न्य अर्थात् रुद्र से प्राप्त हुआ था। ग्यारह रुद्रा मे अहि० सात्विक रुद्र मान गए। इस कथा से भी स्पष्ट है कि प्रारम्भ मे वैष्णव मत शैव धर्म के साथ सम्पृक्त था।

दर्शन—सिद्धान्ता की दृष्टि से अहि० सहिता सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार ब्रह्म मन और वाणी से परे है किन्तु उसका सगुण रूप भी स्वीकार किया गया है। क्योकि ब्रह्म सर्व शक्तिमान है, अत. यह अनन्त शक्तियों के द्वारा साकार रूप भी धारण कर सकता है। हिरण्यगर्भ, वासुदेव, शिव आदि उसी के नाम हैं।[4]

शक्ति का अर्थ जगत् की उत्पत्ति व प्रलय करने की सामर्थ्य किया गया

---

१ ए हिस्ट्री आफ इडियन फिलोसफी-डा० एस० एन० दास गुप्ता, जिल्द ३, पृ० १६, कैम्ब्रिज, १९४०
२ वही पृ० १६
३ वही पृ० २०
४ अहि० सहिता—एम० डी० रामानुजाचार्य द्वारा सम्पा० जिल्द १, पृ० १२ आडयार लाइब्रेरी, मद्रास, १९१६

है। इसी प्रकार ऐश्वर्य का अर्थ है—स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने की शक्ति। बल का अर्थ है जगत की रचना करते हुए भी अशान्त न होना।

उपादान कारण होने पर भी ब्रह्म का विकार से रहित रहना वीर्य है। तेज का अर्थ है कि किसी की सहायता के बिना ही ब्रह्म सृष्टि रचने में समर्थ है। इस प्रकार ब्रह्म अपने गुणों द्वारा जगत् का उपादान होकर भी विकार से रहित रहता है। स्पष्टतः यह शक्तिवादी सिद्धान्त है, शैव जिसे स्वच्छन्द शक्ति कहते हैं, पांचरात्र उसी को सामर्थ्य कहते हैं।

शक्तिवाद—जिस शक्ति से पांचरात्रमत ब्रह्म को सारे कार्यों का कर्त्ता और उपादान कारण बनाकर भी उसे अविकारी रखता है, उसका स्वरूप क्या है।

शक्ति अवर्णनीय है, अचिन्त्या है, ब्रह्म से उसकी अपृथक् स्थिति है। उसे स्वरूपतः नहीं देखा जा सकता किन्तु शक्ति जब कार्यरत होती है तब उसको जाना जा सकता है। वह सूक्ष्मा है, सारे पदार्थों में व्याप्त है, वह 'यह है', "यह नहीं है"[1]—ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। वह ब्रह्म के साथ उसी प्रकार एकाकार है जिस प्रकार चन्द्रमा में ज्योत्स्ना। जयाख्यसंहिता में ब्रह्म को सूर्य और शक्ति को रश्मि तथा ब्रह्म को अग्नि व शक्ति को स्फुलिंग और ब्रह्म को अम्बुधि तथा शक्ति को ऊर्मि कहा गया है।[2]

यह शक्ति स्वच्छन्द शक्ति है, इसका प्रस्फुरण ही जगत् है। यह उदित और अस्त होने वाली तथा निमेष और उन्मेषशालिनी है।[3] यह शक्ति निरोध है, आनन्दमयी है तथा नित्यपूर्णा है। आत्मभित्ति पर अपना ही उन्मीलन कर यह शक्ति जगत् के रूप में परिणत होती है और उससे परे भी रहती है। जगत् को देखकर शक्ति लक्षित होती है, अतः यह लक्ष्मी है, विष्णुभाव का आश्रय लेने के कारण वह श्री है। काम (इच्छा) पूर्ण करने के

---

१ शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक्स्थिता.।
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते, दृश्यन्ते कार्यतस्तु ता।
सूक्ष्मावस्था हि सा तेषां सर्वभावानुगामिनी।
इदन्तया विधातुं सा न निषेद्धुं च शक्यते—
सर्वभावानुगा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः अहि० पृ० २०, जिल्द १

२ जयाख्य संहिता - ६-७८

३ अहि० पृ० २१

कारण 'कमला', काल से परे होने से 'पद्मा', विष्णु की सामर्थ्य रूपिणी होने से 'विष्णुशक्ति' और अपने कार्यों से पति को प्रसन्न करने के कारण वह 'विष्णुपत्नी' है। वह जगत् को अपने भीतर संकुचित करती है, अत 'कुण्डलिनी' है। शुद्धसत्वाश्रया होने से वह 'गौरी' है। गायकों की रक्षिका होने से वह 'गायत्री' है। जगत् का सृजन करने के कारण वह 'प्रकृति' है तथा माता, शिवा, तरुणी, तारा, मोहिनी, इडा, रति, सरस्वती, महाभासा और वैष्णवी भी उसी के नाम हैं।[1]

शक्ति के स्वरूप को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि पांचरात्र तंत्रों मे शैवों की ही तरह शक्तिमान की एकता स्वीकृत है।

सृष्टि विकास—शैवों की ही तरह यहाँ ब्रह्म मे सर्व प्रथम सृष्टि संकल्प माना गया है।[2] यह सकल्प ब्रह्म अपनी क्रीडा के लिए करता है।[3] यह संकल्प ब्रह्म की शक्ति लक्ष्मी द्वारा पूरा होता है। लक्ष्मी क्रिया शक्ति के रूप मे व्यक्त होकर सुदर्शन कहलाती है। यह सुदर्शन शक्ति देशकाल से परे है। भूति शक्ति लक्ष्मी का दूसरा अंश है जो उपादान कारण है और क्रियाशक्ति निमित्त कारण है। भूतिशक्ति द्वारा सृष्टि की रचना होती है और क्रियाशक्ति सृष्टि की प्रेरिका और शासिका बनती है।

व्यूह सृष्टि—उपर्युक्त ज्ञान-बल आदि छः गुणों के द्वन्द्वों से शुद्ध सृष्टि इस प्रकार होती है—

संकर्षण (बलराम)	प्रद्युम्न	अनिरुद्ध
|	|	|
ज्ञान + बल	ऐश्वर्य + बल	शक्ति + तेज
|	|	|
वासुदेव के अग्रज	पुत्र	पौत्र
|	|	|
बलराम की शक्ति = शांति	सरस्वती	रति

वासुदेव को ब्रह्म माना गया है जो बलराम और उनकी शक्ति शांति को उत्पन्न करते हैं। बलराम को शिव भी माना गया है। प्रद्युम्न को ब्रह्म और अनिरुद्ध को पुरुषोत्तम माना गया है। क्रमश. उनकी शक्तियां सरस्वती

१ अहि० सहिता पृ० २१, २२,२३
२ वही पृ० १२
३ वही पृ० १२४

और रति है। इसे शुद्ध सृष्टि कहा गया है। इसमें विकार नहीं आता। इसी प्रकार अलौकिक गुणों के उपादान से वैकुण्ठ या विश्राम-भूमि की रचना होती है। इसी विश्राम-भूमि को प्राप्त करने के लिए भक्त लोग आराधना करते हैं।

ज्ञान का विवेचन करते हुए बारह मासों के अधिदेवताओं के रूप में वासुदेव, बलराम, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के तीन-तीन रूप कल्पित किये गए। इन देवताओं के वेश, वस्त्र, अस्त्र आदि का अन्य तत्त्वों की तरह ही वर्णन किया गया है। वैष्णव जो मस्तक पर तीन खड़ी रेखाएँ खींचते हैं वे इन्हीं देवताओं के प्रतीक हैं।

अवतार—शुद्ध सृष्टि में अवतार या विभव की भी गणना होती है। अहि० संहिता में ऐसे ३९ अवतार बताए गए हैं जिनमें कल्कि अवतार भी शामिल है किन्तु बुद्ध या ऋषभ को स्वीकार नहीं किया गया है जैसा कि परवर्ती पुराण श्रीमद्भागवत में किया गया है।

जिस प्रकार दीपशिखा से ज्योति का प्रवाह उत्पन्न होता है उसी प्रकार अवतारों का समूह विष्णु ज्योति का प्रवाह है। इन ज्योतियों में से किसी एक की साधना से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। कुछ पवित्र जीवात्माओं को 'आवेशावतार' कहा जाता है जैसे बुद्ध, व्यास, अर्जुन, परशुराम आदि। पाँचरात्र विधि से पूजित होने पर मूर्तियाँ भी अवतार हो जाती हैं क्योंकि उनमें विष्णु शक्ति अवतरित होती है। इन मूर्तियों को 'अर्चावतार' कहा जाता है। इस प्रकार मूर्तिपूजा वस्तुतः शक्तिपूजा है, प्रस्तरपूजा नहीं। सब आत्माओं का शासक और सबमें व्याप्त रहने के कारण अनिरुद्ध को अन्तर्यामी अवतार माना गया है। योग द्वारा इसी अन्तर्यामी रहस्यात्मक शक्ति को जाग्रत किया जाता है।[1]

स्वर्ग-सिद्धान्त—शुद्ध सृष्टि में अवतारों के अतिरिक्त वैकुण्ठ का भी वर्णन है। इसे परमव्योम कहा गया है। आनन्द, भोग, वैभव सब कुछ यहाँ प्राप्त हैं परन्तु यह सब अलौकिक होने के कारण विकार रहित है।[2] यह परमव्योम ब्रह्माण्ड से परे है। अन्य स्वर्ग विष्णु की एक-चौथाई शक्ति से बने हैं जबकि परमव्योम विष्णु की तीन-चौथाई शक्ति से बनता है।

---

१ श्रेडर—पृ० ४६

२ अहि० पृ० ५२, ५१

परमव्योम में पदार्थ व मुक्त प्राणी दोनों रहते हैं। पदार्थों में पुष्पमाला, चन्दन, मोती, जवाहर, वस्त्रादि हैं। इस परमव्योम या वैकुण्ठ में वासुदेव अपने व्यूहों, अवतारों तथा मुक्त जीवों के साथ आनन्द क्रीडा में तल्लीन रहते हैं।[1] इस परमव्योम में मुक्तजीव लक्ष्मीयुक्त भगवान के दर्शन का लाभ उठाते हैं। भगवान् का षड्गुणधारी अप्राकृत रूप केवल मुक्त जीवों को ही सुलभ है। महाप्रलय का भी इस परमव्योम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वहाँ अप्रतिहत रूप से, सृष्टि व लय से अप्रभावित होकर भगवान की लीला चलती रहती है। परमव्योमवासी वासुदेव, कौस्तुभ, श्रीवत्स, गदा, शंख, धनुष, असि, असिकोष, चक्र, बाण, हार आदि पदार्थ धारण करते हैं। तान्त्रिकों की तरह इनके पारमार्थिक अर्थ भी दिए गए हैं जिससे लगता है कि परमव्योम का मतलब भी उच्चतम् सत्ता की प्राप्ति के लिए एक प्रेरणा के रूप में ही गृहीत हुआ है।

कौस्तुभ = आत्मा
श्रीवत्स = प्रकृति
गदा = महत्
शंख = सात्विक अहंकार
असि = ज्ञान
असिकोष = अज्ञान
चक्र = मन
बाण = इन्द्रियाँ
हार = तत्त्व

इस परमव्योम या वैकुण्ठ में स्थित वासुदेव को व्यूह वासुदेव से अलग 'परवासुदेव' कहा गया है।[2] शैव भी सर्वातीत तत्त्व को 'परमशिव' कहते हैं। व्यूहवासुदेव (शैवों का शिव) परवासुदेव से ही उत्पन्न होता है। यह परवासुदेव परमव्योम में कभी लक्ष्मी के साथ और कभी-कभी तीन या आठ शक्तियों के साथ विहार करता है। इनमें श्री, भूमि और लीला जैसी देवियां हैं। अहि० संहिता में कहा गया है कि परवासुदेव के साथ-साथ अन्य देवताओं व शक्तियों की उपासना भी करना चाहिए। इनके अस्त्र, शस्त्र, वेष,

---

१ श्रेडर—पृ० ५० से ५२ तक।

२ श्रेडर पृ० ५३

भूपादि का ध्यान व मंत्र-साधना का विधान भी मिलता है।[1] अहिर्बुध्न्य
में स्पष्ट कहा गया है कि श्री, भूमि, लीला, इच्छा, क्रिया व शक्ति
साथ सम्बन्धित है।[2] श्री को सौभाग्य, भूमि को प्रभाव तथा लीला को
सूर्य, चन्द्र व अग्नि का प्रतीक भी माना गया है। श्री शक्ति के छः रूप
बताए गए है—

१ योग, २ भोग, ३ वीर्य शक्ति। इनका सम्बन्ध क्रमशः योग, भक्ति
तथा मन्दिर-पूजा के साथ स्थापित किया गया है। अतः परमव्योम का इनसे
केवल ब्रह्माण्ड के बाहर स्थित कल्पित स्वर्ग से ही नहीं है अपितु वह आन्तरिक
व बाह्य साधना का भी प्रतीक है। परमव्योम में वर्णित आठ शक्तियों
कीर्ति, श्री, विजया, श्रद्धा, स्मृति, मेधा, धृति व क्षमा की भी गणना की गई है।
स्पष्ट है कि ये देवियाँ पिंड-स्थित भी हैं और स्वर्गस्थित भी अतः स्वर्ग अन्दर
भी है और बाहर भी।

इस परमव्योम में निम्न प्रकार के जीव रहते हैं—पहला नित्य या दूर
जीव—ये परवासुदेव की आज्ञा से रहस्यमय कार्य करते हैं। वह, अनन्त
गरुड़, समुद्र आदि ऐसे ही नित्य जीव हैं। इनमें वासुदेव के 'पारिषद' भी हैं
यथा अनन्त और गरुड व नित्य जीव भी अवतार धारण कर सकते हैं।[3]
दूसरा मुक्त जीव व त्रसरेणु के आकार के हैं। इनका शरीर आध्यात्मिक है
ये सूक्ष्म शरीर धारण कर सकते हैं और जगत में विचर सकते हैं। परन्तु
जगत् के विधान में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। वासुदेव की सेवा व क्रीड़ा में
ये जीव भाग ले सकते हैं।

आगे चलकर रामानुजी वैष्णवों ने बताया है कि भक्ति द्वारा वासुदेव
की उपासना करने पर परम व्योम प्राप्त होता है। परन्तु कोरे ज्ञानी ब्रह्माण्ड
व स्वर्ग के बाहर कहीं किसी कोने में उस स्त्री के समान पड़े रहते हैं जिसका
पति खो गया है।[4] इस प्रकार बौद्धों का सुखावती स्वर्ग, शैवों का कैलाश
तथा पांचरात्रों का परम व्योम अद्भुत सादृश्य रखते हैं।

शुद्धेतरसृष्टि—भूतशक्ति का विकास कूटस्थ तथा माया शक्ति के रूप में

---

१ अहि० संहिता पृ० २६८
२ श्रेडर पृ० ५४
३ श्रेडर पृ० ५६
४ वही पृ० ५८, ५९

ा है। कूटस्थ व माया शक्ति के द्वारा निर्मित सृष्टि शुद्ध व अशुद्ध तत्वों युक्त होती है। काल कूटस्थ "जीवों की समष्टि" है जिससे जीव उत्पन्न ा है। माया शक्ति को प्रकृति के पदार्थों का समष्टि रूप माना गया है। प या कूटस्थ के साथ इस माया शक्ति का सयोग होने पर भौतिक शरीर के जीवो की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यहाँ सांख्य प्रभाव दिखाई पड़ता । शक्ति से नियति व नियति से काल की उत्पत्ति होती है। काल से 'गुण' पन्न होते हैं। नियति सूक्ष्म नियामक शक्ति है जो विष्णु के सकल्प (सुदर्शन= क्ति) से उत्पन्न होती है। काल कलनात्मक शक्ति है। कलना का अर्थ है गणना"। काल पदार्थों का पाचन भी करता है। काल से तत्व गुण, उसम व और रज से तमस् की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार जीव के भौतिक रीर की रचना पूर्ण होती है।[1] विद्या (माया) नियति व काल नामक क्तियो का यह वर्णन शैवागमो मे अद्भुत सादृश्य रखता है। शैवागमो मे न्हे कचुक कहा गया है। कचुक जीव की पूर्णता को सीमित करने वाली क्तियाँ हैं। शैवागमो मे कचुको की सख्या छ है—माया कला विद्या राग यति और काल। श्री श्रेडर भी इस तथ्य से सहमत है कि आगे चलकर वों के आगमो म पाचरात्र के तीन कचुको या कोशो का ही विस्तार या गया है। उत्पलाचार्य ने इसीलिए पाचरात्र सहिताओ की अनेक बार र्चा की है।[2]

अशुद्ध सृष्टि—अशुद्ध सृष्टि के विकास म पाचरात्रमत साख्य से अधिक हायता लेता है। पुरुष प्रकृति व काल के सयोग से इस प्रकार विकास ोता है—
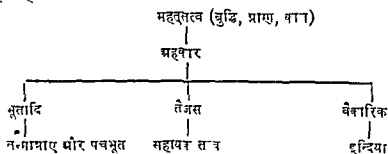
महत्तत्व (बुद्धि, प्राण, काल)
|
अहकार
|

भूतादि	तैजस	वैकारिक
तन्मात्राए और पचभूत	सहायक तत्व	इन्द्रिया

साधना—ब्रह्म की सृष्टि, रक्षा व नाश—इन तीन शक्तियो के अतिरिक्त

---

१ अहि० सहिता पृ० ५६

२ स्पन्द प्रदीपिका-उत्पलाचार्य

दो शक्तियाँ और है—निग्रह और अनुग्रह। निग्रह शक्ति से भगवान् ऐश्वर्य अपने अंश को (जीव) बन्धन में डालता है और अनुग्रह शक्ति से मुक्त कर देता है। अपनी शक्ति द्वारा जीव को बन्धन ग्रस्त करना और मुक्त कर देना-यह सिद्धान्त शैवों में भी मिलता है।[1] जीव को पाँचरात्र मत में 'अणु' कहा गया है, इसका अर्थ यह है कि जीव ब्रह्म के समान सर्व-व्यापक तथा सर्व शक्तिमान नहीं है। जीव साधना द्वारा मुक्तावस्था को प्राप्त करता है तब वह परवासुदेव के साथ विभिन्न रूप अभिन्नता प्राप्त करता है, परन्तु यह स्मरणीय है कि इस अवस्था में भी जीव का व्यक्तित्व सुरक्षित रहता है। यह पाँचरात्र मत की विशेषता है परन्तु आगे के शैव, शाक्त इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। वे ब्रह्म के साथ पूर्ण अभेद चाहते हैं। अणु रूप जीव को पूर्ण विभुता प्राप्त कराना ही साधना का लक्ष्य है परन्तु विभुता का अर्थ भिन्न समझते हैं। उनके अनुसार जीव मुक्त हो जाने के पश्चात् विभुता प्राप्त कर लेने पर भी परवासुदेव के समान 'पूर्णविभु' नहीं हो सकता।

जीव की अणुता का कारण है भगवान की निग्रहशक्ति। यह शक्ति ईश्वरीय गुणों का तिरोधान करता है। आकार के तिरोधान से अणुत्व, ऐश्वर्य के तिरोधान से अकिंचित्करता और विज्ञान के संकोच से 'अज्ञता' प्राप्त होती है। इस तिरोधान शक्ति से जीव अणु को आर्त्त देखकर भगवान में, बौद्धों के अवलोकितेश्वर की तरह 'अनुग्रह शक्ति' जाग्रत हो जाती है। उनके हृदय में कृपा उत्पन्न हो जाती है।[2] इस कृपा से जीव के अणुत्व का पूर्ण नाश हो जाता है। अनुग्रह शक्ति के बिना जीव अनादि वासना से जन्य जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। विष्णु की जिस जीव पर करुणा उत्पन्न होती है उस पर उनका शक्तिपात या शक्तिपात या शक्तिभाव होता है। शक्तिपात ही जीव को इस संसार से पार उतारता है।[3] उसकी पहिचान यह है कि इसके पश्चात् जीव मोक्षसमीक्षा से मुक्त हो जाता है। वह सांख्य, योग तथा उग्रव्रत अर्थात् पाशुपत मत धारण करता हुआ क्रमशः अन्त में वैष्णव मत की ओर अग्रसर होता है और अनाविल वैष्णवमत को प्राप्त होता है।

---

१ श्रेडर पृ० ६०

२ एवं सृष्टि तिचक्रस्थे प्राम्यमाणे स्वकर्मभि
जीवे दु:खाकुले विष्णो कृपा काऽप्युपजायते। अहि० पृ० १२६

३ शक्तिपात स वै जीवमुत्तारयति सघृते—अहि० संहिता पृ० १२७

मनुष्य जीवन का उद्देश्य है दुःख संतति से बचकर अविनाशी आनन्द प्राप्त करना।[1] आनन्द या नित्य सुख भगवन्मयता से ही सम्भव है, अर्थात् ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति से ही जीव नित्य सुख का अधिकारी बनता है।[2] इस भगवन्मयता को धार्म कर्म से प्राप्त किया जा सकता है। इस भी धर्म का प्रथम सोपान है। धर्म के दो भेद है—(१) व्यवधान धर्म और (२) साक्षात् आराधना धर्म। प्रथम में वासुदेव के किसी प्रतिनिधि देवता या अवतार की आराधना की जाती है यथा विष्णु, ब्रह्मा, महेश, इन्द्र आदि। साक्षात् आराधना का तात्पर्य है वासुदेव उपासना। इसमें अन्य देवताओं की उपासना नहीं की जाती। पांचरात्र उपासना साक्षात उपासना है जबकि वैदिक व पाशुपत उपासना व्यवधान उपासना है।[3] इसी प्रकार सांख्य परोक्ष ज्ञान है और वेदान्त साक्षात्कारमय ज्ञान है। 'योग' भी साक्षात्कारमय ज्ञान के लिए सोपान के रूप में स्वीकार किया गया है। योग दो प्रकार का है—निरोध योग और कर्मयोग। निरोध योग में चित्तवृत्ति का निरोध ध्येय है। इसके भी बाह्य व आभ्यन्तरिक दो भाग किए गए है। कर्मयोग में अनेक कर्मों व धार्मिक क्रियाओं को स्वीकार किया गया है और इसमें भी बाह्य व आन्तरिक दो भेद किए गए है।[4]

दीक्षा—साधना का अधिकारी कौन है इस विषय में पांचरात्र मत वैदिकमत से सादृश्य रखता है। पांचरात्र सवर्णों को ही साधना का अधिकारी मानता है। शूद्र के लिए ब्राह्मणों की सेवा ही धर्म है।[5] वर्ण व्यवस्था का पूर्ण समर्थन पांचरात्र संहिताओं में किया गया है। केवल ब्राह्मण व क्षत्रियों के लिए ही सन्यास धर्म का विधान है। सन्यासियों को निर्वाण प्राप्त होता है परमव्योम प्राप्त नहीं होता। निर्वाण का अर्थ है दीपज्योति के समान शान्त हो जाना।[6]

इस मत में दीक्षागुरु को अन्य सभी गुणों के साथ याग स्वाध्यायतत्पर

---

१ अहि० पृ० ११५
२ वही पृ० ११६
३ वही पृ० ११७
४ श्रेडर पृ० १११
५ शूद्रः शुश्रूषया तेषा, भगवत्कर्मसाधनात।
 आरागरोवलोम तद्वर्नयाति हरे पदम्—अहि० पृ० १३०
६ वही पृ० १४०

तन्त्रान्तरविचक्षण, तन्त्रार्थतत्त्वज्ञ, मंत्रज्ञ और यन्त्रविचक्षण भी कहा गया है।[1] स्पष्ट है कि पांचरात्र गुरु कोरा भक्त नहीं, अपितु वह योगी व मन्त्र-यन्त्र विशेषज्ञ भी होता है। शिष्य का 'द्विजाति' होना आवश्यक है।[2] शिष्य में तुम्हारी शरण आया हूँ, ऐसी वृत्ति वाला होना चाहिए। शिष्य को शपथ लेनी पड़ती है कि वह साधना रहस्य को गुप्त रखेगा।[3] इस मत में शैव, शाक्त तंत्रों की तरह ही 'अंगन्यास' अर्थात् मंत्रोच्चारण द्वारा शिष्य के विभिन्न अंगों पर स्वर, व्यंजनों व देवता की प्रतिष्ठा की जाती है।[4] पुनः सुदर्शन मन्त्र दिया जाता है। शरीर के भी मन्त्र की ही तरह कई रूप बताए गए हैं। मन्त्र-दीक्षा के समय इस बात पर बल दिया गया है कि मन्त्र का प्रयोग क्षुद्र कार्यों के लिए नहीं किया जाय। कहा गया है कि एक लाख बार मन्त्र जप करने से मन्त्रनाथ प्रसन्न होते हैं।[5]

योग—पांचरात्रमत में योग साधना पर भक्ति से अधिक बल दिया गया है। वस्तुतः भक्ति, योग के ही एक रूप में यहाँ स्वीकृत है। शैवों और शाक्तों के यहाँ भी भक्ति व योग दोनों को योग ही कहा गया है परन्तु फिर भी पांचरात्र मत में भक्ति के लिए अधिक स्थान है। यहाँ योग को 'आत्महविष्' अर्थात् देवता को पूर्ण आत्मसमर्पण कहा गया है। यह आत्महविष् तभी सम्भव है जब जीव अपने को प्रकृति के आवर्षणों से मुक्त कर लेता है।[5] प्रकृति के बन्धनों से रहित जीव 'आत्महविषावस्था' में सर्वज्ञ, विकाररहित, सर्वभूतस्थ और शान्त हो जाता है।[7] अतः योग का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा में संयोग का नाम है। प्रत्येक क्षण परमात्मा के साथ एकता की अनुभूति का नाम ही योग है। इस एकता की अनुभूति के बिना बाह्य क्रियाएँ फल नहीं देती। इस योग के आठ अंग हैं जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम,

---

१ शुद्धः शुश्रुषया सेवा, भगवत्कर्म साधनात्। परापरोप लोभः संदर्शनैर्याति हरेः पद्म-अहि० पृ० १८४-१८५
२ वही पृ० १८५
३ वही
४ वही
५ वही पृ० १९२
६ अहि० संहिता पृ० २६०, जिल्द २
७ वही पृ० १९२

प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि को स्वीकार कर लिया गया है। समाधि द्वारा सभी सिद्धियाँ भी प्राप्त होती है, यह भी कहा गया है।[1]

सत्य को प्राप्त करने के दो उपाय हैं—१–समाधि और २ मन्त्र ध्यान। अन्यत्र योग के तीन प्रकार बताए गए है—प्राकृत, पौरुष और एश्वर्य। प्रथम मे मूल प्रकृति का, द्वितीय मे पुरुष का और तृतीय मे सिद्धि प्राप्त करने के लिए देवताओ का ध्यान किया जाता है। अन्यत्र सकल, निष्कल और विष्णु इन तीन योगो का उल्लेख है। शब्द, व्योम और सविग्रह् यह एक और विभाजन मिलता है। सविग्रह योग मे मूर्ति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। उसके पश्चात् चक्रो का ध्यान किया जाता है। अन्त मे साधक का ब्रह्मरन्ध्र खुल जाता है। निष्कल योग मे साधक सूक्ष्म सत्ता पर ध्यान केन्द्रित करता है। फलत उसकी आत्मा का ब्रह्म के रूप मे उसके लिए उद्घाटन हो जाता है। योग के तृतीय रूप मे मन्त्र पर ध्यान केन्द्रित करना पडता है। योग क्रिया द्वारा ब्रह्मरन्ध्र भेदकर जीवात्मा अत मे वासुदेव को प्राप्त करता है।[2]

नाडी योग—ध्यान की एकाग्रता के लिए नाडी योग को अनिवार्य माना गया है। पाचरात्र के नाडी योग मे कुछ नवीनता प्राप्त होती है। नाडियों का केन्द्र 'नाभिस्थल' है। इस नाभिचक्र मे १२ अर हैं। कुडलिनी इस नाभिचक्र को आवृत किए हुए स्थित है। यह कुडलिनी अष्टमुखवाली है और सुषुम्ना नाडी का मुख बन्द किए हुए है।[3] नाभिचक्र के केन्द्र मे अलम्बुषा व सुषुम्ना नाडिया है सुषुम्ना के पार्श्वो पर कुहू, वरुणा, यशस्विनी पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शखिनी, गाधारी, इडा, हस्तिजिह्वा तथा विश्वोदरा ये बारह नाडिया स्थित हैं। पूरे शरीर मे ७२ हजार नाडिया हैं। जिस प्रकार मकडी जाल मे रहती है उसी प्रकार प्राण शक्ति से साथ जीवात्मा इस नाभिचक्र मे भ्रमण करता है।[4] इन नाडियो मे अन्य तान्त्रिको की तरह इडा पिंगला व सुषुम्ना को ही मुख्य कहा गया है किन्तु

---

१ अहि० सहिता २९० पृ० ३०८ जिल्द २

२ ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसफी—एस० एन० दास गुप्ता पृ० ३०, ३१

३ अहि० सहिता पृ० २९९

४ प्राणारूढो भवेज्जीवश्चक्रेऽस्मिन्भ्रमते सदा।
ऊर्णनाभिर्यथा, तन्तु पञ्जरान्तर्व्यवस्थित —अहि० पृ० ३०१ जिल्द २

देवी को मन्त्रयोनि कहा गया है।[1] इस प्रकार विष्णु संकल्प-शक्ति का बाह्य शरीर ही वर्ण है।

प्रत्येक देवता के लिए उसके स्वभाव और शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्णों की योजना रखी जाती है। शक्तियों की भिन्नता के कारण ही मन्त्रों में भिन्नता मानी गई है। साधक की रुचि के अनुसार विष्णु, रुद्र या शक्ति के अलग अलग मन्त्र इसीलिए प्रचलित है।

यद्यपि पांचरात्र मत में उग्र साधनाओं का निषेध नहीं है परन्तु इसमें वाममार्ग को स्वीकार नहीं किया गया है।

रक्षा या यन्त्र—अन्य तंत्रों की तरह पांचरात्र मत में यन्त्रस्थित देवताओं का ध्यान भी स्वीकृत है। यंत्रसाधना में ध्यान की ही प्रमुखता है। 'रक्षा' के दो प्रकार हैं—ज्योतिर्गर्भी और मन्त्रगर्भा। प्रथम में अक्ष, नाभि, नेमि तथा सुदर्शन-चक्र के अन्य अवयवों का ध्यान किया जाता है और दूसरे में मंत्रों पर विशेष बल दिया गया है। यंत्र-रचना में सुदर्शन चक्र को किसी वस्त्र या धातु पर अंकित किया जाता है। इससे विघ्नों पर विजय, शत्रुनाश, बल आदि की वृद्धि होती है। यंत्र में जिस प्रकार के देवता का ध्यान किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है। केवल ब्राह्मणों को ही यंत्रों के वितरण का अधिकार दिया गया है।[2] इस साधना में अथर्ववेद की परम्परा स्वीकार की गई है। रोगों के नाश के लिए अथर्ववेद की ही तरह आध्यात्मिक उपाय बताये गये हैं। यंत्र साधना में प्रयुक्त मंत्रों के लिए स्पष्ट कहा गया है कि वे अथर्ववेद से लिए गए हैं—आथर्वणान्मया वेदान्महामन्त्र परिष्कृतात्।[3]

इस प्रकार पांचरात्र मत और शैव, शाक्त तान्त्रिक मतों में केवल शब्दों का ही अन्तर दिखाई पड़ता है। वर्णाश्रम-धर्म पर अधिक बल देने के कारण तथा वामाचार को न स्वीकार करने के कारण आगे चलकर वैष्णव-साधना को शीघ्र ही वैदिक स्वीकार कर लिया गया और दसवीं शताब्दी के पश्चात् उत्तरी भारत में जिन वैष्णव सम्प्रदायों का विकास हुआ वे यद्यपि पांचरात्र तंत्रों की परम्परा में ही विकसित हुए फिर भी अपने को पूर्ण वैदिक मानते हैं। इससे यह पता चलता है कि दसवीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय धर्म-साधना में कितना अधिक समीकरण हो चुका था।

---

१ मन्त्रयोनिरियं देवी मातृका पिण्ठिता सदा—वही „ पृ० १५८

२ . अहि० संहिता, जिल्द १ पृ० १९३,२०४,२२५

३ वही जिल्द २, पृ० ४१६

४

तांत्रिक शैव मत

पाशुपत शैव-सम्प्रदाय —पाशुपत शैव-मत का आदि रूप क्या था, यह अस्पष्ट है। किन्तु पांचरात्र मत की तरह यह मत महत्वपूर्ण है क्योंकि वैदिक यज्ञयाग् से समानान्तर इस मत का प्रचार सर्वसाधारण में भी था और प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति इस मत में स्वीकृत हो सकता था। हमने महाभारत में पशुपति रुद्र और पाशुपतव्रत पर कुछ प्रकाश डाला है जिससे पता चलता है कि शिव सामान्य जनों में प्रचलित विचित्र और भयंकर उपासनाओं के विषय भी थे।

कठोर व्रत और तपस्या पर पाशुपत मत का बल अधिक था। उपमन्यु आख्यान में कहा गया है कि कुछ लोग केवल जल, वायु का आहार करते थे। अग्निहोत्र का धुँआँ, सूर्य किरणें तथा दूध ही कुछ योगियों का आधार था। जप व ध्यान में कष्टसाध्य-तप द्वारा योगी निमग्न रहते थे।[1] शिव के भयंकर व सौम्य दोनों रूपों का वर्णन उपमन्यु उपाख्यान में मिलता है। उपमन्यु के द्वारा कहे गये शिवसहस्रनाम में परवर्ती तत्व है, तथापि इससे पाशुपतमत पर यह प्रकाश पड़ता है कि कपाल व कनेर की माला पहिनने वाले,

---

१ महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय १४

श्मशानों में विचरने वाले, अनेक सिद्धियों के अभ्यासी तथा वामाचारी साधक इस पाशुपत मत में थे। इसीलिए इसे 'अतिआश्रम' अर्थात् सब आश्रमों से ऊपर कहा गया है। अत: रामदास गौड का यह अनुमान निराधार प्रतीत होता है कि पाशुपत केवल द्विजों की मुक्ति सम्भव मानता है।[1]

श्मशानसाधना, कठोर सामाजिक नियमों की अवहेलना, यज्ञ की जगह जप, ध्यान और तप की स्वीकृति, सिद्धि-प्राप्ति पर बल, प्रत्येक प्रकार की सांसारिक इच्छापूर्ति के लिए नाना विचित्र उपाय, भक्तिभाव और लिंगउपासना ये ही इस मत का मुख्य लक्षण हैं। पाशुपत-तत्वज्ञान महाभारत में नहीं मिलता किन्तु रुद्र शिव की परम्परा में गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा जनता के सामान्य स्तरों में प्रचलित उपासना-रूपों को वैदिक यज्ञयाग् के साथ शामिल किया जा रहा था, यह स्पष्ट है। यही कारण है कि पाशुपतमत की निन्दा पांचरात्र मत भी नहीं करता जिसे बहुत समय तक वेदबाह्य माना जाता रहा और जिसके आदि प्रवक्ता रुद्र ही थे। गीता में भी रुद्र की स्वीकृति है।

पाशुपतमत के ही विकसित रूप में वीर शैवमत, लकुलीशपाशुपत आदि सम्प्रदाय दिखाई पड़ते हैं। पाशुपतमत आगे माहेश्वर मत कहलाया और रुद्रशिव का प्रभाव बढ़ता ही गया और उसका शुद्ध वैदिक रूप भी प्रचलित हो गया। वैशेषिक सूत्रकार कणाद माहेश्वर थे। न्यायभाष्यकार उद्योतकार पाशुपताचार्य कहे गए हैं। कुशनवंश के सिक्कों पर माहेश्वर सम्प्रदाय का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कुशनवंश के बाद भारशिव (१५० ई०) राजा शैव थे। वाकाटक राज्यवंश (२८४ से ३४८ ई०) पर शैवमत का प्रभाव था। उत्तर में गुप्त शासकों ने वैष्णव मत के साथ शैव मत को भी प्रोत्साहित किया। संस्कृत के कवि व नाटककारों में अधिकतर शैव थे। दक्षिण में पल्लव राज्य (२९५-३६० ई०) शैव था। तिरुमूलर (४०० ई० से ६०० ई० के बीच में कभी प्रादुर्भूत) अप्पर (६५० ई०) सुन्दर (८०० ई०) शैवमत के प्रचारक थे। सम्बन्दार, अप्पर, सुन्दर तथा माणिक्यवाचकर आदि ने शैव धर्म व शिव भक्ति का बहुत प्रचार किया। प्राचीन पाशुपतमत का ही यह विकास था। शिव की भक्ति के प्रति दक्षिण में इतना आग्रह था कि उसमें बाधा पड़ने पर शैव साधक मरने मारने पर उतारू हो जाते थे।

प्राचीन पाशुपत की परम्परा में ही दक्षिण में ६३ 'नायनमार' शिवभक्त

---

१ हिन्दुत्व—पृ० ५७८

वसवमत या वासवलिंगायतमत—१२ वीं शताब्दी में 'कल्याण' (दक्षिण) में कलचुरी वंश के राजा बिज्जल (११६२ से ११६७ ई०) के बसव नामक मंत्री ने प्राचीन वीर शैवमत को क्रान्तिकारी रूप दिया। वर्णाश्रमप्रथा का घोर विरोध ही इसका उद्देश्य था। भक्ति व लिंग-धारण को इस मत ने पूर्णरूप से स्वीकार किया किन्तु सामाजिक सुधार इस मत की विशेषता है। बसव ने अन्तर्जातीय विवाहों का प्रचार किया। एक चमार व ब्राह्मण में विवाह-सम्बन्ध का उल्लेख मिलता है। इस मत में वर्णाश्रम-धर्म का खंडन ब्राह्मणों का विरोध, वेदों की प्रमाण्यता, जन्मान्तरवाद का खंडन, तीर्थयात्रा की व्यर्थता, सगोत्रविवाह का समर्थन, शौचाशौचविधान का खंडन, विधवा-विवाह का प्रचार तथा शारीरिक-श्रम पर बल आदि प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप से पाई जाती हैं।

बारहवीं शताब्दी के पूर्व कर्नाटक में शाक्तमत, नाथपंथ, कापालिक और कालामुख मतों का प्रचार था। १२ वीं शताब्दी के बाद कालामुख सम्प्रदाय के मठों पर वीरशैवमत का अधिकार हुआ।[1]

यह वीरशैवमत शिव को निराकार मानता है। उसे बौद्धों की तरह शून्य कहा गया है। सृष्टि-विज्ञान में शक्तिवाद अपनाया गया है जिस पर आगे हम विस्तार में विचार करेंगे। इस मत में गुरु, लिंग, जंगम, पादोदक, प्रसाद, विभूति, भस्म, रुद्राक्ष, तथा मंत्र—इन आठ आवरणों द्वारा जीव पाशों से मुक्त होता है। इस मत के आचार में वामाचार को स्वीकार नहीं किया गया किन्तु एक पत्नीव्रत की बड़ी प्रशंसा की गई है। बिना इन्द्रिय-दमन किए हुए शिव-भक्ति व शिव-साधना ही विधेय मानी गई है। लिंग को शुद्ध चैतन्य तत्व का रूप दिया गया है, इसलिए लिंगोपासना इस मत में बहुत गूढ़ और गम्भीर है। इस मत में भक्ति-भाव पर बहुत बल दिया गया है और ज्ञानलक्षणा भक्ति को सर्वश्रेष्ठ भक्ति माना गया है।

वीरशैवमत की विशेषता है वामाचार और वैदिक सम्प्रदायों का विरोध तथा शिवभक्ति। ब्रह्म को निर्गुण मानकर ज्ञान-लक्षणा भक्ति का प्रचार कर्नाटक में उत्तरी भारत के निर्गुण मत के पूर्व ही हो चुका था। कबीर, दादू, नानक आदि सन्त वीरशैवों की ही तरह इन्द्रिय-दमन के विरोधी हैं और ज्ञान व भक्ति द्वारा मुक्ति के विश्वासी हैं। ये लोग संयम का अर्थ इन्द्रियों और मन

---

१ हिन्दी व कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन : हिरण्मय पृ० ६६

का नाश नही मानते। वीरशैव कबीर, दादू आदि की तरह ही समाज मे भेद-भाव के कठोर आलोचक थे।

श्रीकंठमत या शिवाद्वैतवाद—दक्षिण मे श्रीकंठाचार्य जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे वह भी शैव मतो मे एक विशेष दृष्टि (शिवाद्वैतमत) का पोषक एवं प्रचारक था। इसकी प्रवृत्ति वैदिक मत की ओर अधिक थी, श्रीकंठ व रामानुज ने शंकराचार्य के मायावाद के विरोध मे भक्तिवादी मतो का प्रचार किया था। श्रीकंठपरम्परा मे अघोर शिवाचार्य (११ वी, १२ वी शताब्दी) तथा अप्पयदीक्षित १७ वी शताब्दी ने इस मत का विशेष प्रचार किया। आचार की दृष्टि से यह मत मर्यादावादी है। शैवसिद्धान्त मत के आचार्यों ने श्रीकंठाचार्य के ग्रंथो को सबसे अधिक आदर दिया है।

नाथशैवमत—अभिनवगुप्त ने मत्स्येन्द्रनाथ को तत्रालोक मे स्वीकार किया है। कुंडलिनीयोग की स्वीकृति तथा समाज के कठोर नियमो को चुनौती देने की प्रवृत्ति के कारण कश्मीरी शैव-परम्परा मे नाथपथ का सम्मान है। हम आगे नाथपथ मे तांत्रिकयोग के स्वरूप पर विचार करेंगे।

कालमुख या कारुणिक शैव सम्प्रदाय—यह मत शक्तिविशिष्टाद्वैतवादी है और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद से सादृश्य रखता है। उपर्युक्त वीरशैव व लिंगायतो मे भी इस सिद्धान्त के मानने वाले अनेक है।

लकुलीश पाशुपत मत—इस मत मे पशु, पशुपति व पाश का विवेचन किया गया है। इसमे शिव की दास्यभाव की भक्ति पर अधिक बल दिया गया है। यज्ञ-याग के स्थान पर भस्मस्नान, भस्मशयन, जप, मन्दिर-प्रदक्षिणा आदि का प्रचार इस मत मे अधिक है। कुछ विचित्र प्रकार की चेष्टाएं इस मत मे करनी पड़ती हैं यथा शिव की तरह हाहा कर हंसना, गाल बजाना आदि। आरोपित उन्मत्तता, कामुकता के अभाव मे भी कामुकता-प्रदर्शन, विधिनिषेध की अमान्यता इस मत की विशेषताए हैं।

कापालिक—भयकरतम शैवसाधक यही हैं। नरबलि, शवसाधना कपालधारण आदि इनमे प्रचलित हैं। गुह्य होने से इनका तत्वज्ञान अप्रकाशित है। कापालिक कुंडलिनीयोग का प्रचार करते थे जो सभी शैवमतो मे समान रूप मे मिलता है। ये वर्णाश्रम विरोधी थे। कापालिक मत आगे चलकर नाथपथियो मे अन्तर्भुक्त होगया।[1]

---

१ नाथपथ : ह०प्र० द्विवेदी पृ० ७

उक्त सम्पूर्ण शैव सम्प्रदायों में शक्तिवाद सर्वत्र समान रूप से स्वीकृत है। वीरशैवमत को छोड़कर अन्य शैव सम्प्रदायों में वामाचार भी स्वीकृत है। योग तो शैवों की प्रधान विशेषता है ही। उक्त तत्व का विस्तृत विवेचन शैवागमों में हुआ है और शैवागमों की विस्तृत व्याख्या कश्मीरी शैवमत में मिलती है। दार्शनिक दृष्टि से तमिलनाड के शैव सिद्धान्तमत पर भी कश्मीरी शैवमत का प्रभाव रहा है।[1] अतः कश्मीरी शैव मत पर हम विस्तार से विचार करना आवश्यक समझते हैं। इससे नाथपंथियों और सन्तकवियों द्वारा स्वीकृत कुंडलिनी योग पर भी प्रामाणिक प्रकाश पड़ता है। सन्तकवियों ने योग की विस्तृत व्याख्या नहीं की है केवल उसका संकेत-मात्र किया है। अतः कश्मीरी शैवागमों के अध्ययन से ही हम सन्तों के कुंडलिनीयोग को ठीक ठीक समझ सकते हैं। वैष्णव कवियों के विशिष्ट शक्तिवाद पर भी यह साधना प्रकाश डालती है।

कश्मीरी शैवमत—शैव सम्प्रदायों में कश्मीरी शैव मत अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ८५० ई० में आचार्य वसुगुप्त द्वारा शिवसूत्रों का उद्घाटन हुआ। वसुगुप्त (स्पन्दकारिका) सोमानन्द (९०० ई०, शिव दृष्टि) उत्पल (१० वीं शताब्दी, प्रतिभिज्ञाकारिका), रामकण्ठाचार्य (१० वीं शताब्दी), उत्पल वैष्णव (१० वीं शताब्दी), तथा अभिनवगुप्त (१००० ई० तंत्रालोक, प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी) ने कश्मीरी शैव मत को दार्शनिक आधार दिया। भास्कर (११ वीं शताब्दी शिवसूत्रवार्तिक) तथा क्षेमराज (११ वीं शताब्दी, शिवसूत्र विमर्शिनी) ने इस मत के प्रचार में विशेष योग दिया।

वसुगुप्त के पूर्व अनेक शैवागमों का निर्माण हो चुका था। अभिनवगुप्त ने मृगेन्द्र, मातंग, स्वच्छन्द, विज्ञान भैरव, देवीयामल, कुलिशदामिनी, कुलोत्तर, कुलसार, मालिनी विजय, ब्रह्मयामल, कुब्जिका, वामकेश्वर आदि तन्त्रों का उल्लेख किया है। अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि प्रसिद्ध ६४ तन्त्रों और अनेक अप्रसिद्ध तन्त्रों का निश्चित रचना-समय क्या है। किन्तु यह निश्चित है कि अभिनव द्वारा उद्धृत उपर्युक्त तन्त्रों का निर्माण १० वीं शताब्दी से पूर्व हो चुका था। वसुगुप्त के पूर्व शैवागमों में प्राप्त द्वैतवादी या अनेक तत्ववादी दृष्टि को कश्मीरी शैवों ने स्वीकार नहीं किया[2] किन्तु साधना को यथावत् स्वीकार किया है।

---

१ डा० हिरन्यमय-पृ० ९९

२ स्वच्छन्द तंत्र—भूमिका भाग, पृ० ६ जिल्द १, रिसर्च विभाग श्रीनगर, १९२१

अभिनव गुप्त ने तान्त्रिक परम्परा को प्रसिद्धि पर आधारित माना है। वेद का प्रामाण्य उन्हें स्वीकृत नही है। उनके अनुसार ऋषियों के वाक्य क्लेशकर हैं और अल्पफलदाता है। लोकव्यवहार की रक्षा के लिए विधि-निषेध मे ही संलग्न रहने के कारण ऋषि-शास्त्र तत्वज्ञान से पूर्ण नही हो पाये, ऐसा उनका विचार है।[1] उनके अनुसार तन्त्र अनिन्दनीय है और वेदमार्ग से श्रेष्ठ है। ये तंत्र शिव के सद्योजात मुख से प्रकट हुए हैं। शिव के वामदेव मुख से वैदिक मार्ग तथा अघोरमुख से आध्यात्मिक मार्ग प्रकट हुए है। पांचरात्र मत व वैदिक मार्ग मे धर्म और ज्ञान, बौद्ध मार्ग मे वैराग्य, सांख्य मे ज्ञान व वैराग्य, योग मे ज्ञान, वैराग्य व ऐश्वर्य तथा शैव मार्ग मे बुद्धि, भावना व लोक सभी गृहीत है। इसलिए यही मार्ग सबसे श्रेष्ठ है। शिव के मुख से प्रकट होने के कारण अन्य सम्प्रदाय भी सम्मान के योग्य हैं।[2]

यह शास्त्र अनुभूति पर आधारित है। इसमे भैरव, भैरवी, लाकुल, अनन्त, गहनेश, ब्रह्मा, इन्द्र तथा बृहस्पति को प्रथम परम्परा के अनुसार आदि आविष्कारक माना गया है। नौ गुरु और नौ करोड़ मन्त्र इस परम्परा मे माने गये है। द्वितीय परम्परा मे दक्ष, वामन, भार्गव, वासुकि, रावण, विभीषण, लक्ष्मण तथा तृतीय परम्परा के अनुसार चंड, हरिश्चन्द्र, प्रमथ, भीम शकुनि, सुमति, नन्द, तथा कृष्ण को तन्त्रमार्ग का आविष्कारक माना गया है। इस परम्परा से स्पष्ट है कि इसमें बहुत से अवैदिक मतावलम्बी आचार्यों को भी माना गया है।

दर्शन—इस मत मे सत्ता शुद्ध चित्स्वरूप, देशकाल, कारण से परे, पूर्ण स्वातन्त्र्य से युक्त और निष्कल है। इसे परम शिव या परात्परब्रह्म कहा गया है। यह स्वतन्त्र सकलशक्ति से युक्त है। स्वतन्त्रता का अर्थ है कि चैतन्य जड़-तत्व के रूप मे अभिव्यक्ति के लिए बिना किसी बाह्य पदार्थ की सहायता के ही समर्थ है। सृष्टि व लय रूप मे वह व्यक्त होती है। शांकर वेदान्त मे भी सत्ता को शुद्ध चैतन्य माना गया है। किन्तु वेदान्त मे ब्रह्म स्वयं निष्क्रिय

---

१ तंत्रालोक, जिल्द १२, आह्निक ३७, पृ० ३९५, श्रीनगर, कश्मीर
२ तत्रा० " " ३५, पृ० ३७५,

रहित है। अतः माया नामक एक रहस्यमय शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। यह माया ब्रह्म के साथ एकीभूत नहीं है परन्तु फिर भी इसे जगत् का कारण माना गया है। शांकर वेदान्त इसे जड़ शक्ति मानता है। इसीलिए यह शुद्ध चैतन्य के साथ एकीभूत नहीं हो सकती। इस अनिर्वचनीय सदसद् से विलक्षण माया की कल्पना को यह मत स्वीकार नहीं करता। यहाँ स्वच्छन्द शक्ति चैतन्य की ही शक्ति मानी गई है, जो अजड़ है। इसीलिए वह चिद् शक्ति कहलाती है।[1]

डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता ने भी शांकर वेदान्त और कश्मीरी शैव मत में यह अन्तर बताया है कि तन्त्रों में माया शांकर वेदान्त की तरह अनिर्वचनीय नहीं है अपितु वह ब्रह्म की तरह सत्य है। शक्ति और सर्वशक्तिमान दोनों सद् पदार्थ हैं। जगत् भी शक्ति की अभिव्यक्ति होने के कारण सत्य है, विवर्त नहीं। एक अर्थ में उसे यथार्थ भी कहा जा सकता है क्योंकि वह ब्रह्म में एकीभूत शक्ति का आभासित रूप है।[2]

शुद्ध चैतन्य की स्वच्छन्दशक्ति को ही शक्ति या देवी कहा गया है। काली, पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, सीता, राधा, आदि की उपासना वस्तुत ब्रह्म से अभिन्न उसकी स्वच्छन्द शक्ति की ही उपासना है। यह शक्ति कई सोपानों में प्रकट होती है—१ प्रलय में विकल्पयुक्त चैतन्य में शक्ति, चिद्-शक्ति, या चित्-प्रकृति के रूप में रहती है। २—विकल्प की ओर उन्मुख होने पर यही शक्ति माया शक्ति या जड प्रकृति कहलाती है। ३—विकल्प का जन्म हो जाने पर इसी शक्ति को अविद्या कहते हैं। इस प्रकार चिद् शक्ति की अभिव्यक्ति के बाद सृष्टि या प्रतीति प्रारम्भ हो जाती है। जगत् चैतन्य का बाह्याभास है। देश, काल आदि के रूप में जगत्शक्ति के कारण आत्मा से भिन्न प्रतीत होने लगता है जैसे दर्पण में बिम्ब और प्रतिबिम्ब अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं। यह आभास की प्रक्रिया इस प्रकार होती है—

१—सृष्टि के पूर्व चैतन्य में सूक्ष्म रूप से शक्ति का अवस्थित रूप।
२—सृष्टि की इच्छा होने पर परमशिव की सत्ता शिव हो जाती है और उसमें शक्ति सन्निविष्ट रहती है। "मैं हूँ" ऐसा अनुभव होने लगता है। जगत्

---

१ त्रिपुरा रहस्य—सरस्वती भवन सीरीज, गोपीनाथ कविराज, भूमिका भाग १

२ फिलोसफीकल एसेज, पृ० १५६, कलकत्ता, १९४१

का अनुभव नहीं होता। इसीलिए शक्ति और शक्तिमान की पूर्ण एकता को साधक प्राप्त करना चाहता है।

३—इस स्थिति मे महाशून्य या आकाश का अनुभव होता है और शिव की संज्ञा सदाशिव हो जाती है। "मैं ही यह हूँ"। अहमेव इदम्। ऐसा ज्ञान इस स्थिति मे होता है।

४—जड तत्व का प्रभाव बढने पर चैतन्य को यह अनुभव होता है—"यह मैं हूँ (इदं अहम्) इस स्थिति मे "यह" अर्थात् जगत् प्रधान होने लगता है और "मै", गौण। चैतन्य की यह स्थिति ईश्वर कहलाती है।

५—जब चेतन तत्व और जड तत्व (शक्ति) बराबर हो जाते हैं तो चेतना की इस स्थिति मे शुद्ध विद्या कहते हैं। इसके बाद अविद्या का विकास होता है। चैतन्य और जड तत्व दोनो के मिश्रित रूप, माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक शक्ति के रूपो में व्यक्त होते हैं। शुद्ध विद्या के पश्चात् जब जड तत्व का प्रभाव बढ जाता है तब शक्ति का यह रूप माया कहलाता है। माया के पाच भेद हैं जिनमें उपर्युक्त कला, विद्या, राग आदि कंचुको की गणना होती है। ये शिव की शक्तियाँ है जो चैतन्य को आवृत करती हैं।

माया
कला | विद्या | राग | काल | नियति
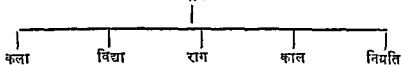
इनके पश्चात् स्थूल सृष्टि के रूप मे शक्ति परिणत हो जाती है। इसमे प्रकृति +मन+बुद्धि+अहंकार+दस इन्द्रियाँ+दस पंचतन्मात्राएँ+पंचमहाभूत= २४ तत्व हैं जो सांख्य द्वारा भी स्वीकृत है। इनमे जीव को मिला देने से ये २५ तत्व हो जाते हैं। इनमे शिव-शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्या, माया, अविद्या, कला, राग, काल, और नियति ये ग्यारह तत्व मिला देने पर कुल तत्वो की संख्या ३६ हो जाती है। परमशिव तत्वातीत सत्ता के रूप मे माना जाता है। इस प्रकार "स्वच्छन्द शक्ति" की कल्पना के द्वारा शंकर की माया का परिहार करते हुए जगत् को सत्य मानकर भी पूर्ण अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की गई है। स्वच्छन्द शक्ति की कल्पना द्वारा ही, जो पाचरात्र-आगमो मे भी मिलती है, रामानुज, रामानन्द, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य नन्ददास, सूरदास, हितहरिवंश, हरिदास आदि वैष्णव दार्शनिक और

कवि भी मायावाद का परिहार कर अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। शंकराचार्य ने इसीलिए पाञ्चरात्रमत का खंडन किया था और पाञ्चरात्रों की व्यूह कल्पना को, जो इसी शक्तिवाद पर आधारित है, अवैदिक घोषित कर दिया था। मध्यकाल में आगमों के इसी शक्तिवाद को लेकर शंकर के विरुद्ध वैष्णव सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे।

शक्ति की अभिव्यक्ति तथा नाद और विन्दु—प्रकाश तत्व जब अपने को संकुचित करके प्रकाश रूप में व्याप्त होता है, तब उसे विन्दु कहते हैं। जो विदि या वेदनक्रिया में स्वतन्त्र है उसका अविभक्त प्रकाश ही विन्दु है अतः इच्छा, ज्ञान, क्रिया के उदित होने पर सोम, सूर्य और अग्नि नामक प्रकाश प्रकट होते हैं, इनका मूल अविभक्त रूप ही विन्दु है। विन्दु को स्वच्छन्द तंत्र में 'ईश्वर' कहा गया है।[1] ईश्वर मूलसत्ता या परमशिव के बहिर्उन्मेष का नाम है। परमशिव स्वतः सर्व प्रथम प्रकाश के रूप में ही व्यक्त होता है, यह प्रथम विन्दु कहलाता है, शक्ति (विमर्श शक्ति) को द्वितीय विन्दु और दोनों की एकता को तृतीय विन्दु कहते हैं—

प्रकाश — प्रथम विन्दु—श्वेत विन्दु (वीर्य)
विमर्श —द्वितीय ,, —रक्त विन्दु (रज)
प्रकाश + विमर्श—तृतीय ,, —अमित विन्दु (ऐक्य)

प्रथम विन्दु, द्वितीय में प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् शिव शक्ति में प्रतिबिम्बित होकर स्वरूप को जानता है। सूक्ष्म (एब्स्ट्रैक्ट) विचार अपने स्वभाव को नहीं जान सकता अतः विचार की अभिव्यक्ति जैसे क्रिया द्वारा होती है, वैसे ही मूल सत्ता अपनी शक्ति में प्रतिबिम्बित होकर ही स्वभाव को जान पाती है तभी विन्दु को सृष्टि का कारण कहा गया है।[2]

नाद—विन्दु नादात्मक शब्द के रूप में व्यक्त होता है। शब्द का अर्थ है "स्व से अभेद पूर्वक विश्व का परामर्श।" सन्त कवि इसी को शब्द-साधना कहते हैं। यह शब्द नादात्मक है। सम्पूर्ण विश्व में नाद स्फुरित होकर ध्वनित हो रहा है। यही नाद वर्णों का रूप धारण कर लेता है। 'अ' से लेकर 'ह' तक आकर वर्ण स्थूलता को प्राप्त होते जाते हैं। उधर नाद आकाश का रूप धारण करने के पश्चात् क्रमशः अन्य चार भूतों के रूप में

---

१ स्वच्छन्दतंत्र अध्याय ४, पृ० २६४
२ फिलोसोफीकल एसेज् - पृ० १५८-५९

बदल जाता है, सागर जिस प्रकार उर्मियों को उत्पन्न करके भी शान्त रहता है और उर्मि व सागर भिन्न प्रतीत होने पर भी अभिन्न रहते हैं, उसी प्रकार सृष्टि व शिव एक और अभिन्न हैं।[1] नाद की इस महिमा के कारण ही योगी नादानुसंधान करके सूक्ष्मतम 'विन्दु' को प्राप्त करते है और शिव-शक्ति की ऐक्यरूपिणी 'वैन्दव' अवस्था को प्राप्त करने हैं।

शांकर वेदान्त मे जागृत स्वप्नादि चार अवस्थाओं का जो महत्व है, वही महत्व तन्त्रो मे नाद का है। नाद जिस प्रक्रिया से स्थूल पंचभूतो का रूप धारण करता है, उस प्रक्रिया को पिंड मे भी देखा जा सकता है। जब विन्दु विभक्त होता है तो 'अहम्' की अव्यक्त ध्वनि होती है, यही "शब्द ब्रह्म" है, इसके भीतर इच्छा, क्रिया व ज्ञान अवस्थित हैं। इच्छा-क्रिया, ज्ञानात्मक नाद, पिंड मे भी ध्वनित हो रहा है। पिंड मे यह नाद, परा, पश्यन्ती, मध्यमा व वैखरी-इन चार सोपानो मे विकसित होकर वैखरी-स्थिति मे शब्द रूप धारण करता है। इस सूक्ष्म नाद का ही कुंडलिनी योग द्वारा अनुसंधान किया जाता है।

कुंडलिनी शक्ति—कुडलिनी चित्‌शक्ति का ही दूसरा नाम है। यह सम्पूर्ण को गर्भीकृत करने के कारण ही कुडलिनी या जगत् की योनि कहलाती है।[2] चित्‌शक्ति ही नाद रूप मे वर्णमाला मे प्रकट होती है। इस चित्‌शक्ति के परामर्श के बिना मंत्र फल नही देते क्योकि मंत्र शक्ति के ही स्थूल रूप हैं। भैरवीचक्र या श्रीचक्र मे इसी चिद्रूपा शक्ति का ही ध्यान किया जाता है। वर्णमाला मे व्यक्त होने पर कुंडलिनी शक्ति को मालिनी कहा गया है। अत वर्णों मे ब्रह्माड की सारी शक्ति अवस्थित है, तन्त्रो का यह अखंड विश्वास है।

सहज—सृष्टि परमशिव के 'काम' का परिणाम है। पिंड में इसीलिए सम्पूर्ण क्रियाओं का कारण काम ही है। 'कामकला' अप्रतिहत रूप से संचरित होने से 'सहज' या 'स्वयंभू' कहलाती है, यही कामकला नाद और विन्दु का भी कारण है। बिना इच्छा के मूल सत्ता विन्दु का रूप धारण कर ही नही सकती। प्राकृत रति के समय इस 'काम' का स्थूल रूप अनुभव मे आता है।

---

१ तंत्रालोक-जिल्द २, आ०, पृ० १४७।

२ या सा कुंडलिनी सात्र, जगद्योनि : प्रकीर्तिता-तन्त्रा० जिल्द २, आ० ३ पृ० २०७

स्थूलता में यह उदित और अस्त होती हुई प्रतीत होती है, जिस प्रकार प्राकृत रति-क्रीड़ा के समय कामिनी के 'हा हा' आदि शब्दों द्वारा यह कामेच्छा प्रकट होती है, उसी प्रकार सृष्टि के मूल में व्याप्त नाद भगवान् की चित्शक्ति द्वारा ध्वनित होता है। प्रियाकंठ से सहज और सुस्वर रूप से प्रकट होने के कारण जैसे लोक में इसे 'सहज' ही कहा जाता है, वैसे ही मूलसत्ता की सृष्टि-इच्छा को सहज ही कहा जाता है। नाद को भी इसीलिए सहज कहा गया है।[1] क्योंकि वह काम का ही व्यक्तरूप मात्र है। साधक तभी शिव-शक्ति की दिव्य कामेच्छा या शृंगार लीला का ध्यान करते हैं और भावुक भक्त उसे विभोर होकर गाते हैं। योगी नादानुसंधान द्वारा उसे प्राप्त करते हैं। द्वन्द्वातीत होने पर ही 'सहजावस्था' प्राप्त होती है जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया स्वतः साधक के सम्मुख स्पष्ट हो जाती है।

पाश—शक्ति शिव को नाना पाशों से बाँधती है। कंचुक ही पाश हैं। शिव जीव रूप में स्थित होकर अल्पज्ञता के कारण दुःख उठाता है। ज्ञान होने पर इसी शक्ति की सहायता से वह अपने रूप को पहचान सकता है, यही 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है। यह वस्तु ऐसी है, इससे अन्यथा नहीं है; इस प्रकार का ज्ञापन कराने वाली शक्ति का नाम ज्ञान है।[2] जीव को अपने रूप का ज्ञान केवल इसी शक्ति द्वारा हो सकता है। ज्ञान के अतिरिक्त शक्ति के दो रूप और हैं-इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति। शिव का त्रिशूल इन्हीं तीन शक्तियों का प्रतीक है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया अलग अलग रहकर भेद उत्पन्न करते हैं और भेद ही 'पाश' है। शिव स्वरूप के गोपन होने से अज्ञान या पाश उत्पन्न होता है। इसी को आणवमल कहा गया है।

साधना के लिए शिव के ६ रूप स्वीकृत किये गए हैं—भुवन, विग्रह, ज्योति, खं, शब्द और मन्त्र। इनमें से किसी एक को साध्य बनाकर साधना की जाती है। भुवन शब्द का अर्थ है 'भोगाधार रूप', लोकादि। विग्रह= रुद्र, क्षेत्रज्ञ आदि शिव के अनेक रूप हैं। ख=शून्य। शब्द=नाद साधना। मंत्र=प्रकार, मकार आदि। ज्योति=प्रकाश।

शक्ति के भेद—पदार्थ अनेक हैं अतः उन्हें देखकर भिन्न-भिन्न शक्तियों

---

१ तंत्रा जिल्द २, आ० ३, पृ० १५१
२ " " १, आ० १, पृ० १८,१९

की कल्पना की जाती है। मूलतः शक्ति एक है।[1] जगत् शक्तिरूप है। यही शक्ति उपाय के रूप में स्वीकृत है। शक्ति के द्वारा ही शिव का ध्यान होता है। शक्ति उपाय है और मन उपायकर्ता है। जिस प्रकार मन से बाह्य-पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार शक्ति द्वारा शिव का मानस प्रत्यक्ष होता है। अतः शक्तिरूप जगत् के पदार्थ शिवामृत से परिप्लुत हैं। पदार्थों को इसीलिए अमृतमय कहा गया है।

वृत्ति—मन की वृत्तियाँ भी दो प्रकार की हैं। भाव, अभाव। ध्यान के समय इन दोनों के मध्य में शून्यावस्था की झलक मिलती है। मन की लहर या तो भावमय होती है, या अभावमय, इन दोनों के बीच में आत्मा की झलक मिल जाती है, अतः इसी मध्यम मार्ग को साधना के समय अपनाया जाता है। इसी को बौद्ध दार्शनिक "मध्यमा प्रतिपदा" कहते हैं। शून्यावस्था भी यही है। इस अवस्था के पश्चात् 'उन्मतावस्था' आती है और उसके पश्चात् साक्षात् ब्रह्म प्राप्त होता है।[2] इसीलिए कहा गया है कि ऊर्ध्व-पथ तथा अधो-गति को छोड़कर अथवा प्राण व अपान वायु को छोड़कर मध्यदेश गामी बनकर रामस्थ हो जाना चाहिए।[3] रामस्थ करने वाला मार्ग तभी सुषुम्ना मार्ग को ही ठहराया गया है।

राम—अभिनवगुप्त ने राम शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है कि जड़ व अजड विश्व-वैचित्र्य द्वारा क्रीड़ा करने वाला तत्व राम है।[4] राम या शिव एक ही तत्व है। आभासरूप विश्व में वह राम क्रीडासक्त रहता है। तन्त्रों का यह क्रीड़ासक्त या लीलासक्त रूप ही सूर, तुलसी आदि वैष्णवों में भी स्वीकृत है। विकल्प के नाश से ही यह 'राम' प्राप्त हो सकता है।

निरंजन—इसी प्रकार अभिनव ने 'निरंजन' की भी व्याख्या की है।

---

१ फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः
तंत्रा० जिल्द १, आ १, पृ० ११०

२. उन्मना तु ततोऽतीता, तदतीतं निरामयम् : तंत्रा० जिल्द १ आ० १, पृ० १२८

३ ऊर्ध्वं त्यक्त्वा विशेत्स रामस्थो मध्यदेशगः तंत्रा० जिल्द १, आ० १, पृ० १३०

४ तत्तज्जड़ाजड़ात्मना विश्व वैचित्र्यात्मना क्रीडति इति रामः आ० १, पृ० १३१

निरंजन का अर्थ है—जिसमें शक्तिमान पूर्णता के साथ प्रकट किया जाय, वही मन्त्र निरंजन है। शक्ति द्वारा ही मन्त्र पूर्णता के साथ व्यक्त होता है। अतः शक्ति को ही मन्त्र व निरंजन कहा गया है। शिव और शक्ति की एकता के कारण शिव की संज्ञा भी निरंजन ही है। इच्छा, ज्ञान व क्रिया द्वारा मन्त्र सक्रिय या प्रकट होता है। मन्त्र शक्ति के तीन रूपों में समारम्भ पाकर योगी निरंजन हो जाता है।[1] साधना को भी अभिनव निरंजन ही कहा है।[2]

साकार ब्रह्म—साकार-ब्रह्म, साधना की सुविधा के लिए है। निश्चला-बुद्धि की ओर यह एक सोपान मात्र है। निश्चला-बुद्धि में निराकार व निराश्रय राम या शिव ही साध्य बनता है, साकार नहीं किन्तु वैष्णवादि साधक साकार ब्रह्म का ध्यान करते हैं।

ज्ञान व क्रिया—क्रिया व ज्ञान में वस्तुतः कोई भेद नहीं है।[3] योग व क्रिया एक हैं। तत्त्व में समावेश मति ही क्रिया है। इससे वासना की शान्ति होती है।[4] तत्त्व में चित्त का लय हो जाना ही योग है। क्योंकि चेतना से भिन्न तत्त्व नहीं है अतः ज्ञान, योग व क्रिया एक तत्त्व हैं।[5] अतः साकार—निराकार उपासना में भेद व्यावहारिक है। जैसे घट का ध्वंस चाहे प्रस्तर से हो या दंड से, परन्तु ध्वंस तो होना ही है। अतः मोक्ष रूप कार्य (वासना का नाश) किसी भी उपाय से हो सकता है।

साधना के भेद—अधिकारी की मानसिक क्षमता या रुचि के अनुसार साधना के भेद करने पड़ते हैं इन्हें आगमों में 'उपाय' कहा गया है। शाम्भव, शाक्त और आणव ये तीन उपाय हैं।

---

१ लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्रिशूलकम्
यस्मिन्नाशु समावेशाद् भवेद्योगी निरंजनः तंत्रा० भा० ३ पृ० ११५

२ क्रियादेवी निरंजनाम्—वही पृ० ११४

३ यतो नान्या क्रिया नाम—ज्ञानमेव हि तत्तथा।
रूढेर्योगान्तता प्राप्तमिति—श्रीगमशासने - तंत्रा० जिल्द १, भा० १ पृ० १८८

४ योगो नान्यः क्रिया नान्या, तत्वारूढा हि या मतिः
स्वचित्त वासना शांतो - सा क्रिया इति अभिधीयते - वही पृ० १८६

५ वही पृ० वही

शाम्भव उपाय—विकल्परहित स्थिति शाम्भवावस्था है। जड या परिमित तत्व में निमज्जन से सहसा बोध प्राप्त हो जाने पर जो तादात्म्य प्राप्त हो जाता है वह शाम्भवप्रावेश कहा गया है।[१] यह एक प्रकार का आभ्यन्तर ध्यान है, जिसमें सहसा ही चैतन्य जाग्रत हो जाता है। इसे प्रातिभ या स्वयं प्रकाश्यज्ञान भी कहा जा सकता है। इस ज्ञान के जाग्रत हो जाने पर किसी प्रकार की बाह्य साधना की आवश्यकता नहीं रहती। हिन्दी के सन्तकवि बाह्य साधनाओं का खंडन करते समय इसी अवस्था की ओर संकेत करते हैं।

शाक्त उपाय—सभी साधकों में प्रातिभ ज्ञान सहसा नहीं जगता। चित्त, बुद्धि और अहंकार चेतना को क्षुभित करते रहते हैं, इसलिए शाक्त उपाय के द्वारा भेद से अभेद की ओर बढ़ा जाता है। इसमें अन्तःकरण का संस्कार गुरु की सहायता से किया जाता है। बारम्बार चैतन्य के विमर्श से आध्यात्मिक प्रकाश स्फुटित हो जाता है।[२] इसलिए माया के नाश के लिए तत्व का पुनः पुनः संपरामर्श आवश्यक है। यह स्मरणीय है कि इस साधना में सन्यास मार्ग की तरह अन्तःकरण का नाश नहीं किया जाता, संस्कार किया जाता है।

आणव उपाय—शाक्त उपाय मध्यम प्रकार के साधकों के लिए है और आणव उपाय प्रारम्भिक उपासकों के लिए। इसलिए पहले आणव उपाय का ही विवरण यहाँ दिया जाता है क्योंकि शाक्त उपाय में भी दीक्षादि अनिवार्य है। हम यहाँ केवल तन्त्रालोक में वर्णित साधना के उन्हीं पक्षों को प्रस्तुत करेंगे जिनका अध्ययन सन्त वैष्णव सम्प्रदायों को समझने के लिए आवश्यक है।

इस उपाय में प्रथम "स्थान-कल्पना" का वर्णन मिलता है। इसके तीन भेद हैं—प्राण, देह और जगत्। देह के दो भेद हैं—बाह्य और आन्तरिक। मंडल, पात्र, पुस्तक, प्रतिमा, मूर्ति आदि स्थूल देह के ११ भेद माने गए हैं।[३] सूक्ष्म देह प्राणों में प्रतिष्ठित मानी गई है।

इस प्रकार भक्तों की उपासना और अर्चा इस प्रारम्भिक सोपान में ही आती है। इसमें योग को भी स्वीकार किया गया है।

---

१ योगो नान्य: क्रिया नान्या तत्वारूढा हि या मति स्ववित्त वासना शातोसा क्रिया इति अभिधीयते आ० १ पृ० २०१, २१०

२ तन्त्रालोक, जिल्द ३, आ० ४ पृ० ७

३ ,, जिल्द ४, आ० ६, पृ० १ से ४ तक

शाम्भव उपाय—विकल्परहित स्थिति शाम्भवावस्था है। जड़ या परिमित तत्व के निमज्जन से सहसा बोध प्राप्त हो जाने पर जो तादात्म्य प्राप्त हो जाता है वह शाम्भवप्रावेश कहा गया है।[1] यह एक प्रकार का आभ्यन्तर ध्यान है, जिसमे सहसा ही चैतन्य जाग्रत हो जाता है। इसे प्रातिभ या स्वयं प्रकाश्यज्ञान भी कहा जा सकता है। इस ज्ञान के जाग्रत हो जाने पर किसी प्रकार की वाह्य साधना की आवश्यकता नही रहती। हिन्दी के सन्तकवि वाह्य साधनाओं का खंडन करते समय इसी अवस्था की ओर संकेत करते है।

शाक्त उपाय—सभी साधको मे प्रातिभ ज्ञान सहसा नही जगता। चित्त, बुद्धि और अहंकार चेतना को क्षुभित करते रहते हैं, इसलिए शाक्त उपाय के द्वारा भेद से अभेद की ओर बढा जाता है। इसमे अन्त.करण का संस्कार गुरु की सहायता से किया जाता है। वारम्बार चैतन्य के विमर्श से आध्यात्मिक प्रकाश स्फुटित हो जाता है।[2] इसलिए माया के नाश के लिए तत्व का पुन: पुन: संपरामर्श आवश्यक है। यह स्मरणीय है कि इस साधना मे संन्यास मार्ग की तरह अन्त:करण का नाश नही किया जाता, संस्कार किया जाता है।

आणव उपाय—शाक्त उपाय मध्यम प्रकार के साधको के लिए हैं और आणव उपाय प्रारम्भिक उपासको के लिए। इसलिए पहले आणव उपाय का ही विवरण यहाँ दिया जाता है क्योंकि शाक्त उपाय मे भी दीक्षादि अनिवार्य है। हम यहाँ केवल तंत्रालोक मे वर्णित साधना के उन्ही पक्षों को प्रस्तुत करेंगे जिनका अध्ययन सन्त वैष्णव सम्प्रदायो को समझने के लिए आवश्यक है।

इस उपाय मे प्रथम "स्थान-कल्पना" का वर्णन मिलता है। इसके तीन भेद हैं—प्राण, देह और जगत्। देह के दो भेद हैं—वाह्य और आन्तरिक। मंडल, पात्र, पुस्तक, प्रतिमा, मूर्ति आदि स्थूल देह के ११ भेद माने गए हैं।[3] सूक्ष्म देह प्राणो मे प्रतिष्ठित मानी गई है।

इस प्रकार भक्तो की उपासना और अर्चा इस प्रारम्भिक सोपान मे ही आती है। इसमे योग को भी स्वीकार किया गया है।

---

१ योगो नान्यः क्रिया नान्या. तत्वारूढा हि या गतिः स्वचित्त कथाशांतो-
ता क्रिया इति अभिधीयते भा० १ पृ० २०९, २१०

२ तंत्रालोक, जिल्द ३, भा० ४ पृ० ७

३ वही जिल्द ४, भा० ६, पृ० १ से ४ तक

साधना के लिए ६ मार्गों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

प्राणाध्वा या प्राणमार्ग—प्राण कालात्मक है अतः काल का भी 'कालाध्वा' कहलाता है। क्रम-क्रम से काल का ज्ञान हो तो उसे क्रम कालाध्वा अथवा अकस्मात् ज्ञान हो तो उसे अक्रमकालाध्वा कहते हैं। परमतत्त्व का काल से योग ही शक्ति है। अर्थात् ब्रह्म जब अपने को सीमित करता है तब उसकी संज्ञा शक्ति होती है, इसी को काली कहा गया है। यही काली काल के साथ संयुक्त होकर प्राण के रूप में स्फुरित होती है। परमात्मा का स्वेच्छा से बहिर्मुख होकर स्पन्दित होना ही प्राण है। प्राण काल से सीमित चैतन्य का नाम है अतः काल का सूक्ष्म वर्णन शैव साधकों ने किया है। दिन-रात में कुल २१६०० श्वास चलते हैं। प्राणशक्ति का अवधारण कर पुन पुनः तत्त्व का परामर्श ही ध्यान है। यही प्राण का शिखा-बन्धन कहलाता है। प्रत्येक श्वास के साथ सहजगति से सोऽहं, सोऽहं अप्रतिहत रूप से चलना चाहिए। यही 'सहज जप' है। इसी को कालध्वा या प्राणध्वा कहा गया है। जब प्राण को मध्यमार्ग में प्रविष्ट किया जाता है, तब देवता जाग्रत हो जाते हैं और शक्तियाँ अपना फल दिखाने लगती हैं।

देशाध्वा या मूर्तिअध्वा—मूर्ति के रूप में तत्त्व का आभास देशाध्वा है। यह तीन प्रकार का है—कला, तत्त्व और पुर। इस प्रकार मूर्ति व क्रिया के रूप में देश व काल, ये दो प्रकार के अध्वा होते हैं और प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—

उक्त कला, तत्त्व, पुर, वर्ण, मन्त्र तथा पद के स्थूल और सूक्ष्म ये दो दो भेद और होते हैं।
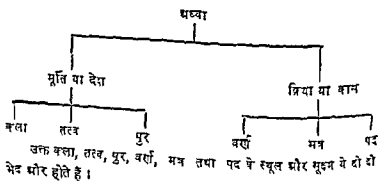
कालविजय—यद्यपि प्राण सर्व व्यापी है, तथापि प्राण की अस्फुट रूप में अवस्थिति मानी गयी है। हृदय देश में वह स्फुट होता है। कन्द (लिंग व गुदा के मध्य) में स्थित प्राण को 'संवेद' कहा गया है। यह प्राण हृदय

नाद स्फुट रहता है। हृदय से प्राण स्फुट होने लगता है। तन्त्रालोक में सम्पूर्ण विश्व को प्राणों में अवस्थित माना गया है।[1] 'त्रुटि' को काल का सबसे सूक्ष्म अंश माना गया है। त्रुटि से लेकर कल्पादि तक का ज्ञान प्राणानुशासन द्वारा होता है। योगी सहज ही त्रुटि से लेकर १२ वर्ष तक की तिथि, मास, वर्षादि को ध्यान में ला सकता है परन्तु सहसा दीर्घकाल का ध्यान फल नहीं देता। जो योगी दीर्घकाल का भी ध्यान कर सकता है, वह महाकाल कहलाता है। महाकालावस्था में नियति, काल, राग आदि कंचुकों का लय हो जाता है। प्राण को सुषुम्णा में स्थिर करने पर जब अन्य तत्व लय हो जाते हैं तब संवित् शेष रहती है, परन्तु आगे वह भी चैतन्य में लीन हो जाती है। शिव, शक्ति एक हो जाते हैं। इसी को 'सामरस्य पद' या महाप्रलय कहते हैं।

वर्णोदय तथा अजपा जाप—वर्णों के पीछे एक अनाहत वर्ण है जो अनवरत रूप से नादात्मक है। मंत्र पर, स्थूल व सूक्ष्म तीन प्रकार के होते हैं। वर्णात्मक मन्त्रों में सर्वदा अनाहत नाद संचरित होता रहता है। जैसे अर्घट्ट के चक्र में यदि एक बाल्टी को ठीक कर दिया जाय तो सब ठीक काम करने लगती हैं, उसी तरह अनुसंधान बल से यत्नपूर्वक देवता रूप होने से मंत्र द्वारा तादात्म्य प्राप्त होता है। मंत्र जप के समय उपर्युक्त प्राण-साम्य आवश्यक है। चूंकि भेद स्पन्द के अधीन है और प्राण स्पन्द के, अतः प्राणानुशासन मन्त्र के लिए आवश्यक है क्योंकि मन्त्र में भी स्पन्द ही स्फुरित होता है। प्राण-साम्य से मन्त्र सिद्ध हो जाता है अर्थात् भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे उच्च स्थान से देखने पर नीचे के प्रदेश एकाकार दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही संवित् या चैतन्य की प्राप्ति होने पर भेद समाप्त हो जाते हैं। मानस जप ही अद्वैत स्थिति का साधन है। इसमें मौन जप चलता रहता है। सन्त कवियों का अजपा जप यही है।

सुषुम्णा में प्राण के संचार व निर्गमन के साथ मानस जप ही सृष्टि के लय व प्रलय का कारण है, सारे व्यवहारों का कारण यही लिया है। मानस जप में प्राण-वायु के उदय, संयम और शांति में जप किया जाता है अर्थात् प्राणवायु के उदय स्थान कुंडलिनी स्थान में, संयमस्थल हृदयदेश में तथा प्राण शांत जहाँ शान्त होती है, उस ऊर्ध्वप्रदेश में जप होता है। जप में

[1] तन्त्रालोक-आ० ६, पृ० ७०

प्राण दो चार चक्कर काटता है। प्राण का विकास व आकुंचन दोनों होते हैं। प्राणों की साम्यावस्था सुषुम्णा में ही सम्भव है।

देशाध्वा—शैव-आगम में सारा ध्यान चेतना पर केन्द्रित किया गया है। सारी साधनाएँ चैतन्य से रहित होकर निष्फल मानी गई हैं। अत: शैवों का यह दृढ़ मत है कि भुवनों का वर्णन कल्पित है। शिष्यों को समझाने के लिए ही केवल लोकादि की कल्पना है। भुवन, स्वर्ग आदि के वर्णन का विस्तार करके शिष्य को वस्तुत: चैतन्य का ज्ञान ही कराया जाता है अत: 'ध्यान' के लिए ही लोकादि की कल्पना को उपयोगी माना गया है।[1] यह भी कहा गया है कि आचार्यों को शिष्यों को आश्वस्त करने के लिए विभिन्न लोकों की कल्पनाएँ कर लेनी चाहिए।[2] इससे 'सालोक्य' मुक्ति प्राप्त होती है। और अन्त में निराकार ब्रह्म की ओर शिष्य की गति हो जाती है। परवर्ती सन्त मत में जो विभिन्न लोकों की और पुरुषों की कल्पनाएँ हुई हैं उन सब का मनोवैज्ञानिक कारण ऊपर बतलाया गया है। शिवदयाल के राधास्वामी सम्प्रदाय में जिन नये लोकों की कल्पनाएं मिलती हैं वे सब वस्तुत: केवल साधना के लिए ही उपयोगी हैं।

तत्व विजय—स्थान तथा पुर (देश) के वर्णन के पश्चात् प्रारम्भिक साधकों के लिए तत्वों का ज्ञान भी आवश्यक बताया गया है। हम ३६ तत्वों की चर्चा कर चुके हैं। यह सब तत्व ज्ञान केवल अभेद-बुद्धि जाग्रत करने के लिए ही है। यह स्पष्ट कहा गया है कि चित्त का अनुसंधान ही फल देता है।[3] प्रतिमा, तत्व, लोक आदि फल नहीं देते। पंचभूतों के साथ तादात्म्य भावना द्वारा तत्वों पर विजय प्राप्त की जाती है। तत्व गुण का नाम है अत: पृथ्वी, जल और अग्नि आदि के गुण का ही ध्यान किया जाता है। इनके ध्यान से समाधि भी प्राप्त होती है। ऐसे योगी को पिंडस्थ योगी कहते हैं।

कलाध्वा—भुवनों में व्याप्त होकर भी जो तत्व भिन्न रहे वह कलातत्व कहलाता है। जैसे गोत्व गायों में व्याप्त है। उसी तरह कला सब भुवनों में

---

१ यद्यप्यमुष्य नायस्य, सवित्पनतिरेकिए
धूर्णंश्योर्ध्वादिमध्यन्ता-व्यवस्था नास्ति वास्तवी-तन्त्रा० जि० ५, आ० ८, पृ० १३

२ अन्येऽपि बहु विकल्पा: स्वधियाचार्यं: समम्यूह्याः " " पृ० २७६

३ तन्त्रा० जिल्द ७ आ० १० पृ० ८८

व्याप्त है। कुछ साधक तत्वों में व्याप्त सूक्ष्म शक्ति को कला मानते हैं जैसे धरणी में धारिका शक्ति। कहा गया है कि शक्ति का भेदन करके देवी आती है और स्पर्श नष्ट हो जाने के बाद व्याप्त हो जाती है। इस समय 'पिपीलिका—दंशन' जैसा अनुभव होता है। इस साधना में प्रकृति के गुणों के साथ तादात्म्य किया जाता है परन्तु योगी स्पर्श को विशेष महत्व देते हैं क्योंकि स्पर्श क्षोभक कम होता है। स्पर्श का अनुभव शान्त हो जाने के बाद योगी का चित्त आकाशवत् शान्त हो जाता है। इसी को 'गगनोपम' अवस्था कहा गया है जो क्रमशः तत्वों पर विजय पाने से भी प्राप्त होती है।[१]

पद और मंत्र—जिससे ज्ञान होता है, उसे 'पद' कहते हैं। ज्ञान पाकर साधक प्रबुद्ध होता है, यही मंत्रमय स्थिति है। मंत्रमय का अर्थ 'गुप्तभाषी' होना है। पद व मंत्र के अभिन्न होने से मंत्रत्व और भी सूक्ष्म हो जाता है, इसे 'पद-मंत्र' कहते हैं।

शक्तिपात का सिद्धांत—शैव-शासन में शक्तिपात की बड़ी महिमा है। मन के नाश के लिए शक्तिपात ही समर्थ है। भगवान स्वयं लीलार्थ अपना गोपन करता है और स्वतः जब जिसे चाहता है, अपनी ओर उन्मुख करने के लिए अनुग्रह करता है, यही अनुग्रह शक्तिपात कहलाता है। शक्तिपात नियत व अनियत दो प्रकार का होता है। क्रम से भी शक्तिपात होता है और अकस्मात भी। सब हरि इच्छा है। इस शक्तिपात की प्राप्ति में आत्म-परामर्श के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कारण नहीं है। कुल, जाति, धर्म आदि किसी से भी भगवान का अनुग्रह प्राप्त नहीं हो सकता।[२] शक्तिपात का प्रथम चिह्न है शिव में भक्ति।[३] भक्ति दो प्रकार की है—सकाम और निष्काम। प्रथम भक्ति में धर्म की अपेक्षा है, दूसरी में नहीं।[४] शैवों ने शक्तिपात के अनेक रूपों का वर्णन किया है।

---

१ तत्स्पर्शान्ते तु संवित्तिः, शुद्ध चिद्व्योमरूपिणी।
परस्यां रूढः समभ्येति, स्वप्रकाशात्मिका पराम्।—अभ्रा० भा० ११ पृ० २३

२ कुलजाति वपुष्कर्म वयोनुष्ठानसंपदः
अनपेक्ष्य शिवेभक्तिं, शक्तिपातो फलार्थिनाम्। तंत्रा० जिल्द ८, भा० १३, पृष्ठ संख्या ७९

३ भक्तिर्हि नाम अस्य प्राथमिकं चिह्नं—वही पृ० ७९, ८०

४ " पृ० ८०

वैष्णवों व शैवों का शक्तिपात—वैष्णवों के यहाँ शक्तिपात में वैष्णवत्व मात्र प्राप्त होता है। शिवत्व या मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ब्रह्मा, विष्णु आदि शिव की माया से ग्रस्त है। शिव सम्राट है। अतः वैष्णव पूर्ण अभेद को प्राप्त नहीं कर सकता, अतः वैष्णव शक्तिपात मोक्ष नहीं दे सकता।

पुराण और शक्तिपात—शैवों ने पुराणों से भी शक्तिपात की पुष्टि किया है।[1] क्योंकि उनमें भगवान् के 'प्रसाद' का वर्णन है। ईश्वर स्वातंत्र्य से संकोच के अवभास से स्वयं अणुता को धारण करता है।[2] और पुनः जब वह निर्मल रूप दिखाता है तो उसे 'प्रसाद' कहते हैं। ईश्वर की प्रसन्नता ही मल का नाश करती है।

इस प्रसाद की प्राप्ति के लिए शैवागमों में भी वैष्णवों की तरह प्रार्थनाएँ और स्तोत्र हैं। यह प्रसाद सर्वाधिक रूप में शैवों को मिलता है क्योंकि वे सबसे अधिक प्रतिभाशाली हैं। वेदों से अधिक यह शक्तिपात वाममार्गियों को, उनसे अधिक दक्षिणपंथियों को, पुनः कौलों को और सबसे अधिक त्रिक शासन के विश्वासियों को मिलता है।

हरि-प्रसाद से ३ प्रकार का ज्ञान मिलता है—१ वैदिक ज्ञान, २ चिन्तामय ज्ञान और ३ भावनामय ज्ञान। विधि-निषेधमय ज्ञान वैदिक ज्ञान है। शास्त्रालोचन चिन्तामयज्ञान है। इसके पश्चात् भावमय ज्ञान उत्पन्न होता है। शैव मत में ज्ञान व भाव दोनों की सत्ता मानी गई है। जो यह समझते हैं कि तंत्रों में भक्ति नहीं है उन्हें उक्त व्याख्या ध्यान से पढनी चाहिए। अभिनव के अनुसार स्वपरामर्शरूप विवेक के जाग्रत होने के पूर्व इन्द्रियाँ व मन की वासना से 'जडता' रहती है जो मनुष्य को अध पतन की ओर ले जाती है। किन्तु विवेक के जाग्रत हो जाने पर वही मन और इन्द्रियाँ स्व, स्व के तिरस्कार से ज्ञान को जन्म देती हैं। अतः मन व बुद्धि व इन्द्रियों के बिना ज्ञान का अधिगम नहीं हो सकता। इसीलिए शैवों में ज्ञान के बाद भी भक्ति रहती है।

दीक्षा—तान्त्रिक मतों में दीक्षा का विशेष महत्व है। क्योंकि मायामल का नाश दीक्षा से ही होता है। तंत्रालोक में मंत्रवेध, नादवेध, बिन्दुवेध, भुजंगवेध, शक्ति वेध, परवेध आदि अनेक प्रकार की दीक्षा-प्रक्रियाओं का

---

१ तंत्रालोक आ० १३ पृ० १७४
२ वही

मे खेचरी मुद्रा का निष्कला मुद्रा कहा गया है। अन्य मुद्रायें इसी की भेद-मात्र हैं। प्रारम्भिक साधकों को इन मुद्राओं का अभ्यास कराया जाता है किन्तु द्वन्द्वातीत हो जाने पर ये मुद्रायें स्वतः प्रकट होती हैं।

पूजा—इन्द्रिय विशेष मे स्थित मन की जो आह्लाद वृत्ति है उसे ब्रह्म से जोड़देनी ही पूजा है।[1] स्वतन्त्र संवित्ति ही बाह्य विषयों से स्फुरित हो रही है। यह अनुभव ही सर्वस्व है। अन्य साधनाएँ कृत्रिम हैं। पूजा की इस व्याख्या से वैष्णव भाव साधना का रूप स्पष्ट हो जाता है।

मन्त्र—मन्त्र या चैतन्य में अन्तर नहीं है। चैतन्य परामर्श से जो स्वतः ध्वनि स्फुरित होती है, यही जप है। इसी अनवरत ध्वनि को सन्त कवि अजपा जाप कहते हैं और शैव स्पन्द। आत्मा का उच्छलन ही स्पन्द है। यही परावाक् है। इस अनुभव के अभाव में कर में माला लेकर मन का कोलाहल करना व्यर्थ है। इस ज्ञान से योगी जो कुछ कहता है वह जप हो जाता है। इसे सहज जप भी कहा जा सकता है।

ध्यान—फल की आकांक्षा करने वाले साकार का ध्यान करते हैं। धन के लिए लक्ष्मी और रक्षा के लिए दशभुज देवी का ध्यान किया जाता है। साधक की इच्छा के अनुरूप देवताओं का रूप कल्पित किया जाता है।

होम—तत्त्वबोध की अग्नि से ही सप्त इन्द्रियों की लपटें निकलती हैं। इसमें भाव वर्ग की हवि देने को ही शैवों ने वास्तविक होम माना है।[2]

प्रारम्भिक और मध्यम दोनों प्रकार के उपासकों के लिए शैव तन्त्र में वामाचार को स्वीकार किया गया है। दोनों में क्रम-साधना स्वीकृत है। तान्त्रिक योग में वामाचार और कुण्डलिनी योग साथ साथ ही वर्णित मिलता है। क्योंकि तान्त्रिक राग क्रीडा द्वारा भी शक्ति जागरण में विश्वास करते हैं। मध्यम प्रकार के साधकों के लिए इस प्रकार के शक्ति जागरण का अनिवार्य माना गया है।

तान्त्रिक योग—साधना का उद्देश्य शैवों के अनुसार अमृत-तत्त्व की प्राप्ति

---

१ यत्किञ्चन्मानसाह्लादि, यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ।
योज्यते ब्रह्म सद्धाम्नि, पूजोपकरणं हि तत्। तन्त्रा० जि० ३, आ० ४, पृ० १२२

२ महाशून्यालये वह्नौ, भूताक्षविषयादिकम्, हूयते मनसा सार्धं, स होमः स्रुक् चेतना, स्वच्छन्द तन्त्र, जि० १ पृ० ८७

उसे मूर्ति कहते हैं। अतः मूर्ति चेतना का प्रथम स्फुरण है।[1] क्योंकि संवित् का कार्य सृष्टि करना है अतः चैतन्य अपने एक अंश से जिस रूप की सृष्टि करता है वही वास्तविक मूर्ति है। बाह्यमूर्तियाँ केवल तादात्म्य प्राप्ति के लिए हैं। वैष्णव साधकों की मूर्तिउपासना का मनोवैज्ञानिक रूप इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है। शैव साधक प्रणव, बिन्दु और नाद को भी मूर्ति ही कहते हैं।

मुद्रा—शिव की स्फूर्ति शरीर में जो एक विशेष तनाव उत्पन्न कर देती है वही मुद्रा है। पराशक्ति की मदिरा से मत्त शरीर में जो उत्थान आदि चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, वे ही मुद्राएँ हैं।[2] शाम्भवी, मनोजा, मन्त्रजा, खेचरी, आदि इसके अनेक भेद हैं। देवाध्य-यामल में मुद्रा को बिम्ब या चैतन्य का प्रतिबिम्ब माना गया है।[3] एक अन्य अर्थ मुद्रा का यह है—जिससे देवता द्रवित हो, वह मुद्रा है। देवता मुद्राओं से प्रसन्न होता है।[4] अथवा अशेष पाशजालों से जो मोचन कराती है, वह मुद्रा है।[5]

मुद्रा में मानसिक स्थिति—मूलाधार से शक्ति को उठाकर योगी नाभि-देश में मन का निवेश करते हैं और वहीं मन को बार बार रोक कर, इडा, पिंगला की वायु या मध्यम मार्ग में समाधान करते हैं। बिन्दु, नाद और ब्रह्मरन्ध्र नामक तीनों आकाशों तक प्राण को ले जाते हैं और वहीं कुम्भक द्वारा प्राण को रोकते हैं। पुनः व्यापिनी व समना तथा शक्ति नामक तीन आकाशों को पार करते हैं और फिर 'उन्मनावस्था' की ओर बढ़कर परमशिव में लीन हो जाते हैं। यही गगन-चारित्व है। परमव्योम और खेचरी मुद्रा भी यही है। कबीर बार बार इसी स्थिति की ओर संकेत करते हैं। तन्त्रालोक

१ तस्मिन् ध्रुवे निस्तरंगे, समापत्तिमुपागतः संविद् सृष्टिधर्मित्वादाद्या भेति तरंगिताम्। सैव मूर्तिरिति ख्याता——तन्त्रा० आ० १५, पृ० ११८, ११९

२ कुले योगिनि उद्रिक्त : भैरवीयपरासवात्
घूर्णितस्य स्थितिर्देहे मुद्रा या काचिदेव सा। तन्त्रा० जि० ३, आ० ४, पृ० २१०

३ तन्त्रा० जिल्द १२, आ० ३२, पृ० ३०४

४ " " पृ० ३०५

५ वही

से खेचरी मुद्रा को निष्कला मुद्रा कहा गया है। अन्य मुद्रायें इसी की भेद-मात्र हैं। प्रारम्भिक साधकों को इन मुद्राओं का अभ्यास कराया जाता है किन्तु द्वन्द्वातीत हो जाने पर ये मुद्रायें स्वतः प्रकट होती हैं।

पूजा—इन्द्रिय विशेष में स्थित मन की जो आह्लाद वृत्ति है उसे ब्रह्म से जोड़देनी ही पूजा है।[1] स्वतन्त्र संविति ही बाह्य विषयों से स्फुरित हो रही है। यह अनुभव ही सर्वस्व है। अन्य साधनाएँ कृत्रिम हैं। पूजा की इस व्याख्या से वैष्णव भाव साधना का रूप स्पष्ट हो जाता है।

मंत्र—मंत्र या चैतन्य में अन्तर नहीं है। चैतन्य परामर्श से जो स्वतः ध्वनि स्फुरित होती है, यही जप है। इसी अनवरत ध्वनि को सन्त कवि अजपा जाप कहते हैं और शैव स्पन्द। आत्मा का उच्छ्वसन ही स्पन्द है। यही परावाक् है। इस अनुभव के अभाव में कर में माला लेकर मंत्र का कोलाहल करना व्यर्थ है। इस ज्ञान से योगी जो कुछ कहता है वह जप हो जाता है। इसे सहज जप भी कहा जा सकता है।

ध्यान—फल की आकांक्षा करने वाले साकार का ध्यान करते हैं। धन के लिए लक्ष्मी और रक्षा के लिए दशभुज देवी का ध्यान किया जाता है। साधक की इच्छा के अनुरूप देवताओं का रूप कल्पित किया जाता है।

होम—तत्वबोध की अग्नि से ही सम्पन्न इन्द्रियों की लपटें निकलती हैं। इसमें भाव वर्ग की हवि देने को ही शैवों ने वास्तविक होम माना है।[2]

प्रारम्भिक और मध्यम दोनों प्रकार के उपासकों के लिए शैव तन्त्र में वामाचार को स्वीकार किया गया है। दोनों में अंग-भावना स्वीकृत है। तान्त्रिक योग में वामाचार और कुण्डलिनी योग साथ साथ ही वर्णित मिलता है। क्योंकि तान्त्रिक काम-क्रीड़ा द्वारा भी शक्ति जागरण में विश्वास करते हैं। मध्यम प्रकार के साधकों के लिए इस प्रकार के शक्ति जागरण को अनिवार्य माना गया है।

तांत्रिक योग—साधना का उद्देश्य शैवों के अनुसार अमृत-तत्व की प्राप्ति

---

१ परिश्चन्मनसाल्हादि, यत्र यत्रापीन्द्रियस्थितौ।
योज्यते ब्रह्म सद्धाम्नि, पूजोपकरणं हि तत्। तंत्रा० जि० ३, आ० ८, पृ० १२२

२ महाशून्यालये वह्नौ, भूताक्षविषयादिकम्, हूयते मनसा सार्धं, स होमः स्रुक् चेतना, स्वच्छन्द तंत्र, जि० १ पृ० ८७

है। पिंड में यह अमृत सूर्य नाडी व चन्द्र नाडी के संयोग से उत्पन्न होता है। सूर्याग्नि को पुरुष और चन्द्र नाडी को स्त्री माना गया है। अत: जैसे पुरुष-स्त्री के समागम से अमृत उत्पन्न होता है, वैसे ही सूर्य व चन्द्र की एकता से अमृत प्राप्त करना ही साधना है।[1] शैवों के अनुसार प्राकृति रति को समझ लेने पर सारी सृष्टि का रहस्य समझ में आ जाता है। इसीलिए चक्रपूजा में सम्भोग को इतना अधिक महत्व दिया गया है। परन्तु साथ ही यह समागम तत्त्व ज्ञान के रहस्य को समझने के लिये ही विधेय ठहराया गया है। केवल इन्द्रियों को तृप्त करना इसका उद्देश्य नहीं है।

अमृत का अर्थ है ब्रह्मानन्द, जिसके आभास की एक झलक विषयानन्द द्वारा ही मिल सकती है। विषयानन्दरत साधक जब 'मैं वह हूँ', 'वह मैं हूँ', यह सब मेरा ही विस्तार है—इस प्रकार पुन: पुनः परामर्श करते हुए स्वरूप-स्थित हो जाता है। साधक की यह स्थिति परमहंस स्थिति कहलाती है। क्योंकि वह 'सोऽहं' 'हंस' की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। साधक परमहंस होकर पुन. पुण्य और पाप से लिप्त नहीं होता।[2] वह निर्गत होकर विचरण करता है। बाह्य-साधनायें केवल द्वैतवाद के लिए हैं। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब देखकर एकात्म्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार विकल्प रूपी मुकुर में अर्थात ध्यान, पूजा अर्चना आदि में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर भैरव (साधक) तन्मय हो जाता है। इस स्थिति में शुद्धि, अशुद्धि, भक्ष, अभक्ष, द्वैत, अद्वैत, आदि द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। यही कौलावस्था है। लोक व्यवहार की रक्षा के लिए आचार-विचार का पालन आवश्यक बताया गया है किन्तु मन से कौल निर्द्वन्द रहता है। वह आन्तरिक रूप से कौलमार्ग, बाह्य रूप से शैव मार्ग तथा लोकाचार के लिए वैदिक आचार को मानता है—

अन्त: कौलो बहि: शैवो, लोकाचारे तु वैदिक:
सारमादाय तिष्ठेत, नारिकेलफल यथा।[3]

पचमकार साधना तथा उसका वास्तविक तात्पर्य—शैव शासन में विषय

---

१ यथायोनिश्चलिगम च, सयोगात्स्रवतो अमृतम्
तथामृताग्निसयोगाद्, द्रवतस्ते न सशय। तन्त्रा० चतुर्थ भा० पृ० १४०

२ तत्पुन पिबति प्रोत्या, हसो हस इति स्फुरन्।
सञ्चरस्य तु सञ्चरया, पुण्यपापैर्न लिप्यते। वही पृ० १४६

३ तन्त्रा० भा० ४, पृ० २७८

रस का त्याग नही है क्योकि जहाँ जहाँ इन्द्रियाँ आसक्त होती है, उन सब वस्तुओ मे शिव का प्रकाश है।[1] शिव का ज्ञान हो जाने पर विषय-वासना की पूर्ति करते हुए भी अयत्न से (सहज) सुख पूर्वक परमपद प्राप्त हो जाता है। क्योकि तादात्म्य ज्ञान ही सारे कष्ट-प्रद साधनो का उद्देश्य है।[2] इस सहज, यत्नरहित, अभेद प्रधान साधना का आनन्द सभी नही ले सकते। शिव के तीव्र शक्तिपात के बिना साधक इसका अधिकारी नही बनता है। इस मार्ग मे आडम्बर नही है। ग्रीष्म मे हिम के समान दम्भ स्वय नष्ट हो जाता है।[3] यहाँ पूर्ण साम्य की स्थिति मानी गई है--

समता सर्वभावानां, वृत्तीनां चैव सर्वशः।
समता सर्वदृष्टीनां, द्रव्याणां चैव सर्वशः।[4]

इस कौल-मार्ग के अनुसार शब्दादि विषयो मे पतित होकर स्व स्व विषय का भोग करके इन्द्रियो को चैतन्य म लय कर दिया जाता है। सार्वभौम सम्राट जैसे अन्य राष्ट्रो का भी शासक होना है तथैव अन्य सहायक राजाओ की भाँति अनेक वृत्तियो का विलय एक ही चैतन्य मे होता है, अतः इन्द्रियों की तृप्ति आवश्यक है क्योकि वे चैतन्य मे बाधक नही है। वे अज्ञान के कारण ही बन्धन बनती हैं। ज्ञान होने पर इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का भोग करती हुई चेतना को सन्तुष्ट करती हैं। अतः स्वरूपस्थिति और भोग दोनो एक ही समय मे सम्भव हैं। दोनो मे विरोध नही है जैसा कि सन्यास-प्रधान मार्ग समझते हैं। अतः इन्द्रियाँ जहाँ-जहाँ ले जाँय, वहीं-वही मन को स्थिर करना चाहिए क्योकि इन्द्रियाँ चैतन्य के बाहर जा ही नही सकती। स्थिरता बढने पर मन वश मे होता जाता है और क्रमशः चेतना का संस्कार होता चलता है। अन्त मे वह कौल-स्थिति आ जाती है जब भोग व योग दोनो साथ-साथ चलते हैं। जिस भोग मे बन्धन होता है, उसी को मोक्ष का

---

१ यत्र-यत्र मिलिता मरीचयस्तत्रतत्रविभुरेव जृम्भते। वही पृ० २८८

२ वही पृ० २८९

३ वही पृ० ३०५

४ वही पृ० ३०५

इन्द्रिय आनन्द को परमानन्द का साधन मान कर उसे अत्यधिक प्रशंसा का पात्र माना है। कहा गया है कि जब सारी नदियों में मदिरा प्रवाहित नहीं होती, न सभी पर्वत मांस खंड के रूप में प्राप्त होते हैं और जब सारा संसार स्त्रीमय नहीं है, तो कुल-साधना कैसे सम्भव हो सकती है।[1] चक्र साधना द्वारा इन्द्रियगण अपनी-अपनी रश्मियां या रस वीर्य-विसर्ग के समय मुख्य आनन्द में समर्पित कर देते हैं।[2] इसलिए चक्रपूजा से सभी देवता (इन्द्रियां) सन्तुष्ट होते हैं और सिद्धि देते हैं। जिस प्रकार नदियों के जल से समुद्र प्रसन्न होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा प्राप्त आनन्द जब चेतना में गिरता है तब वह सन्तुष्ट होती है।

उपर्युक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि भ्रष्टाचार को ही यहां दार्शनिक आवरण पहनाया गया है और यह भी सही है कि अनधिकारियों द्वारा इस साधना का दुरुपयोग भी बहुत हुआ है किन्तु शैवों ने इसको एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में ही स्वीकार किया है जिससे अन्तःकरण का (मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार) नाश किये बिना ही द्वन्द्वातीत अवस्था-प्राप्ति हो सके। चूंकि शिव का कार्य सृष्टि और संहार करना है, इसलिए उपर्युक्त प्रक्रिया द्वारा भाव और अभाव नामक वृत्तियों के मध्य शून्य अवस्था को प्राप्त करना ही इसका उद्देश्य बताया गया है। भाव, सृष्टि की अवस्था है और अभाव, संहार की। वीर्य-विसर्ग के समय ही दो वृत्तियों के मध्य जो चैतन्य-प्रकाश का अनुभव होता है, उसी को प्राप्त करना उद्देश्य माना गया है।[3]

चक्र साधना और हठयोग—उपर्युक्त चक्र साधना और हठयोग में लक्ष्य की दृष्टि से कोई अन्तर दिखाई नहीं देता केवल प्रक्रिया की दृष्टि से अन्तर दिखाई पडता है। हठयोग में इन्द्रियों द्वारा और चक्रसाधना में इन्द्रियों के माध्यम द्वारा एक ही लक्ष्य की प्राप्ति की जाती है। दोनों में कुण्डलिनी

---

१ न नद्यो मधु वाहिन्यो, न पलं पर्वतोपम्
स्त्रीमयं न जगत्सर्वं, कुत सिद्धि कुलागमे।
तन्त्रा० आ० १५, पृ० ८६

२ तन्त्रालोक आ० २९, पृ० ६७ स्तारएकरसानिनिजरसभरित, वहिर्भाव-
३ वही पृ० १०३ पर्वणावदेव विश्रान्तिधाम किंचित्,,
लब्ध्वा, स्वात्मन्ययार्पयते।

शक्ति अर्थात चित्त-शक्ति के जागरण को आवश्यक माना जाता है। हठयोगी चक्रसाधना के निन्दक हैं जबकि चक्रसाधक हठयोग को सोपान के रूप मे स्वीकार करते है।

कहा गया है कि पिंड मे प्राण का तिर्यक प्रवाह चल रहा है। नाडियाँ तो अनेक है परन्तु उनमे इडा, पिंगला और सुषुम्णा मुख्य हैं। सामान्यतः इडा, पिंगलादि नाडियो मे प्राण-प्रवाह चलता है। परन्तु सुषुम्णा के नीचे के भाग को कुंडलिनी शक्ति साढे तीन वलयो मे लपेट कर पड़ी हुई है। जैसे दंड-प्रहार से सर्प सीधा हो जाता है उसी प्रकार गुरु द्वारा ज्ञान-शक्ति का उदय होता है[1]।

ब्रह्मरन्ध्र के नीचे एक चौराहा है, इसे शैव "चिन्तामणि" कहते हैं। उसके ऊपर "सुधाधार" नामक स्थान है इसे 'सौध' कहते हैं। प्राणवायु को मध्यम मार्ग मे प्रविष्ट कर इस स्थान तक पहुँचना होता है। सौध स्थान का भी इच्छा, ज्ञान, क्रिया के संघट्ट द्वारा अतिक्रमण कर 'समना' नामक स्थान तक योगी पहुँचते है। इस स्थान को 'सुन्दर' कहा गया है। शिर का बहिर्उल्लास ही 'क्षेप' है, जिसमे उद्बोध होता है उसे 'दीपन' कहा गया है। बहिर्उल्लास-मय विश्व का क्रोडीकरण या अन्तराक्रमण ही 'आक्रान्ति' है। इस अवस्था मे 'यह है' इस प्रकार का भाव अहं मे निमज्जित हो जाता है और शुद्ध बोध हो जाता है। चैतन्य की यह उद्रेकावस्था "व्यापिनी" कहलाती है। यह अवस्था 'समना' व 'उन्मनावस्था' मे परिणत हो जाती है। चैतन्य उद्रिक्त हो कर इदन्ता के निमज्जन के बाद जब स्थिर हो जाता है। तब वह स्थिर अवस्था ही 'व्यापिनी' कहलाती है। किन्तु इसमे चैतन्य का कुछ अंश ही उद्रेक पाता है। समनापद मे तत्व का साक्षात्कार होता है परन्तु तादात्म्य तो केवल उन्मनावस्था में ही होता है। क्षेप को बिन्दु तथा आक्रान्ति को नाद भी कहा गया है। चित्-बोध को परावस्था व दीपन को शक्ति भी कहा गया है। इस प्रकार क्षेप, आक्रमण, चित्बोध, दीपन, स्थापन, सम्वित् और तदापत्ति—इन सात भूमिकाओ के द्वारा योग सिद्ध होता है। इन्हें शिव की सात मूर्तियाँ कहा गया है। प्राणवायु को वश मे करके ६ भूमियो का अतिक्रमण करने के बाद सप्तम उन्मनावस्था प्राप्त होती है। यहाँ आत्मा का सहज उच्छलन होने लगता है। यही उच्छलन स्पन्द है। योगी यहाँ पहुँचकर

---

१ तन्त्रालोक भा० ५, पृ० ३६०

'[illegible]' कहलाता है।[1] जिस प्रकार कामभी मूत्रविसर्जनान्त में योनि का संयोग—वियोग करके तृप्त होती है, उसी प्रकार इस दशा में वृत्तियों की सृष्टि व संहार करता है और योगी स्वस्थ्य रहता है। जैसे समुद्र में लहरें उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं और समुद्र अपने में मग्न रहता है, वैसी ही दशा योगी की चेतना की होती है। इस अवस्था को साधारण मनुष्य केवल शृंगारिक भाषा में ही समझ सकता है। नाड़ी युगल (इड़ा, पिंगला) ही योनि है, रमण की इच्छा से उन्मुखता ही स्पन्दन है। विसर्ग की इच्छा या वीर्य को ही परम धातु कहा गया है। 'क्षोभ' वह स्थान है जहाँ रति होती है और तृप्ति ही सम्भोग-समय का सुख है।[2]

यदि वामाचार को छोड़कर उपर्युक्त योग की व्याख्या पर ही ध्यान दिया जाय तो नाथ सिद्ध और सन्त कवियों के योग का वास्तविक रूप यहाँ स्पष्ट हो जाता है। सन्त कवि बार-बार उन्मनावस्था की चर्चा करते हैं जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है।

उन्मनावस्था के पश्चात्—उन्मनावस्था के परे भी उच्चतर अवस्था मानी गई है। यहाँ चेतना का संकोच-विकास नहीं होता, तथापि योगी को सृष्टि का आभास होता है।[3] क्योंकि योगी की दृष्टि तत्व के साथ एकाकार होकर अन्तर्मुखी रहता है, और सांसारिक कार्य उसकी बाह्य इन्द्रिया करती रहती है।[4] अतः घट, पटादि के ज्ञान के समय दृष्टि अन्तरस्थ भी रहती है और बाह्य पदार्थों का ज्ञान भी होता रहता है। इसे 'भैरव-मुद्रा' कहा जाता है। गोपनीय होने से इसे 'खस्थं या गगनोपम' अवस्था भी कहते हैं।

कथन-पद्धति—शैव, शाक्त तन्त्रों में प्रत्येक तथ्य को प्रतीकात्मक शैली में ही कहा गया है। सम्पूर्ण सम्भोगपरक शब्दावली योगपरक अर्थ भी देती है। इसीलिए तन्त्रों की कथन-पद्धति गुह्य कहलाती है। गगनोपम अवस्था को एक स्थान पर इस प्रकार कहा गया है।

---

१ तन्त्रा० आ० ५, पृ०३६१ तथा उक्त सप्त भूमियों के लिए द्रष्टव्य तन्त्रा० वि० १२, आ० ३, पृ० १८०

२ तन्त्रा० आ० ५, पृ० ३७७, ३७८

३ असंकोच विकासोऽपि, तदाभासनस्तथा-आ० ५, पृ० ३८६

४ अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टि परमंपदमश्नुते-वही पृ० ३८६

खं खं त्यक्त्वा समारुह्य खस्थं खं चोच्चरेदिति।
समध्यास्याधिकारेण, पदस्याश्छिन्नमरीचयः ।[1]

अर्थात् मध्य नाडी में स्थित होकर ख ख—प्रमाण, प्रमेय को छोड़कर खं अर्थात् तुरीयातीत अवस्था को प्राप्त करना ही योगी का लक्ष्य है। इस अवस्था की प्राप्ति इन्द्रिय-वृत्तियों (मरीचयः) की बाह्य उन्मुखता के अभाव द्वारा होती है।

इस प्रकार कश्मीरी शैव मत द्वारा सन्त वैष्णव काव्य में व्यक्त साधना के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है और साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि शैव परम्पराओं ने सन्तों और वैष्णवों को प्रभावित किया है।

---

१ तन्त्रा०-आ० ५, पृ० ३६८

५

तांत्रिक शाक्त मत

फर्कुंहर ने ५०० ई० से ६०० ई० तक के युग को शाक्त-युग कहा है।[1] और यह नामकरण प्रमाणों से पुष्ट भी होता है। इसी युग में शाक्त दर्शन व साधना का रूप निश्चित होता है और उसका अन्य साधनाओं पर व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी युग में 'चंडीमहात्म्य' लिखा गया,[2] आगे बाणभट्ट ने चंडीशतक इसी युग में लिखा। इसी युग में तान्त्रिक बौद्धमत शैवागमों और पुराणों पर शाक्तों का विपुल प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतः उपर्युक्त युग को हम शाक्त युग कह सकते हैं।

फर्कुंहर ने इस युग की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं—

१ देवी या शक्ति की महत्व वृद्धि
२ मंत्र-प्रयोग-वृद्धि
३ कुंडलिनी योग में विश्वास वृद्धि
४ पंचमकारोपासना की प्रभाव वृद्धि

यहाँ यह लक्ष्य करने योग्य बात है कि इन तीन विशेषताओं में प्रथम तीन

---

१ द रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया: पृ० १६७
२ वही पृ० १५०

सन्त वैष्णव काव्य मे भी मिलती हैं। सन्तो में मंत्र और कुंडलिनी योग तथा वैष्णवों मे शक्ति और मन्त्र-प्रयोग मे विश्वास प्रकट किया गया है।

शाक्तो मे अनेक सम्प्रदाय हैं। प्रत्येक एक एक उपनिषद्, एक एक क्रिया-शिक्षा की पुस्तक (मैनुअल) को लेकर प्रचार करता है, प्रत्येक मे गुरु तथा दीक्षा का अमित महात्म्य माना जाता है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना अलग मन्त्र है।

शाक्तो के धर्मग्रन्थ हैं—तंत्र। इन तंत्रो का निर्माण शाक्तयुग मे ही अधिक हुआ है, यद्यपि 'गुह्यसम्प्रदाय' के रूप मे ये शाक्तसम्प्रदायो के विभिन्न रूप प्राचीनतम सम्प्रदायो मे से हैं। तंत्रो की बहुत सी सामग्री पुराणो मे भी पाई जाती है।

शाक्त तंत्रो के विषय में सब कुछ अनिश्चित है। फर्कुअर के अनुसार कुब्जिकातंत्र (७ वी शताब्दी) परमेश्वरमततंत्र तथा महाकौल ज्ञानविनिर्णय तंत्र प्राचीन तंत्र माने जाते हैं।[1] कश्मीरी शैवदर्शन मे शाक्तमत भी स्वीकृत है, अर्थात् कश्मीरी शैव शाक्त भी हैं और शैव भी। शाक्त दर्शन के विकास मे कश्मीरी शैवों का ही मुख्य योग्यदान रहा है।

अभिनवगुप्त ने जिन देवीयामल, मालिनी विजय आदि तंत्रो का उल्लेख किया है, वे उनसे पूर्ववर्ती हैं, यह हम कह चुके हैं।

फर्कुअर के अनुसार ९०० से १३५० ई० के बीच 'यामल' साहित्य बहुत लिखा गया। ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, लक्ष्मीयालय, उमायामल, स्कन्दयामल, गणेशयामल आदि आदि। इनमे देवता शक्तियों के साथ 'रतिनिमग्न' दिखाए गए हैं—बौद्धतंत्रो व शैवतंत्रो मे भी—इस युग मे यही विशेषता दिखाई पड़ती है। इसी युग मे 'कौलउपनिषद्' व 'परशुरामकल्पसूत्र' की रचना हुई है। परशुरामकल्पतंत्र कौलमार्ग का श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है।

त्रिपुरतापिनीय, त्रिपुरपद्चक्र, भावना तथा देवी उपनिषद् भी इसी युग की हैं। शारदातिलक मंत्रशास्त्र की दृष्टि मे श्रेष्ठ तंत्र है, यह भी इसी युग का है।

इसी युग मे दक्षिणपंथी शाक्त धर्म की ओर (पंचमकार का प्रयोग न करने वाले) प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। आज अधिक मंदिरो मे दक्षिण पंथी

---

१ द रिलीज्स क्विस्ट आफ इण्डिया : पृ० २०० से २०१

मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ, अगस्त, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव तथा दुर्वासा सम्प्रदाय। शाक्तमत के उद्भव के विषय मे कहा गया है कि सती के मृतक शरीर को लेकर शिव विश्व मे जब भ्रमण करने लगे तो विष्णु ने सती के शरीर को काट डाला। जहाँ जो अंग गिरा वही उसकी पूजा होने लगी। कामाख्या मे योनि तथा ज्वालामुखी (पंजाब) मे जीभ गिरी अतः वहाँ इन्ही अंगो को पूजा होती है।

दर्शन—शाक्त-दर्शन का विकास सर्वाधिक रूप मे कश्मीरी शैवो द्वारा हुआ। हम 'काश्मीरी-शैवमत' का विवेचन करते समय त्रिपुरारहस्य के आधार पर शाक्तमत पर कुछ प्रकाश डाल चुके है। शैव परमशिव को अधिक महत्व देते है और शाक्त पराशक्ति को। इसके अतिरिक्त शैव और शाक्त-दर्शन मे विशेष अन्तर नही है। पराशक्ति को शैवो की ही तरह शिव की स्वतन्त्र शक्ति कहा गया है। गोपीनाथ कविराज ने शाक्त-दर्शन पर विशेष प्रकाश डाला है।[1] तथा शक्ति अंक (कल्याण) मे भी शाक्त-दर्शन पर बहुत कुछ लिखा गया है।

पराशक्ति ब्रह्म की स्वतः स्फूर्ति का नाम है। यह दो रूपो मे प्रगट होती है—अहम् और इदम्। शाक्त दार्शनिक चेतना के समष्टि रूप को पूर्णाहन्ता कहते है। आवरणो से परे चैतन्य को अनुभूति मे जब व्यक्तिगत अहंकार लीन हो जाता है तब इस पूर्णाहन्ता की अनुभूति होती है। यही पूर्णाहन्ता सृष्टि के आदि मे सृष्टि की इच्छा करती है। क्योकि वह सृष्टि करने मे स्वतन्त्र है अतः उसे मायाशक्ति भी कहते हैं। यह पूर्णाहन्ता चेतना का ही एक रूप है, इसलिए 'शुद्धचिति' कहलाती है। जगत के रूप मे यही परिवर्तित हो जाती है। अतः जगत सत्य है, विवर्त नही। यह शक्ति ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीन रूप धारण करती है और आगे स्थूल सृष्टि का विकास होता है। जब शक्ति जगत के रूप मे परिवर्तित हो जाती है तब भी ब्रह्म स्थिर और तटस्थ रहता है। वह जगत् रूपी लीला का साक्षी बनता है। इस प्रकार ब्रह्म द्रष्टा है और शक्ति दृश्य। तंत्रो मे शक्ति को इसीलिए

---

१. त्रिपुरा रहस्य-जिल्द ४, भूमिकाभाग, गोपीनाथ कविराज तथा सम अस्पेक्ट्स आफ द फिलोसफी आफ शाक्त तन्त्र-जिल्द २, प्रिंसेस आफ वेल्स सीरीज

भी शाक्तदर्शन का भी प्रतिपादन किया है। कामकलाविलास, मालिनीविजय, तंत्रालोक आदि भी शाक्तदर्शन का भी ग्रन्थ माना जाता है। इसे त्रिपुरसुन्दरी व श्रीविद्या सम्प्रदाय कहा गया है। पूर्णानन्द (१४४८ ई० से १५२६ तक) का 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि, प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसका षष्ठ प्रकरण 'षट्चक्रनिरूपण' के नाम से प्रसिद्ध है। कुंडलिनी योग के लिए यह ग्रन्थ प्रामाणिक माना जाता है।

१९१३ ई० के बाद योरोप में सर जान वुडरफ के शाक्त तंत्रों पर अंग्रेजी में विविध ग्रन्थों का प्रचार हुआ। पाइने के अनुसार आर्थर एवेलोन तथा सर जान वुडरफ दो भिन्न व्यक्ति हैं, अतः उनके अनुसार इन दोनों को अलग अलग मानकर इनकी रचनाओं को पढ़ना चाहिए। इनकी रचनाएँ परम्परावादी दृष्टिकोण से लिखी गई हैं।[1] कुछ जर्मन लेखकों ने भी शाक्तमत पर लिखा है। पाश्चात्य लेखकों ने हापकिन्स, विलियम वार्ड, विलसन, मोनियर विलियम्स, बार्थ, विलियम क्रुक आदि ने जो शाक्तमत की निन्दा की है, उसका कारण यह है कि इन्होंने प्रचलित (पाप्यूलर) रूप का ही अध्ययन किया था। शाक्तमत का सैद्धान्तिक पक्ष अत्यधिक उच्चकोटि का है और उससे सभी सम्प्रदाय विशेष रूप से दसवीं शताब्दी के बाद, बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं।

शाक्तों ने भारतवर्ष तथा आस-पास के प्रदेशों को तीन भागों में बाँटा है— इन्हें क्रान्ता कहते हैं। इनमें प्रत्येक क्रान्ता के अलग अलग ६४ तंत्र हैं। कामाख्या, कश्मीर व काशी शक्तिपूजा के गढ़ माने जाते हैं। इनमें कामाख्या कौलमत का तथा कश्मीर व काशी श्रीविद्या के उपासक माने जाते हैं। इनमें भयंकर साधनाओं का प्रयोग कम मिलता है। काशी को इन तीनों पीठों का मध्य बिन्दु माना जाता है।[2] कश्मीर में त्रिपुरा, केरल में तारा तथा बंगाल में काली का विशेष महत्व दिखाई पड़ता है।

शैव मत की तरह ही शाक्त मत का प्रकाशन भी शिव के मुख से माना जाता है। परशुराम कल्पसूत्र में कहा गया है कि वेद न जानने वालों के लिए तंत्र प्रकट किया गया है।[3] परम्परा के अनुसार शाक्त सम्प्रदाय निम्न-लिखित हैं—

---

१ द शाक्ताज् - अरनेस्ट ए० पाइने, कलकत्ता, १९३३ पृ० २, ३
२ भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, शाक्ततंत्र, १९४८ ई० काशी
३ परशुराम कल्पसूत्र : गायकवाड़ ओरि० सीरीज, १९२३ पृ० २०

मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ, अगस्त, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव तथा दुर्वासा सम्प्रदाय। शाक्तमत के उद्‌भव के विषय मे कहा गया है कि सती के मृतक शरीर को लेकर शिव विश्व मे जब भ्रमण करने लगे तो विष्णु ने सती के शरीर को काट डाला। जहाँ जो अंग गिरा वही उसकी पूजा होने लगी। कामाख्या मे योनि तथा ज्वालामुखी (पंजाब) मे जीभ गिरी अत: वहाँ इन्ही अंगो की पूजा होती है।

दर्शन—शाक्त-दर्शन का विकास सर्वाधिक रूप मे कश्मीरी शैवो द्वारा हुआ। हम 'काश्मीरी-शैवमत' का विवेचन करते समय त्रिपुरारहस्य के आधार पर शाक्तमत पर कुछ प्रकाश डाल चुके है। शैव परमशिव को अधिक महत्व देते हैं और शाक्त पराशक्ति को। इसके अतिरिक्त शैव और शाक्त-दर्शन मे विशेष अन्तर नही है। पराशक्ति को शैवो की ही तरह शिव की स्वतन्त्र शक्ति कहा गया है। गोपीनाथ कविराज ने शाक्त-दर्शन पर विशेष प्रकाश डाला है।[1] तथा शक्ति अंक (कल्याण) मे भी शाक्त-दर्शन पर बहुत कुछ लिखा गया है।

पराशक्ति ब्रह्म की स्वत: स्फूर्ति का नाम है। यह दो रूपो मे प्रगट होती है—अहम् और इदम्। शाक्त दार्शनिक चेतना के समष्टि रूप को पूर्णाहन्ता कहते हैं। आवरणो से परे चैतन्य का अनुभूति मे जब व्यक्तिगत अहंकार लीन हो जाता है तब इस पूर्णाहन्ता की अनुभूति होती है। यही पूर्णाहन्ता सृष्टि के आदि मे सृष्टि की इच्छा करती है। क्योकि वह सृष्टि करने मे स्वतन्त्र है अत: उसे मायाशक्ति भी कहते हैं। यह पूर्णाहन्ता चेतना का ही एक रूप है, इसलिए 'शुद्धचिति' कहलाती है। जगत के रूप मे यही परिवर्तित हो जाती है। अत: जगत सत्य है, विवर्त नही। यह शक्ति ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीन रूप धारण करती है और आगे स्थूल सृष्टि का विकास होता है। जब शक्ति जगत के रूप मे परिवर्तित हो जाती है तब भी ब्रह्म स्थिर और तटस्थ रहता है। वह जगत् रूपी लीला का साक्षी बनता है। इस प्रकार ब्रह्म द्रष्टा है और शक्ति दृश्य। तंत्रो मे शक्ति को इसीलिए

---

१ त्रिपुरा रहस्य-जिल्द ४, भूमिकाभाग, गोपीनाथ कविराज तथा सम अस्पेक्ट्स आफ द फिलोसफी आफ शाक्त तन्त्र-जिल्द २, प्रिंसेस आफ वेल्स सीरीज

शाक्तधर्म का ही प्रभाव अधिक है। वैदिक आचारों की ओर उन्मुखता १३ वीं शताब्दी के बाद बढ़ती जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि १३ वीं शताब्दी के बाद शाक्तधर्म में सुधार होता जाता है। परम्परा यही है कि शंकराचार्य ने वाममार्ग की जगह दक्षिणवर्ती साधना प्रचलित की, इससे भी उक्त सुधारवाद पुष्ट ही होता है। इस सुधारवाद के प्रवर्तक उसी युग में (१२६८ ई० से १३७९ ई०) सम्भवतः लक्ष्मीधर या विद्यानाथ थे। लक्ष्मीधर ने सौन्दर्यलहरी की टीका में ६४ तन्त्रों के नाम दिए हैं।[1] लक्ष्मीधर में कौल, मिश्र, समयन्दन तीन मार्गों का उल्लेख है।

समयमत के तंत्र 'शुद्धतंत्र' कहलाते हैं, इनमें केवल मुक्ति प्राप्ति का उपाय वर्णन ही प्रमुख है। इस मत के आचार्यों में वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन तथा सनत्कुमार की गणना की जाती है।

---

१ रामदास गौड़ ने आगम-तत्व-विलास में ६४ तन्त्रों के नाम दिए हैं—हिन्दुत्व-रामदास गौड़-पृ० ४८५। गौड़ महाशय ने 'कुछ और तन्त्र' शीर्षक से ८३ अन्य तन्त्रों (६४ तन्त्रों के अतिरिक्त) के नाम दिए हैं (पृ० ४८५ से ४८६) 'महा-सिद्धिसारस्वत' के आधार पर गौड़जी ने सिद्धीश्वर-नित्यतंत्र, राधातंत्र, कामाख्यातंत्र आदि का उल्लेख किया है (पृ० ४८६) कुछ अन्य 'प्रचलिततंत्र' शीर्षक से गौड़जी ने अनेक तन्त्रों का उल्लेख किया है (पृ० ४८६) तथा वाराहीतंत्र से भी एक सूची दी है जिसमें श्लोक सख्या भी दी गई है। वाराहीतंत्र के मत से अन्य लोकों के तंत्रों के श्लोकों की सख्या ९ लाख है। (पृ० ४८४) भारतवर्ष में तंत्रों की श्लोक सख्या १ लाख है। पृ० ४८४।

इस प्रकार तंत्रसाहित्य एक विराट साहित्य है, इनमें अभी बहुत कम तंत्र प्रकाशित हुए हैं। 'तान्त्रिकटैक्स्ट सीरीज' कलकत्ता, तथा गायकवाड़ ओरि० सीरीज व आड्यार (मद्रास), तथा श्रीनगर से कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। तांत्रिक आर्डर न्यूयार्क में 'तांत्रिकटैक्स्ट बुलेटिन' में प्रायः सभी तंत्रों के अंग्रेजी अनुवाद प्राप्त हैं परन्तु मुझे पत्र व्यवहार द्वारा यह पता चला है कि न्यूयार्क या अन्यत्र 'तांत्रिक आर्डर' जैसी सस्था का अब अस्तित्व ही शेष नहीं रह गया है। पाठकों को "एक्सटरनल इण्टरनेशनल जर्नल आफ तांत्रिक आर्डर" वोल्यूम ५ सख्या १ कलकत्ता की नेशनल लाइब्रेरी में प्राप्त हो सकता है।

कौलमार्गी वामाचारी तांत्रिक है, भोग के द्वारा मुक्ति प्राप्ति ही इनमें वर्णित है। मिश्रमार्ग में भोग व मुक्ति दोनों का विधान है अर्थात् लौकिक सिद्धि व मुक्ति दोनों पर बल देने वाले तंत्र मिश्रमार्गी है—इनमे चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधि, कुलार्णव आदि प्रसिद्ध आठ मार्ग है।

भिन्न-भिन्न आचार्यों के नाम से भी अनेक तन्त्र मिलते है। उदाहरण के लिए परशुरामकल्पसूत्र आचार्य दत्तात्रेय का तंत्र माना जाता है। अगस्त्य के "शक्तिसूत्र" कविराज गोपीनाथ ने प्रकाशित कराए है। गौडपाद के सुभगोदय तंत्र तथा विद्यारत्नसूत्रतंत्र प्रसिद्ध तंत्र है, शंकराचार्य की "सौन्दर्यलहरी" का उल्लेख ऊपर हो चुका है। फर्कुअर इसे शंकर कृत नही मानते। सौंदर्य लहरी की टीका मे भावनात्मक भक्ति का लक्ष्मीधर (१३ वी शताब्दी) द्वारा सुन्दर विवेचन हुआ है। फर्कुअर का अनुमान है कि श्रीमद्भागवत पुराण के प्रभाव से शाक्तो मे भक्ति का प्रचार बढा है। उनके अनुसार देवी भागवत एक उपपुराण है जो श्रीमद्भागवत के पश्चात् तथा भागवत के टीकाकार श्रीधर (१४ वी शताब्दी) के बीच कभी लिखा गया है, इस पुराण मे नारद व शांडिल्य सूत्रों की तरह भक्ति का प्रभाव दिखाई पडता है जबकि वास्तविकता इसके विपरीत है, स्वयं श्रीमद्भागवत शाक्त प्रभाव से ओतप्रोत है।

श्रौत, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-साहित्य के अंतर्गत शक्तिवाद पर सायणाचार्य (१३०० ई०) उपनिषद् ब्रह्म (१७५०ई०) भास्करराय (१७२४ ई०) तथा कौलाचार्य सदानन्द के भाष्य है। इनमें केवल भास्करराय के भाष्य शाक्त-मत के अनुकूल लिखे गए हैं। अप्पयदीक्षित (शिवाद्वैत मतावलम्बी) द्वारा 'आनन्दलहरी' की व्याख्या मार्मिक है। भास्करराय ने बहुत से तंत्रो पर टीकाएँ लिखी हैं उनका वरिवस्यारहस्य ग्रन्थ मन्त्रो के महत्व को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। भास्कर के शिष्यो मे "नित्योत्सव" तथा परशुराम कल्पसूत्र पर टीकाकारो के नाम प्रसिद्ध हैं। इनके नाम है—उमानन्द नाथ व रामेश्वर।

वैष्णवो की भक्ति सम्बन्धी प्रार्थनाओ के समान शाक्तो ने भी स्तोत्र लिखे। गौडपादाचार्य का 'सुभगोदय', शंकर की सौन्दर्य लहरी, आनन्द लहरी, अप्पयदीक्षित की आनन्दलहरी, दुर्वासा का "त्रिपुरमहिम्न" तथा आर्यपंचाशत् आदि प्रसिद्ध स्तोत्र हैं। विनयपत्रिका मे तुलसीदास ने भी स्तोत्र परम्परा को स्वीकार किया है।

शाक्तदर्शन, कश्मीरी शैवो के आगमों मे मिलता है। कश्मीरी शैवो ने

विमर्शशक्ति अर्थात् क्रिया शक्ति तथा शिव को प्रकाश कहा गया है। प्रकाश और विमर्श के संयोग से ही जगत की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार स्त्री-पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है, उसी प्रकार प्रकाश व विमर्श की संयोगावस्था से बिन्दु का जन्म होता है। यह दोनों की एकता का द्योतक है। बिन्दु की अवस्था में शक्ति व शिव दोनों का सामरस्य रहता है, इसे 'स्वयंभूलिंग' भी कहा गया है। इसी को कामरूप-पीठ भी कहा जाता है। प्रकाश व विमर्श सर्वातीत सत्ता के ही दो रूप हैं। जिस प्रकार शैव सर्वातीत सत्ता को परब्रह्म या परमशिव कहते हैं उसी तरह शाक्त सर्वातीत सत्ता को भी शक्ति ही कहते हैं। अतः प्रकाश और विमर्श को भी शक्ति ही कहा गया है। ऐसा समझना गलत है कि ब्रह्म में लिंगभेद हो सकता है। शाक्त केवल उस सर्वातीत सत्ता को शक्ति ही कहना चाहते हैं, बस यही स्मरणीय है। इसीलिए शाक्त प्रकाश को अम्बिका शक्ति और विमर्श को शान्ता शक्ति कहते हैं। इनके सामरस्य के बाद वामा (इच्छा) ज्येष्ठा (ज्ञान) तथा रौद्री (क्रिया) नामक शक्तियों का विकास होता है। पूर्णगिरि-पीठ, जालन्धरपीठ तथा उड्डियानपीठ इन्हीं तीन शक्तियों के प्रतीक माने जाते हैं। इन्हें पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी भी माना गया है और इन तीनों के परे परावाक् या सर्वातीत शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। इच्छा-शक्ति उत्पन्न होते ही चैतन्य में स्थित सूक्ष्म ब्रह्माड के एक अंश को शक्ति उदभासित करने लगती है। इस आभास को ही सृष्टि कहा गया है। यह आभास देश व काल में होता है। प्रलयकाल में यह आभास रूप सृष्टि चैतन्य में उसी प्रकार समा जाती है, जैसे दर्पण में आभास उत्पन्न होता है और फिर उसी दर्पण में समा जाता है। जिस प्रकार दर्पण व आभास भिन्न भिन्न प्रतीत होने पर भी एक हैं उसी प्रकार सृष्टि शक्तिरूप ही है और शक्ति व शक्तिमान एक और अभिन्न हैं।

परा-शक्ति की उक्त तीन अवस्थाओं को एक त्रिकोण द्वारा समझाया जाता है।[1]

१ इच्छा — परवाक् — ज्ञान २

क्रिया ३

---

१ सम अस्पेक्टस आफ द फिलौसफी आफ शाक्त तन्त्र से उद्ध.

शिव अपने ही अंश द्वारा अपने को आवरण में बाँध कर (जीव रूप धारण कर) सृष्टि का खेल रचता है और क्योंकि यह सृष्टि रूपी क्रीड़ा शिव या परावाक् के भीतर ही होती है अतः इसे आत्मानुभूति कहा गया है। जैसे दर्पण में हम अपना ही रूप देखकर आनन्दित होते हैं उसी प्रकार शक्ति जगत् के रूप में शिव को अवभासित कर देती है (रिफ्लैक्टिड) और जगत्रूपी अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर शिव आनन्दित होता है। इसलिए सृष्टि शिव की आनन्दमय लीला है। जब शिव के साथ तादात्म्य स्थापित कर हम भी अपने को शिव समझते हैं तब सारा जगत् हमारे लिए भी आनन्दमय लीला बन जाता है और हम मुक्त हो जाते हैं, कंचुक कट जाते हैं, "यह सब मैं ही हूँ," यह अनुभव होने लगता है।

शक्ति द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार सम्भव होने के कारण शक्ति के बिना शिव को "शव" कहा गया है। अपनी शक्ति का दर्शन ही आत्म-साक्षात्कार है, अपने को जानना है। यही "पूर्णाहन्ताचमत्कार" कहलाता है।[1] इस तथ्य को वर्णमाला द्वारा भी समझाया है। तत्वातीत पदार्थ के लिए 'अकार' का प्रयोग होता है। यह प्रथम अवस्था है। द्वितीय अवस्था में शिव व शक्ति का सामरस्य होता है। इसमें शिव को अकार या प्रकाश तथा शक्ति को हकार या विमर्श कहते हैं। शिव अग्नि रूप है और शक्ति सोमरूपा है, इन दोनों की बिन्दु रूप में परिणति (रज+वीर्य) ही "अहम्" है। साम्य भंग होने पर यह बिन्दु शुक्ल व रक्त बिन्दु रूप में व्यक्त होता है। जैसे अग्नि के स्पर्श से घृत द्रवित होता है वैसे ही प्रकाशात्मक शिव के सम्पर्क से विमर्शरूपा शक्ति द्रवित होती है और उससे परमानन्द अमृतधारा का स्रव होता है, यही धारा चित्कला या ब्रह्मानन्द का स्वरूप है।[2]

नाद—जब प्रकाश बिन्दु विमर्श बिन्दु में प्रविष्ट होता है तब बिन्दु में उच्छूनता (स्वेलिंग) उत्पन्न होती है, तब इस बिन्दु से नाद उत्पन्न होता है। इस नाद में समस्त तत्व रहते हैं। यही नाद व्यक्त होकर त्रिकोण का रूप धारण करता है जैसा कि ऊपर हम अंकित कर चुके हैं।

कामकला—शाक्त विचारक सृष्टि के विकास को समझाने के लिए अनेक

---

१ सम आस्पैक्ट्स आफ द फिलोसफी ऑफ शाक्त तंत्र

२ शक्ति अंक—गोपीनाथ कविराज के लेख पर आधारित (कल्याण गोरखपुर)

त्रिकोणों से श्रीचक्र बनाते हैं। उदाहरण के लिए उपर्युक्त त्रिकोण में एक बिन्दु प्रकाश है और एक विमर्श है। इन दोनों के संयोग से काम या रवि नामक मिश्रबिन्दु व्यक्त होता है। अग्नि व सोम इसी काम के कला रूप में माने जाते हैं अतः कामकला कहने से—प्रकाश, विमर्श तथा काम या रवि इन तीनों का बोध होता है। पिंड में भी रज, वीर्य के संयोग से ही सृष्टि होती है।

उन्मनावस्था—प्रपंच के लय हो जाने के बाद अर्थात् वृत्तिनाश हो जाने के बाद एक कला जाग्रत रहती है। निर्वाण के बाद यही कला जीव की उन्मनी अवस्था में रहती है। इसकी भी निवृत्ति के बाद जिस निष्काम अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे "महाबिन्दवावस्था" कहा गया है। साधक इन्द्रियों के प्रत्याहार द्वारा दीपकलिका के समान विकसित होने वाले स्थूल अनुभवों को समेट कर इस अवस्था को प्राप्त करते हैं।

दिव्य शृंगार—उपर्युक्त कामकला की व्याख्या में यह स्पष्ट है कि त्रिकोणात्मक अभिव्यक्ति के बीच मध्य-बिन्दु में दिव्य मिथुन अर्थात् शिव-शक्ति का शृंगारादि विलास चलता रहता है। श्री कविराज जी के अनुसार राधाकृष्ण का युगलमिलन तथा आदि बुद्ध व प्रज्ञापारमिता का युगनद्धरूप यही है। यही त्रिकोण ही प्रणव है। सुषुप्त कुंडलिनी शक्ति भी यही है। कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होने पर शिव शक्ति का भेद विगलित हो जाता है और जीवशक्ति व शिवशक्ति एकाकार हो जाते हैं। बिन्दु व त्रिकोणत्व का भेद दूर हो जाने के कारण बिन्दु का बिन्दुत्व तथा त्रिकोण का त्रिकोणत्व भी नष्ट हो जाता है, केवल आदि सत्ता ही शेष रह जाती है, जो शुद्ध चैतन्य का ही दूसरा नाम है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त दार्शनिक दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव शक्ति की एकता ही शाक्त-साधना का विषय है।[2] इस दर्शन को कौल-दर्शन कहा गया है क्योंकि शिव को अकुल और शक्ति को कुल माना जाता है। दोनों की एकता ही कौल-साधना में अभिप्रेत है।

शाक्त कौल-दर्शन में कश्मीरी शैवों की तरह ही ३६ तत्व माने गए हैं जिनका उल्लेख हम कर चुके हैं।

---

१ शक्ति अंक।

२ हंसविलास, गायकवाड़ ओरि० सीरीज पृ० ११४, १९३७ ई०

साधना-दीक्षा—शाक्तों में भी शैवों की तरह, शाक्ती शाम्भवी व मान्त्री दीक्षा प्रचलित है। शाक्ती दीक्षा मे गुरु, शिष्य मे शक्ति का प्रवेश कराता है, शाम्भवी दीक्षा मे शिव और शक्ति के रक्त शुक्ल चरणो की भावना करके दीक्षा दी जाती है। तथा मान्त्री दीक्षा मे शिष्य के कान मे गुरु मंत्र पढता है। वस्तुतः इन तीनो दीक्षाओ मे ध्यान योग ही स्वीकृत है। उदाहरण के लिए शाक्ती दीक्षा मे शिष्य से कहा जाता है कि वह यह ध्यान करे कि उसके मूलाधार चक्र से ब्रह्मबिल तक अग्नि प्रज्वलित हो रही है।[1] इस प्रकार के ध्यान से शिष्य की कुंडलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है परन्तु यह गुरु कृपा से ही सम्भव है। दीक्षा मे गुरु का महत्व सर्वोपरि है। गुरु, देवता और मंत्र इन तीनो की एकता प्रतिपादित की गई है। जब शिष्य इन तीनो के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है तब उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

शक्तिपात—शैव, बौद्ध तथा वैष्णवो की तरह शाक्तो ने भी शक्तिपात पर बहुत जोर दिया है। ब्रह्म और गुरु के अनुग्रह से ही दिव्य शक्तियाँ जाग्रत होती हैं।[2]

शाक्त साधना—शाक्तो के अनुसार स्वविमर्श ही पुरुषार्थ है।[3] अर्थात् साधक जब यह अनुभव करे कि मैं ही परशिव हूँ, तब उसे सिद्धि प्राप्त होती है। जैसे कंठस्थ आभूषण का विस्मरण हो जाने पर उसके अन्वेषण के लिए इधर उधर भटकते हैं और जैसे उसका पुनः स्मरण हो जाता है, उसी प्रकार जीव व्यवस्था मे हम यह भूल जाते हैं कि हम परशिव ही हैं। यह ज्ञान हमे भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है।

मंत्र—शाक्त साधना मे मंत्रों का विशेष महत्व है। मन्त्रो मे अचिन्त्य शक्ति मानी गई है[4]। अतः मंत्रो द्वारा सर्वातीत सत्ता की अनुभूति सहज हो सकती है। मंत्र-साधना मे गुरु, मंत्र, देवता, आत्मा, मन तथा पवन की एकता

---

१ तस्यामूलाधारब्रह्मबिलं प्रज्वलन्तीं प्रकाशलहरीं ज्वलदनलनिभां
ध्यात्वा———परशु० कल्प सूत्र-सूत्र संख्या ३६

२ शक्तिपातानुसारेण शिष्योनुग्रहमर्हति।
यत्र शक्तिर्न पतित, तत्र सिद्धिर्न जायते - हंसविलास पृ० १०२

३ स्वविमर्शः पुरुषार्थः - परशुराम कल्पसूत्र - सूत्र ६

४ मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता - वही, सूत्र ८

स्थापित करनी पड़ती है, इसी ऐक्य की अवस्था में मंत्र का उच्चारण होता है। अतः मंत्र के साथ ध्यान मिला रहता है। ध्यान-रहित मंत्र का जाप निष्फल होता है। पुरुष देवताओं के मंत्रों को मंत्र तथा देवियों के मंत्रों को विद्या कहा गया है। शिव शक्ति की एकता के लिए विद्या का प्रयोग मंत्र के साथ किया जाता है।[1] साधक की चित्तवृत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न देवियों के अनेक मंत्रों या विद्याओं का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए वाग्देवी का मंत्र इस प्रकार है—

ऐं क्लीं सौः बालायै नमः

तन्त्रों का विश्वास है कि मंत्र जप से ही सिद्ध होती है। वैष्णवों का भी यही विश्वास है। दक्षिणपंथी शाक्तों और वैष्णवों के मंत्र-जाप में कोई अन्तर नहीं है किन्तु वाममार्ग के अनुसार मंत्रजप का यह विधान है कि साधक को 'मधुपान परायण' बनकर किसी नग्न परकीया के साथ समागम अवस्था में ही मंत्र का एक लाख बार जप करना चाहिए। इसे आशुसिद्धि का सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया गया है। सिद्धि का अर्थ शक्ति-प्राप्ति कहा गया है—शक्ति का अर्थ यह है जप के अन्त में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहारक जो मति उत्पन्न होती है उसी को शक्ति कहते हैं।[2] मन्त्रों को नादात्मक माना गया है। इस नाद का अनुसंधान ही शाक्त साधना का मुख्य विषय है।

कुंडलिनी योग—षट्चक्रभेद द्वारा नादानुसंधान ही शाक्तयोग का मुख्य विषय है। आज्ञाचक्र के भेदन के बाद ज्ञान का उदय होता है। इसके बाद बिन्दु स्थान है जो योगियों का तृतीय नेत्र है। इसमें स्थित होकर द्रष्टा प्रपंच को तटस्थ होकर देख सकता है अतः यह समझना कि हठयोग केवल सिद्धि के लिए है, गलत है। यद्यपि बहुत से योगी हठयोग को केवल सिद्धिदाता ही मानते हैं।

बिन्दु के बाद अर्द्धचन्द्र चक्र है। बिन्दु को चन्द्रबिन्दु तथा अर्द्धबिन्दु को अर्द्धचन्द्र कहते हैं। इसी में अष्टकला शक्ति का विकास होता है। इसके बाद घोर अवरोधकारी अवस्था का उदय होता है। यह 'रोधिनी' कहलाती

---

१ ललितासहस्रनाम - अनन्तकृष्ण शास्त्री द्वारा अंग्रेजी में अनूदित संस्करण २, भूमिका भाग ओटकमण्ड, १९२५

२ देवी रहस्य - रामचन्द्र काव-१९४१, श्रीनगर, कश्मीर, पटल १४, पृष्ठ १३ तथा आशुसिद्धि के लिए द्रष्टव्य, पटल १० पृ० २५

है। इसे भेदकर साधक नाद-भूमि मे प्रतिष्ठित होता है। ब्रह्मरन्ध्र मे नाद का लय होता है। इसके बाद चित्‌शक्ति का उदय होता है। तत्पश्चात् त्रिकोण स्वरूपा व्यापिका है, वह विन्दु के विलास स्वरूप वामादि शक्तित्रय से संघटित है। इसके पश्चात् 'समना' शक्ति का उदय होता है। यह शिव से संयुक्त रहती है। 'समनावस्था' मे आकर मन स्पन्दनहीन होकर समाप्त हो जाता है। इसके बाद चिद्रूपा एक कला रहती है। इसे निर्वाणकला रूप कहा गया है। यही उन्मनाभूमि है। सांख्य इसे ही 'कैवल्य' कहते हैं। इसके पश्चात् विन्दु भी लय हो जाता है। महाशक्ति का आविर्भाव हो जाता है। यही पूर्णता की अवस्था है।[1]

विन्दु का जब लय होता है तो एक रिक्त दशा उत्पन्न होती है। इसी को योगी अमावस्या कहते हैं। इसके बाद महाशक्ति के आविर्भाव के बाद पूर्णदशा को ही पूर्णिमा कहा जाता है। महाशक्ति की अमावस्या की ओर जो स्फूर्ति है वही कालीरूप है और पूर्णिमा के रूप मे षोड्शी, त्रिपुरा-सुन्दरी या श्रीविद्या व्यक्त होती है, भयकर व कोमल देवियो के रूप का रहस्य यही है, इसी को कालीकुल या श्रीकुल भी कहा जाता है। इन दोनो के मध्य मे तारा या तारिणी विद्या है।[2] कु डलिनी जाग्रत होने पर ही यह अवस्था प्राप्त होती है।

शक्ति-साधना मे सकल, निष्कल व मिश्र शक्ति की ये तीन अवस्थाएँ हैं। क्रम का ध्यान रखने से सकलभाव की उपासना निकृष्ट है, मिश्रभाव की उपासना मध्यम है, तथा निष्कल उपासना ही श्रेष्ठ है।

षट्‌चक्र निरूपण—७२ हजार नाडियो के इस शरीर का आधार मेरुदड है। इस मेरुदड को आधार बना कर जो नाडी जाल फैला हुआ है, उसमे सुषुम्णा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसी मे ६ चक्रों की स्थिति मानी गई है, जिनका विवरण इस प्रकार है—

---

१ शक्ति अंक - कल्याण गोरखपुर-शक्तिसाधना शीर्षक लेख।

२ शक्तिमय शक्तिसाधना

चक्र	मूलाधार	स्वाधिष्ठान	मणिपूरक	अनाहत	विशुद्ध	आज्ञा	सहस्रार
स्थान	मेरुदंड के नीचे	लिंगस्थान के सम्मुख	नाभि	हृदय	कंठ	भ्रूमध्य	ब्रह्मरंध्र
कमलदल	४	६	१०	१२	१६	२	१०००
दलवर्ण	रक्त	सिंदूर	नील	अरुण	धूम्र	श्वेत	
बीजाक्षर	व श ष स	ब भ म य र ल	ड से फ तक	क से ठ तक	अ से अः तक	ह क्ष	स्वर व्यंजन
तत्व	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आकाश	महत्तत्व	
यन्त्र	चतुष्कोण	अर्द्धचन्द्र	त्रिकोण	षट्कोण	पूर्णचन्द्र	लिंगयन्त्र	
यन्त्ररंग	पीत	चन्द्रवत्	बालरवि	धूम्र	आकाश	विद्युत	
यन्त्रबीज	लं	वं	रं	यं	हं	प्रणव	
बीजवाहन	ऐरावतहस्ती	मकर	मेष	मृग	हस्ती	बिन्दु स्थित नाद	
यन्त्र देव	ब्रह्मा	विष्णु	वृद्धरुद्र	ईशान रुद्र	पंचमुख सदाशिव	"इतर" लिंग	परमशिव
शक्ति यन्त्रमध्य देव	डाकिनी स्वयम्भूलिंग को वलयित करके कुंडलिनीशक्ति पूंछ मुख में दबा कर स्थित है।	राकिनी	लाकिनी	काकिनी शक्ति त्रिकोण है। इस चक्र में 'बाण' नामक एक लिंग भी है, एक अष्टदल कमल है। "हृत्पुंडरीक" यही है।	शाकिनी	हाकिनी	

उपर्युक्त विवरण षट्चक्रनिरूपण के आधार पर "शक्ति अंक" से दिया गया है। अन्य ग्रंथो मे कुछ भिन्नता भी पाई जाती है, जैसे 'बाला-पद्धति' मे गणेश, सरस्वती, लक्ष्मी, नारायण आदि देवी-देवताओ का उल्लेख है।

कुछ योगी कंद व कुंडलिनी को नाभिस्थल मे मानते हैं। कुछ कुंडलिनी को "अनाहतचक्र" मे मानते हैं।[१] जर्मनी के गिखतेल (१७ वी शताब्दी) महाशय ने कुछ मौलिक चक्र चित्र बनाए है, जो शक्तिअंक मे दिए गए है। गिखतेल के अनुसार चक्रो का सम्बन्ध सोम, बुध, शनि आदि नक्षत्रो से है।[२] ललितासहस्रनाम मे "बैन्दव" नाम से एक नवम् चक्र का भी उल्लेख मिलता है। इसे बिन्दुओ का समूह कहा गया है। यथा ह+बिन्दु=ब्रह्म (ह), स+बिन्दु=सं=सर्ग।[3]

कुंडलिनी योग का वर्णन शाक्ततन्त्रो मे स्त्री-पुरुष-रति-रहस्य के माध्यम से वर्णित हुआ है। जिस प्रकार कोई स्त्री राजमार्ग पर चलती हुई किसी गुप्त स्थान मे अपने पति या प्रेमी से मिलती है और आलिगन के बाद अमृत (वीर्य) गिराती है उसी प्रकार कुंडलिनी शक्ति सुषुम्ना-मार्ग (राजमार्ग) पर चलकर, गुप्त स्थानो मे (चक्रोमे) निवास करती हुई महानपति (शिव) का आलिगन करती है, और अमृत गिराती है। यह कुडलिनी, सदा ही सर्प की तरह शब्द किया करती है, कान बन्द कर इस शब्द को सुना जा सकता है। देवीपुराण के अनुसार इसका रूप शृंगाटक की तरह होता है। जिस प्रकार स्त्री के मिलने पर पुरुष के भीतर अग्नि जाग्रत हो जाती है, उसी प्रकार कुडलिनी शक्ति के मिलने पर अग्नि से चन्द्रमा द्रवित होता है।[४]

वाणी की अभिव्यक्ति को भी कुडलिनी योग से समझाया गया है। बीज के समान वाणी का अव्यक्तरूप (पराशक्ति) मूलाधार मे स्थित रहता है। पश्यन्ती अवस्था मे यह बीज अकुरित होने की ओर उन्मुख होता है। मध्यमा वाणी की वह अवस्था है जब दो पत्तियाँ प्रकट होती हैं किन्तु परस्पर सयुक्त रहती हैं, वैखरी वाणी की वह अवस्था है जब अलग अलग

---

१ शक्ति अंक-शक्ति साधना
२ शक्ति अंक-शक्तिसाधना
३ ललिता सहस्रनाम-अंग्रेजी अनुवाद बैन्दव शब्द की व्याख्या
४ " " -अंग्रेजी अनुवाद में द्रष्टव्य कुंडलिनी की व्याख्या

पत्तियों की तरह वाणी प्रकट होती है किन्तु मूल में वह मूलाधार में संयुक्त रहती है। नित्यतन्त्र के अनुसार वायु के द्वारा परावाणी सर्वप्रथम मूलाधार में जाग्रत होती है, तत्पश्चात् वह वायु ऊपर उठती है और स्वाधिष्ठान चक्र में व्यक्त होती है, यह अवस्था पश्यन्ती कहलाती है। अनाहत चक्र में आकर बुद्धि के संयोग से यही वाणी मध्यमा कहलाती है और तत्पश्चात वह विशुद्धि-चक्र में व्यक्त होकर जब कंठ से प्रकट होती है तब वह वैखरी कहलाती है।[1]

शक्तियाँ—शक्तिपूजा की अनेक देवियाँ हैं। इनमें दस महाविद्याएँ, दुर्गा आदि हैं। शक्तिपूजा में इनमें से कोई एक देवी उस पूजा की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है, उसी के सम्मुख सारी क्रियाएँ की जाती हैं। इनका विवरण इस प्रकार है —

दस महाविद्याओं में महाकाली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता भैरवी, बगलामुखी, मातंगी, कमला व धूमावती की गणना होती है। इन शक्तियों की इनके पतियों के साथ पूजा होती है, केवल धूमावती को विधवा माना गया है।

यह विभाजन महाभारत में नहीं मिलता, इसलिए यह तांत्रिक युग की सृष्टि है।

दस महाविद्याओं के अतिरिक्त सात माताएँ-ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्राणी तथा चामुंडा हैं। इनके अतिरिक्त शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघन्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री-ये नव दुर्गाएँ हैं। आयु की दृष्टि से देवियों का विभाजन मिलता है। १ वर्ष की देवी, 'सन्ध्या', २ वर्ष की 'सरस्वती' ७ वर्ष की 'चंडिका', ८ वर्ष की 'शाम्भवी' ९ वर्ष की 'दुर्गा' या 'बाला' १० वर्ष की 'गौरी' १३ वर्ष की 'लक्ष्मी' तथा १६ वर्ष की देवी 'ललिता' कहलाती है।[2]

राधा के साथ वल्लभ-सम्प्रदाय में उनकी समवयस्का सखी ललिता ही कही गई है। देश की दृष्टि से भी देवियों के विभाजन मिलते हैं—कांचीपुर

---

१ ललितासहस्रनाम - अंग्रेजी अनुवाद में द्रष्टव्य उपर्युक्त शब्दों की व्याख्या

२ एलीमेंट्स आफ हिन्दू इक्नोग्रैफी—गोपीनाथ राव, जि० १, भाग २

में वामाक्षी, केरल म कुमारी, बगाल मे सुन्दरी, नेपाल म गुह्यकेश्वरी, मलाया मे भ्रमरी, आनर्त म अम्बा, किरवीर म महालक्ष्मी, मालवा मे कालिका प्रयाग मे ललिता, विन्ध्याचल मे विंध्यवासिनी, काशी मे विशालाक्षी तथा गया मे मगलवती की पूजा होती है।[1]

शक्ति-पूजा—उपर्युक्त देवियो मे प्रत्येक का रूप, वेप, अस्त्र-शस्त्र, वाहन, मत्र, आदि अलग-अलग है। इन देवियो के साथ साधक तादात्म्य स्थापित करते हैं। साधक यह भावना करता है कि मैं देवी ही हूँ। शाक्तो, शैवो और वैष्णवो के अनुसार सार्वभौमिक सत्ता का सहसा साक्षात्कार साधक नही कर सकता। अतः उसके एक अश अर्थात् एक देश मे अभिव्यक्त रूप की ही साधना की जाती है। इसीलिए नाना देवी-देवताओ का विधान किया जाता है। देवता की मूर्ति का वास्तविक अर्थ साधक की चेतना मे स्फुरित दिव्य-सत्ता का रूप किया गया है।[2] बाह्य मूर्तियाँ केवल आतरिक मूर्ति को जाग्रत करने की साधन मात्र हैं। वैष्णव कवियो की मूर्ति-उपासना का विचार करत समय यह सिद्धान्त स्मरणीय है।

पूजा -पद्धति—शाक्त साधना मे पचमकार स्वीकृत है। पचमकार दुर्बल इन्द्रिय वालो के लिए विनाशकर और स्थिर-चित्तवान साधको के लिए हितकर बताया गया है।[3] जो लम्पटता के लिए पचमकार सेवन करते हैं उनकी घोर निन्दा की गई है। पचमकार का वास्तविक तात्पर्य इस प्रकार है। सहस्रार चक्र से स्रवित होने वाला अमृत ही मदिरा है। द्वैतभाव ही मास है। इन्द्रिय चाचल्य ही मत्स्य है, मैथुन का तात्पर्य है कुंडलिनी शक्ति और परशिव की एकता। परशुराम कल्पतन्त्र मे लम्पट साधको की घोर निन्दा की गई है।[4] इस तन्त्र मे मदिरापान के जो सात सोपान बताये गये हैं उनसे योग पर महत्वपूर्ण प्रकाश पडता है। इन सोपानो को उल्लास कहा गया है।

---

१ ग्लोरिनग्स फ्रौम द तन्त्राज-गोपीनाथ कविराज

२ यदा जप्तो मनुर्देवि ययाभक्तित प्रादुर्बभूव मे सद्यो या सा प्रोक्तेति देवता, देवी रहस्य-रामचन्द्र काक, श्रीनगर कश्मीर, १९४१, पटल १४ पृ० ८, १०

३ परशुराम कल्पसूत्र

४ वही भाग १ पृ० १५१

प्रारम्भोल्लास—यह प्रारम्भिक साधना है, इसमें पंचमकार का अनुशासित प्रयोग किया जाता है। इस अवस्था में साधक में उपासनाविषयक इच्छा जाग्रत हो जाती है।

तरुणोल्लास—इसमें गणपति की उपासना होती है। मदिरा की मात्रा बढ़ जाती है। तंत्रशास्त्र का पठन-पाठन पूरा हो जाता है।

यौवनोल्लास—इसमें अजपाजाप (हंसस्सोऽहं) किया जाता है, मदिरा की मात्रा बढ़ जाती है तथा शास्त्रों का वास्तविक मर्म समझ में आ जाता है।

प्रौढ़ोल्लास—इसमें मानस जप पर बल दिया गया है। ध्यानयोग का अभ्यास इस स्थिति में होता है। तदुपरान्त साधक का चित्त स्थिर हो जाता है।

तदन्तोल्लास—इसमें वाराही मंत्र का जप होता है और मैथुन का विधान किया गया है। मदिरा की मात्रा बढ़ जाती है। इस अवस्था में ब्रह्मानन्द अभिव्यजित हो जाता है।

उन्मनोल्लास—यही "उन्मन" अवस्था है। इसमें सर्व तत्वों का लय हो जाता है। इसी स्थिति को बताने के लिए साधक मदिरा पीकर बेसुध हो जाते हैं। कहा गया है कि उन्मनावस्था के पूर्व मदिरा चाचल्य उत्पन्न करती है, परन्तु उन्मनावस्था में यत्न बिना ही मन स्थिर हो जाता है। हंसविलास में कहा गया है[1] कि उन्मनावस्था योग की उच्चतर अवस्था है। इसमें दुंदुभी आदि का भी बाह्य शब्द नहीं सुनाई पड़ता और शरीर काष्ठवत् हो जाता है। अन्यत्र उन्मनावस्था को "मनोन्मनी" कहा गया है। यह ब्रह्मरंध्र से किंचिद् नीचे का स्थान है जहाँ प्राणवायु स्थिर हो जाने पर यह अवस्था प्राप्त होती है। इसे रुद्रमुख भी कहा गया है। यहाँ काल, देश, तत्व, देवतादि का अस्तित्व नहीं रह जाता और पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है। योगशास्त्रानुसार उन्मनी को एक मुद्रा भी माना गया, जिसमें न नेत्र बन्द होते हैं, न खुलते हैं, न सांस आती है, न रुकती है, ध्यान व ध्येय सब समाप्त हो जाता है।[2]

कबीर ने इसी स्थिति की ओर संकेत किया है। शाक्तों की मनोन्मनी और

---

१ हंसविलास पृ० ४९

२ ललितासहस्रनाम के अंग्रेजी अनुवाद में द्रष्टव्य मनोन्मनी की व्याख्या

कबीर की उन्मना अवस्था मे केवल अन्तर यह है कि कबीर वामाचार को स्वीकार नही करते।

अनवस्योल्लास—यह अन्तिम स्थिति है, इसमे मदिरा की मात्रा सबसे अधिक हो जाती है। योग की उन्मनावस्था को प्राप्त साधक ही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है।[1]

शाक्ततंत्रो मे साधना के तीन भेद माने गये हैं—पशु, दिव्य और वीर। पशु साधक मर्यादावादी होते हैं। उनके लिए दक्षिणपंथ है। चूंकि वैष्णव मर्यादावादी होते हैं इसलिए शाक्तो के अनुसार वे पशु श्रेणी मे ही आते हैं। दिव्य साधक मुद्रा, मंत्र, मंडल आदि को नही छोडता तथा वामाचार का सेवी होता है। वीर साधक के लिए कोई विधि निषेध नही है।

वीर साधना ही कौल साधना है। इसमे श्मशान साधना सबसे भयकर है। कौलावली निर्णय के अनुशीलन से पता चलता है कि कभी वैष्णवो और गणपति के उपासको मे भी "शवसाधना" का प्रचार था।[2] सम्भव है वैष्णवो मे भी यह भयंकर क्रियाऐं रही हो किन्तु परवर्ती वैष्णव मत म इनका विधान नही मिलता। कौलसाधना का उद्देश्य घृणा, भय, लज्जा आदि पर विजय प्राप्त करना है। शाक्त साधक जानबूझकर अपने को उन स्थितियो मे डालते हैं जिनमे मन 'क्षुभित' हो और ऐसी स्थितियो मे वे अपने चित्त को निराकुल रखने का अभ्यास करते हैं। चूंकि श्मशान मे विघ्न सबसे अधिक होते हैं, इसलिए उसी को उचित स्थान माना गया है। इसमे शिव के अंक मे लेटी हुई देवी का ध्यान किया जाता है। स्तोत्र पढे जाते हैं और किसी लाश की पीठ पर बैठकर मंत्रजप किया जाता है। उस लाश को शिव रूप माना जाता है और उसकी प्रार्थना की जाती है। इन प्रार्थनाओ मे अद्‌भुत भाव विभोरता मालूम पडती है। वस्तुत भावना विशेष की अपने मन मे सृष्टि

---

१ नित्योत्सव (परशुराम कल्पसूत्र)—उमानन्दनाथ के आधार पर उपर्युक्त सात उल्लासों का वर्णन किया गया है।

२ वैष्णवे गाणपत्ये च शैवे चैवागमन्त्रके, शाक्ते चैव विशेषेण साधयेत साधकोत्तम, कौलावली निर्णय—तान्त्रिक टैक्स्ट्स सीरीज कलकत्ता, उल्लास १४ श्लोक १ से ५

करने से साधनाएँ की जाती हैं। यह बार-बार कहा गया है कि भाव से ही पूजन किया है।[1]

कुमारी पूजा—इस प्रकार की पूजा में पूर्ण उच्छृंखलता दिखाई पड़ती है। व्यभिचार को भी शास्त्र माना गया है। स्त्री मात्र के प्रति असीम श्रद्धा और सम्मान प्रकट किया गया है। जाति-पांति का पूर्ण निषेध किया गया है। नीच जाति की स्त्रियों को श्रीचक्र में स्थापित कर उनके गुप्तांगों की पूजा की जाती है। इस साधना में भी भावना विशेष ही दिखाई पड़ती है। साधक यह भावना करता है कि वह सुषुम्णा के मार्ग से आत्मा की अग्नि में मन रूपी स्रुवा से धर्माधर्म रूपी हवि को अर्पित कर रहा है। कुलार्णव तंत्र में कहा गया है कि कुमारी पूजा में साधिकाएँ और साधक सिरों पर मदिरा घट रखकर नृत्य करते हैं, इसे घट नृत्य कहा गया है। सिर पर की मदिरा को कुलार्णवतन्त्र कुण्डलिनीयोग से प्राप्त अमृत कहता है और उल्लास का सर्व आत्मानन्द किया गया है।[2]

इस साधना में स्तम्भन, मोहन, मारण, आकर्षण, वशीकरण आदि का भी वर्णन मिलता है। इन सिद्धियों की प्राप्ति में भी मंत्र जपते समय साधक के चित्त की जैसी अवस्था होती है वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा विश्वास प्रकट किया गया है।

चक्रपूजा—कुहू, पूर्णिमा, संक्रान्ति, चतुर्दशी या अष्टमी की रात्रि में शाक्त साधक सामूहिक रूप से चक्र पूजा करते हैं। गुरु की देखरेख में पंचमकार का शोधन किया जाता है।[3] हम कौल साधना का वर्णन करते समय इस पर विस्तार से विचार कर चुके हैं।

आचार—शाक्त साधना में दक्षिणाचार, वामाचार और कुलाचार—इन तीन आचारों का अलग-अलग वर्णन मिलता है। मुख्य रूप से दो ही आचार माने जाते हैं—दक्षिणाचार और कुलाचार। वामाचार की भी कुलाचार में ही गणना होती है। दक्षिणाचार में प्रभातस्नान, सन्ध्या, मध्याह्न में जप, खीर, शक्कर आदि का सात्विक भोजन तथा अपनी स्त्री के साथ भोग ही विधेय

---

१ भक्ति न पूजयित्वा च राम्रो तावत् सहस्रकम्—कौलावली निर्णय, उल्लास १४, श्लोक २४५ से २५० तक।

२ वही-भूमिका पृ० १७

३ देवी रहस्य-पटल ५८

माना गया है। इसमें मदिरादि का निषेध है। इसमें देवी के अतिरिक्त अन्य देवताओं की पूजा भी हो सकती है। उदाहरण के लिए आज के शाक्त मन्दिरों में मध्य में देवी की मूर्ति रहती है तथा आसपास विष्णु, गणेश, शिव आदि की मूर्तियाँ रहती हैं। दक्षिणमार्गीय शाक्त ऋषि, देव, पितर मनुष्य आदि के लिए पंचयज्ञ का सम्पादन करते हैं, विधि निषेध मानते हैं। दक्षिणाचारी शाक्तों और वैष्णवों में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। वाममार्ग में विधि निषेध का त्याग किया जाता है। वह सम्पत्ति, स्त्री व अन्य भोगों को जीतता है और जानबूझ कर मर्यादा का उल्लंघन करता है। वामाचार में और कापालिक शैवों में समता दिखाई पड़ती है।

कुलाचार में कुलस्त्री, कुलगुरु तथा कुलदेवी की उपासना व पूजा होती है, सभी हिन्दू घरों में शुद्ध रूप में कुलाचार ही आज प्रचलित है। किन्तु वामाचारी साधक कुलस्त्री को देवी मानकर उसे बलपूर्वक लाकर उसकी पूजा करते हैं और पंचमकार विधि अपनाते हैं।[1]

वामाचार में भोग व योग के विरोध को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया है। कौलरहस्य में कहा गया है कि कौल योग व भोग दोनों से युक्त है अतः कौल साधना ही प्रिय साधना है।[2]

भाव की दृष्टि से पशुभाव सामान्य जन के लिए तथा वीर भाव और दिव्यभाव उच्च साधकों के लिए माना जाता है।

शाक्त साधना द्वारा निरूपित सभी आचारों और क्रियाओं में भाव को ही मुख्य आधार माना गया है। बाह्याचार इस भाव को या तो प्रेरणा देने के लिए है अथवा इस भाव को उच्चतर मानसिक स्थितियों में रूपान्तरित करने के लिए है अथवा इस परीक्षा के लिए है कि दिव्यता की ओर किस सीमा तक रूपान्तरण हो चुका है। इसी दृष्टि से नारसाधना, कुमारीपूजा चक्रपूजा आदि को देखना चाहिए। कौलावली निर्णय में यह स्पष्ट कहा गया है कि भाव के बिना यंत्र, मन्त्र, वीर साधना, अष्टकुल, अकुल, पीठ-पूजन, कन्याभोजन, स्वकुल में प्रीति, दान, कौलाचार आदि कोई कुछ भी फल नहीं देते। अतः मन्त्रजप आदि में साधक भावविशेष द्वारा ही तादात्म्य

---

१ देवी रहस्य—पटल ५८ तथा ५९

२ भोगयोगात्मकं कौलं, तस्मात्सर्वाधिकं प्रिये

हंसविलास—पृ० १०४

प्राप्त करता है जो सिद्धिदायक है।[1] भयकर क्रियाओं को छोडकर शाक्त साधना का आधारभूत सिद्धान्त भाव विशेष का विकास है। शैव, बौद्ध और वैष्णव तन्त्रों मे भी यही सिद्धान्त दिखाई पडता है। देवता का ध्यान तथा उसके साथ भावात्मक एकता इन सम्प्रदायो की साधना का मर्म है। शाक्त व शैव मूलप्रवृत्ति काम को भोग द्वारा वश में लाते हैं, इसमे विरोधाभास दिखाई पडता है परन्तु है नहीं, क्योंकि भोग के समय भावना ही मन को कलुषित करती है, यह तन्त्रो का कथन है। 'मैं कुछ अनुचित कर रहा हूँ'— इस भावना के निकल जाने पर प्रवृत्तियों का भोग ग्लानि उत्पन्न नहीं करता। इसीलिए कुमारी पूजा आदि मे स्त्री को देवी रूप मे स्वीकार कर सम्पूर्ण विलासमय परिस्थिति को एक सर्वथा पवित्र और दिव्य भाव म बदलने का प्रयत्न किया जाता है। यही कारण है कि वैष्णव भक्त ध्यान द्वारा राधा कृष्ण की अश्लील से अश्लील रति-क्रीडा को देखकर लज्जित नही होते। वे उसे देवरति मानकर प्रसन्न ही होकर देखते हैं और जन्म जन्मान्तर देखते रहना चाहते है और इसके लिए वे ज्ञानियो की मुक्ति की निन्दा करते है, इससे आत्मा का परमात्मा मे पूर्ण विलयन हो जाता है। अत प्रवृत्ति से प्रेरित कर्म मे सामाजिक कारणो से भय, लज्जा, ग्लानि आदि भाव सयुक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार काम-प्रवृत्ति जो मूल प्रवृत्ति है उसे भी दिव्य कर्म समझ कर करने से—काम को सन्तुष्ट करते समय यह भावना करने से कि यह मिलन ब्रह्माण्डव्यापी शक्ति और शिव का मिलन है, साधक के मन मे लज्जा और ग्लानि नही रहती और अन्त मे मन शान्त हो जाता है, ऐसा तन्त्रो का कथन है। वैष्णव इस क्रिया का केवल ध्यान करते हैं। इससे साधक की वासना का दिव्य स्तरो पर प्रक्षेपण हो जाने से वासना दिव्यभाव म बदल जाती है। गधर्वतन्त्र मे कहा गया है कि वेद द्वारा बहिष्कृत वस्तुओं का इस प्रकार उपयोग करो कि साधना म सफलता मिले। उपयोग की विधि तथा भावना से वस्तु पवित्र या अपवित्र होती है। यह

---

१ न भावेन विना चैव यन्त्र मन्त्र फलप्रदा कि वीरसाधर्मलक्षै किम्वा आकृष्टकुलाकुलै कि पीठपूजनेनैव कि कन्याभोजनादिभि, स्वकुले प्रीति दानेन कि परैवान्तयैव च। भावेन लभते मुक्ति भावेन कुलवर्धनम्, भावेन गोत्रवृद्धि स्यात भावेन काय शोधनम्।
कौलावलीनिर्णय-उल्लास ११, श्लोक ५ से १० तक

स्वय मे न पवित्र है, न अपवित्र ।[१] अत: अद्वैत भावना मे शक्ति पूजा ब्रह्म मे मन को स्थिर करती है और द्वैतभाव से नर्क मे डालती है ।[२] भंडारकर ने लिखा है कि शाक्त सम्प्रदाय मे प्रत्येक पवित्र साधक देवता को स्त्री समझकर यह अनुभव करता है कि "मैं भी स्त्री हूँ" । त्रिपुरा की उपासना मे एक सम्प्रदाय इसी विधि का अनुगमन करता है । यहाँ भी भावना की विशेषता ही दिखाई पडती है ।[3] ब्रह्मयामल मे चित्तवृत्ति को ही मुख्य माना गया है । यन्त्रवतआचार पालन से कोई लाभ नही है ।[४] शक्ति व शक्तिमान का सिद्धान्त ही शाक्त, शैव, वैष्णव तथा तांत्रिक बौद्ध तन्त्र का मर्म है । दस महाविद्याओ मे कमला, तथा दस महाभैरवो मे इसीलिए विष्णु की गणना शाक्त तन्त्रो मे की गई है । श्रीकृष्णयामल तन्त्र मे कहा गया है कि विष्णु के अवतार अपनी शक्ति सहित अवतार लेते है । वृन्दावन दो प्रकार का है—१ भौम वृन्दावन जो पृथ्वी पर है तथा दिव्य वृन्दावन । दिव्य वृन्दावन लिंग व योनि पर आधारित है ।[५] लिंग व योनि ही प्रकृति व पुरुष है । राधा शक्ति है । राधा के अतिरिक्त अन्य शक्तियो के साथ भी पुरुष क्रीडा करता है यही गोप लीला है । इससे जो 'रस' प्राप्त होता है वह शक्ति व शक्तिमान की लीला का ही प्रतिमान है ।[६] राधिकोपनिषद् मे जीव को स्त्री तथा कृष्ण को 'पति' कहा गया है । राधा ही ह्लादिनी शक्ति है, अर्थात् ब्रह्म, जो आनन्दस्वरूप है, वही राधा के रूप मे व्यक्त होता है ।[७] श्रीकृष्णयामल तन्त्र म विष्णुलोक का वर्णन इस प्रकार मिलता है —

---

१ गंधर्वतन्त्र-सम्पादक रामचन्द्र काक तथा हरभट्ट शास्त्री, श्रीनगर, कश्मीर, पटल ३१, १९३४ ई०

२ द मदर गौडेस आफ कामाख्या-बेनीकान्त काकती, गोहाटी, १९४८ ई० पृ० ५२ से उद्धृत ।

३ ग्लोनिग्स फ्रोम द तन्त्राज़-पृ० १६४

४ ग्लोनिग्स फ्रोम द तन्त्राज़ पृ० १६४ से उद्धृत

५ वही पृ० १८५

६ वही

७ वही पृ० १८५, १८६
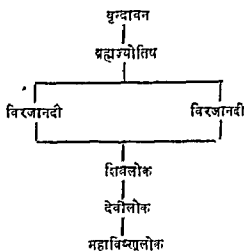
एक कथा है कि ब्रह्मा इस लोक में गए। महाहरि ने पथप्रदर्शन किया। यह महाहरि नीले रंग का था, वह कमलनयन और अष्टभुजधारी था। ब्रह्मा जब शिवलोक गये तो देखा कि लिंग महायोनि को स्पर्श कर रहा था, इसमें "अर्धनारीश्वर प्रकट हुआ"। अर्द्धनारीश्वर ने कहा कि मैं कृष्ण व दुर्गारूपी राधा का तेज हूँ। कृष्ण का मंत्र प्रकट हुआ—

क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन वल्लभाय स्वाहा

तत्पश्चात् ब्रह्मा विरजा नदी पर गए, यह ज्योतिर्मयी है, यहाँ विष्णु की वंशी बजती है और गोविन्द का कीर्तन होता है। ब्रह्मा ने देखा कि नदी में कदम्ब का प्रतिबिम्ब था, उसमें स्थित एक कल्पवृक्ष पर मयूरपंखधारी पीताम्बरधारी एक बालक आसीन था, उसकी गोद में राधा थी। देवताओं ने वहाँ पहुँचने का प्रयत्न किया किन्तु उन्हें रोक दिया गया।[1]

इसी प्रकार एक परवर्ती तंत्र हंसविलास में तंत्र व वैष्णव मत की आधारभूत एकता बताई गई है। हंसविलास में जो परम्परा दी गई है उसमें महेश और पार्वती के साथ राधा कृष्ण का भी उल्लेख है।[2] हंसविलास में राधा कृष्ण लीला को 'राजयोग' कहा गया है।[3] क्योंकि यह मानसिक भावना पर ही आधारित है, बाह्य क्रियाकांड पर नहीं। भक्ति की परिभाषा में वहाँ

१ ग्लीनिंग्स फ्रौम द तंत्राज् गोपीनाथ कविराज् पृ० १८७
२ हंसविलास—दीक्षाप्रसंग
३ ,, पृ० १०५

गया है कि इससे भवदुःख का शमन होता है, मोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। इसमे न योग है, न तप है, न अर्चा है केवल भक्ति ही इसमे सर्वस्व है।[1]

कृष्ण-भक्तो के रासमंडल व चक्र मे सादृश्य दिखाई पड़ता है। इसमे पक्तिवद्ध या चक्रवद्ध साधक खडे होते हैं।[2] रासमंडल मे पंचमकार को वास्तविक अर्थ मे ही प्रयुक्त कर सकते है। जैसे व्योमपंकज से स्रवित सुधा ही सुरा है। पलाशी या मासभोजी वह है जिसका चित्त 'पर' में लीन हो जाता है। मैथुन का तात्पर्य है परशक्ति के साथ आत्मा के मैथुन से उत्पन्न आनन्द, न कि दुराचार।[3] इसी प्रकार "रास" का वास्तविक अर्थ किया गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है, वह आनन्द इस शरीर मे प्रतिष्ठित है, उस आनन्द का अभिव्यंजक होने से यह "रास" है और इस रास मे तत्पर व्यक्ति ही रसिक कहलाता हैं।[4] स्पष्ट ही यह रास की तात्रिक व्याख्या है परन्तु यह वैष्णव सिद्धान्त से दूर नही है क्योकि रास मडल का प्रतीकात्मक अर्थ ही वैष्णव परम्पराओ मे भी स्वीकृत है। ऐसा प्रतीत होता है कि रास सम्प्रदाय एक अलग सम्प्रदाय था जो वैष्णवो व तान्त्रिको के सिद्धातो मे समानता देखकर दोनो का समन्वय करता हुआ प्रचलित हुआ था क्योकि हंसविलास मे वेद से वैष्णव मत को, वैष्णवमत से दक्षिणमार्ग को, उससे वाममार्ग को, वाम से सिद्धान्त मत को तथा सिद्धान्त मत से रास सम्प्रदाय को श्रेष्ठ कहा गया है।[5] हंसविलास तंत्रमार्ग मे शैव शाक्तो के अतिरिक्त वैष्णवो को भी स्वीकृत करता है।[6] कहा गया है कि गणेश लोक, सूर्य लोक, विष्णुलोक, शिवलोक व शक्तिलोक ही श्रेष्ठ लोक हैं। इनमे अलग अलग मत्र व शास्त्र प्रचलित हैं। विष्णुमूर्तियों मे गोलोकविलासिनी मूर्ति को सर्भा श्रेष्ठ माना गया है।[7] वैष्णवो के गोलोक वर्णन और तान्त्रिको के लोकवर्णन मे अद्भुत सादृश्य

---

१ हंस विलास–दीक्षा प्रसग पृ० ११६

२ पङ्क्त्याकारेण व सम्यक्—चक्राकारेण या प्रिये। हंसविलास पृ० १२२

३ हंसविलास पृ० १२५

४ आनन्दो ब्रह्मणो रूपं तच्चदेहे व्यवस्थितम्।
तस्यापि व्यंजको रासो, रसिकस्तत्परायण। हंसविलास पृ० १३६

५ वही पृ० १३९

६ वही पृ० १४८

७ वही पृ० १५१

है। हंसविलास तंत्र "शुष्क वैरागियों" का घोर खंडन करता है। आनन्द रहित होने के कारण ही इन्हें शुष्क कहा गया है।[१]

इनमें दंडी, जटिल, मुंड, नग्न आदि अनेक रूप वाले संन्यासी हैं जिनकी निन्दा की गई है।[२] गृहस्थधर्म ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम है। संन्यासी इसकी भी निन्दा करते हैं। इसीलिए संन्यास मार्ग अग्रहणीय है।[३] अत आनन्दवादी साधक को राधा या लक्ष्मी का स्मरण करना चाहिए यह "स्त्री तत्व" अत्यधिक रहस्यमय और गम्भीर है।[४] "तन्वीतत्व" को न समझ कर ही लोग निन्दा करते हैं, क्योंकि स्त्री संसार से तारने के लिए है, डुबा कर मारने के लिए नहीं।[५] अतः कलियुग मे भक्तियोग को श्रेष्ठ माना गया है। इसमें मिथुन रूप का ध्यान किया जाता है।[६] शिवशक्ति या राधाकृष्ण की समरसता या विलासावस्था ही ध्येय है। इसी सामरस्य को छंदों मे बाँधा जाता है। भगवान के स्नान, अलंकरण, नीराजना, पुष्पाजलि आदि का विधान भी इसीलिए है। नायिकाभेद, हावभाव अलंकारादि के काव्यमय वर्णन भी इसी "युगलउपासना" के मर्म के उद्घाटन के लिए हैं।[७]

इस युगल रस का चमत्कार रास मे प्रकट होता है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

> रसमयः कश्चित् चमत्कारविशेषो रासः स च सर्वत्र व्याप्तः।
> सामरस्यात् "रसो वै स.", रस सच्चिदानन्दलक्षणं शक्तिशिवैक्यरूपं
> तस्य विलासो रासः अनिर्वचनीयलीला चमत्कृतिः[८]

अर्थात् ब्रह्मानन्द ही रास है, वह सर्वत्र ही व्याप्त है। यह रस शक्ति व

---

१ शून्यवैराग्यसंशुष्का भ्रमन्तिभुवि केचन–
हंसविलास पृ० १७२
२ हंसविलास प० १७२
३ वही पृ० १७३
४ वही पृ० १७४
५ वही पृ० १७५
६ वही पृ० २६८
७ वही
८ वही पृ० २७२

शिव की एकता के रूप वाला है। उसी ब्रह्मानन्द की क्रीडा रास है। यह ऐसी अप्राकृतिक लीला है कि जिसे शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता।

वैष्णवों के रास की प्रामाणिक व्याख्या से यह व्याख्या पूर्णत मिलती है। वृन्दावन के कृष्ण को तन्त्र आद्यललिता कहते हैं, वही पराशक्ति पुरुष रूप धारण कर राधा आदि शक्तियों के साथ क्रीडा करती है। इस क्रीडा के दो रूप हैं—एक क्रीडा बाह्य है जो जगत् के रूप में हमारे सम्मुख है और दूसरी आन्तरिक है जो ब्रह्माड से परे गोलोक में होती रहती है।[1]

हसविलास म गोपी का अर्थ पराशक्ति किया गया है और गोपाल का परमशिव। अतः गोपी साधारण गोप जाति नहीं है बल्कि वह पराशक्ति का ही रूप है।[2]

स्त्री पुरुष की यह जो बाह्य रति है यह आध्यात्मिक दृष्टि होने पर सिद्धि देती है। यदि यह सम्भव न हो तो कीर्तन करना चाहिए। अर्थात् कीर्तन में भगवान की आनन्दमयी लीला का ध्यान करना चाहिए।[3] इसीलिए वैष्णव रासलीला का ध्यान या कीर्तन करते हैं। हसविलास स्पष्ट कहता है कि तन्त्रो मे साधक रतिक्रीडा करते हैं, वैष्णव उसका गायन करते हैं और गायन भी सुरति ही है—

गायनमात्रमेव सुरतम्[4]

यहाँ वैष्णव व तान्त्रिक मत की एकता स्पष्ट हो जाती है। विशेषकर कृष्ण भक्तों पर तान्त्रिक प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पडता है।

---

१ हसविलास पृ० २७३
२ वही पृ० २७५
३ तदभावेमपिदंवतरास कीर्तनीय —वही पृ० ३०८
४ वही पृ० ३१६

६

नाथ सम्प्रदाय पर तांत्रिक प्रभाव

कश्मीर शैव सम्प्रदाय में नाथ सिद्धो के उल्लेख मिलते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ, जो परम्परा से गोरखनाथ के गुरु कहलाते हैं, तंत्रालोक मे उल्लिखित हैं।[1] क्योंकि योग क्रियाएं प्राचीन हैं अतः जैन-विद्वान नाथसम्प्रदाय को जैनमत का ही एक रूप मानते हैं, यह एक संयोग है कि जैन तीर्थंकरो मे 'आदिनाथ' भी एक हैं और नवनाथो की परम्परा 'आदिनाथ' मे मानी जाती है, यद्यपि आदिनाथ का अर्थ नाथपंथी शिव करते है। यह प्रमाणित हो चुका है कि नाथपंथ पर बौद्धप्रभाव पर्याप्त है, महायान का शून्यवाद व बौद्धयोग नाथपंथ मे पुष्कल मात्रा में मिलता है।

नाथपंथ वस्तुत. सिद्धमार्ग है, इसे अवधूत या योगमार्ग भी कह सकते हैं। शाबरतंत्र मे कई नाम नाथ सिद्धो के मिलते हैं, आदिनाथ, अनादिनाथ, कालनाथ, अतिकालनाथ, करालनाथ, विकरालनाथ, महाकालनाथ, कालभैरवनाथ, बटुकनाथ, भूतनाथ, वीरनाथ, तथा श्रीकंठनाथ। इन १२ शिक्षक सिद्धों के नाम शाबरतंत्र से मिलते हैं, इसमें स्पष्ट ही कई नाम नाथसिद्धो के हैं, इनके शिष्यों

---

१ कश्मीर शैव दर्शन में हम इसकी चर्चा कर चुके हैं - द्रष्टव्य तंत्रालोक, जिल्द १, भा० १

मे नागार्जुन, जडभरत हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ, चर्पटनाथ, अवद्यनाथ, वैराग्यनाथ, कंठाधारी, जालंधर तथा मलयार्जुन—ये १२ शिष्य कहे गये हैं।[1]

गोपीनाथ कविराज के अनुसार गोरखनाथ का समय १२वीं शताब्दी है क्योंकि ज्ञानदेव ने (१३ वी शताब्दी) गीताभाष्य मे आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गोहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञाननाथ का उल्लेख किया है। *तारानाथ व हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार गोरख प्रथम बौद्ध थे।* शास्त्रीजो ने इनका बौद्ध नाम 'रमणवज्र' बताया है। जो हो, यहाँ केवल यह स्मरणीय है कि हठयोग का स्वर १० वी शताब्दी के बाद ही प्रबल होता है और इस मत पर पतंजलि के 'राजयोग' के अतिरिक्त बौद्ध व शैव प्रभाव बहुत अधिक है।

कविराजजी का अनुमान है कि 'हठयोग' यद्यपि अपेक्षाकृत नवीन है, तथापि 'मार्कण्डेय मुनि' सम्भवतः हठयोग से परिचित थे। योग का दूसरा रूप 'हिरण्यगर्भ' द्वारा प्रचारित हुआ जिसे 'राजयोग' कहते हैं और जिसका पल्लवन् पतंजलि के योग शास्त्र मे हुआ। कहा गया है कि हठयोग दो प्रकार का है, एक गोरखनाथ आदि द्वारा प्रचारित तथा द्वितीय मार्कण्डेय आदि द्वारा प्रचारित।[2]

प्रश्न यह है कि जब पतंजलि का राजगयोग प्रचलित था अथवा जैन व बौद्ध साधक भी राजयोग के ही अभ्यासी थे, तब इस हठयोग के प्रचार की आवश्यकता क्या थी ?

राजयोग मे चित्त (मन, बुद्धि अहंकार या अंतः करण) के निरोध का प्रयत्न किया जाता है, चित्तवृत्तियो का सर्वथा दाह ही इसका उद्देश्य है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब से चित्तप्रतियो का प्रवाह चल पड़ता है। इस चित्तवृत्ति के प्रवाह को समाप्त कर शुद्ध चैतन्य मे स्थित हो जाना ही कैवल्य अवस्था है। यह केवल शारीरिक क्रियाओं-यमनियमादि से सम्भव नही है, उसमे ज्ञान की अनिवार्य स्वीकृति है। अतएव हठयोग व मंत्रयोग को इस राजयोग का सोपान

---

१ सम आसपेक्टस आफ द हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ द नाथाज् - सरस्वती भवन सीरीज-जिल्द ६

२ द्विधा हठः स्यादेकस्तु, गोरक्षादिसुसाधितः। अन्यो मृकंडुपुत्राद्यं साधितो हठसंज्ञकः—सम आसपेक्टस आफ द हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ द नाथाज - गोपीनाथ कविराज

माना गया है। पतंजलि के राजयोग में बाह्य शारीरिक क्रियाओं की स्थिति गौण है, 'ध्यान' की स्थिति मुख्य है किन्तु यह सर्वसाधारण के लिए दुष्कर कार्य है अतः हठयोग की आवश्यकता है। मूर्ख भी इसे प्रारम्भ कर सकता है। हठयोग की उन्नति का ऐतिहासिक कारण तान्त्रिकों द्वारा प्रचारित भ्रष्टाचार का विरोध है। वज्रयान, सहजयान, शैव, शाक्त-सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों में प्रवृत्तियों के माध्यम से ही साधना की जाती थी, हठयोग ने इसके विरुद्ध ब्रह्मचर्य को साधना का आधार बनाया, क्योंकि हठयोगी के अनुसार कामवासना को सहायक बनाकर ऊपर उठने में खतरा अधिक है क्योंकि हठयोग में त्याग नहीं है।

बौद्धसिद्ध तथा शैव, शाक्त साधक कुंडलिनी योग की साधना करते थे, यह कुंडलिनीयोग यथावत् हठयोग में स्वीकृत है, जबकि तांत्रिकों द्वारा 'भोग-द्वारयोग' की प्रवृत्ति को उसने पूर्णतः छोड़ दिया, यही तान्त्रिक 'कुंडलिनीयोग' व हठयोग में अन्तर है।

• कुंडलिनीयोग तान्त्रिकों का अपना आविष्कार है। शक्ति व शिव की एकता ही इसका ध्येय है। यह कुंडलिनीयोग पतंजलि के योगशास्त्र में अनुपस्थित है।

योगी हरिहरानन्द आरण्य प्रसिद्ध सांख्याचार्य व योगी थे। इनके अनुसार हठयोग में वर्णित रेचक, पूरक व कुम्भक आदि प्राणायामविधि में तथा पतंजलियोग के प्राणायाम-विधान में भी भिन्नता है[1]। जिस कुम्भक के अन्त में श्वास छोड़ी जाय, वह तान्त्रिक विधि है और जिसमें श्वास लेकर यानी पूरक के बाद कुम्भक किया जाय, यह विधि वैदिक प्राणायाम विधि है।[2]

हठयोग में बलपूर्वक प्राणरोध किया जाता है, मूल बंध, (गुदासंकोचन), उड्डीयानबंध (उदर संकोचन), जालंधरबंध (कंठदेश-संकोचन), से बलपूर्वक वायु रोकी जा सकती है। खेचरीमुद्रा में जिह्वा को खींचकर क्रमशः बढ़ाया जाता है। फिर उसे ब्रह्मतालु में प्रविष्ट कर प्राण-रोध किया जाता है। नाना मुद्रादि क्रियाओं द्वारा हठयोगी शरीर के स्नायु व मांसपेशियों को पुष्ट बनाते

---

१ पातंजलि योगदर्शन-बंगलाभाष्यानुवाद और टीका का हिन्दी अनुवाद-भाष्यकार हरिहरानन्द आरण्य, लखनऊ, पृ० १९४

२ पूरणादि रेचनान्त. प्राणायामस्तु वैदिक।
रेचनादि पूरणान्त. प्राणायामस्तु तान्त्रिक - वही पृ० १९६

है तभी बलपूर्वक प्राण को रोका जा सकता है। आरण्यजी के अनुसार इसमे चित्त निरोध अर्थात् वृत्तियो के पूर्ण लय मे सहायता मिलती है परन्तु उनके अनुसार यह विधि अधिक कठिन है। हठयोग द्वारा रुद्ध प्राण रहने के लिए धौति, वस्ति आदि क्रियाओ से आंतो का मल निकालना पडता है और जल या दूध पीकर रहना पड़ता है। यह सब वैदिक पातंजलयोग मे आवश्यक नही है, वहाँ युक्त साहित्य आहार से काम चल जाता है अतः हठयोग अधिक कष्टकारक और कम फलदायक विधि है।

आरण्यजी के अनुसार वैदिक विधि मे योग साधना मे केवल 'हृदयपुंडरीक' की ही 'धारणा' होती थी, अर्थात् प्राणायाम करते समय हृदयकमल और उसके ऊपर स्थिर 'सौषुम्न ज्योति' का ध्यान किया जाता था और उसमे चित्त को एकाग्र रखा जाता था। इसके बाद षट्चक्र या द्वादशचक्र की धारणा का प्रचलन हुआ।[1] स्पष्ट है कि तान्त्रिको की चक्रधारणा अवैदिक विधि है। "इसमें कुंडलिनी नामक ऊर्ध्वगामिनी ज्योतिर्मय धारा की धारणा की जाती है और क्रमश: चक्र प्रतिचक्र के बाद सहस्रार चक्र मे परमपद प्राप्त किया जाता है; इसे सत्यलोक ब्रह्मलोक भी कहा जाता है।"[2] कविराज जी के अनुसार प्राचीन ऋषि मूलाधार, नाभि, हृदय व भ्रकुटिचक्र से भी परिचित थे, किन्तु वह भी यह मानते हैं कि वैदिक ऋषि 'हृदयग्रन्थि' को अधिक महत्व देते थे जबकि नाथसिद्ध मूलाधार व नाभिचक्र को अधिक महत्व देते है। अतः हठयोगको पातंजलयोग का विकास समझना चाहिए।

वस्तुतः हठयोग मे तान्त्रिक विधि व वैदिक विधियाँ मिल गई हैं। अथर्ववेद मे हम योग का प्रारम्भिक रूप देख चुके हैं। उपनिषदो मे भी इसी योग का विकास दिखाई पडता है। यज्ञवादी आर्यों मे यह योग विधि निश्चित रूप से बाहर से ही आई है अत. जिसे वैदिक योग कहा जाता है, उसका अर्थ है आर्यों द्वारा स्वीकृत योगविधान। पातजलयोग को जो वैदिक कहा जाता है उसका वास्तविक तात्पर्य यही है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि शैव शाक्त व तान्त्रिक बौद्ध अनार्य थे। इसका तात्पर्य यह है कि तान्त्रिक युग (६०० ई० से ६०० ई०) के पूर्व जिस

---

१ पातंजल योगदर्शन : हरिहरानन्द आरण्य पृ० २०६

२ वही, पृ० २११

योग को 'वैदिक' कहा जाता है, उससे भिन्न बहुत सी पद्धतियाँ तांत्रिक युग में विकसित हुई हैं, अतः इन्हें अवैदिक कहा जा सकता है।

हठयोग के अनुसार बिन्दु, वायु तथा मन ये तीनों परस्पर सम्पृक्त हैं, इनमें से एक को वश में कर लेने से शेष भी वश में हो जाते हैं। हठयोगी ब्रह्मचर्य रखकर वायु को वश में करते हैं, अतः आसन, मुद्रा, तथा नादानुसन्धान भी उपाय के रूप में काम में लाए जाते हैं। इस प्रकार हठयोग के चार भाग हो जाते हैं। आसन, प्राणायाम, मुद्रा, और नादानुसन्धान। पातंजलयोग के यमनियम; धारणा, ध्यान आदि भी हठयोग में स्वीकृत हैं।

आसन से शरीर वश में होता है। मुद्रा से कुंडलिनी जाग्रत होती है जो तान्त्रिक उपाय है। नादानुसन्धान से मन शान्त हो जाता है, यह भी तान्त्रिक उपाय है। नादानुसन्धान से वायु सहस्रार में स्थिर की जाती है और तब लययोग सफल होता है। तन्त्रों में वर्णित मनोन्मनी या सहजावस्था प्राप्त हो जाती है। हमारे ऐन्द्रिक जगत् के भीतर विश्वव्यापी नाद व्याप्त है। सुषुम्णा में वायु प्रविष्ट होते ही यह नाद व्यक्त होने लगता है। इसके लिए नाड़ीशोधन अनिवार्य है। कविराज जी के अनुसार नाथों को जड़तत्व के स्तर ज्ञात थे—जाग्रत अवस्था में दृश्यमान जड़तत्व से लेकर संप्रज्ञात या अस्मिता समाधि में दृष्टि तत्व के सभी स्तरों का ज्ञान नाथ साधकों को हो चुका था।[1]

अतः धारण्य जी के इस कथन में साम्प्रदायिकता की गंध आती है कि हठयोग केवल प्राणरोध ही है, हठयोग विकसित साधना है; उसकी पृष्ठिभूमि में वैदिक तांत्रिक सभी विधियाँ स्वीकृत हैं। हठयोग की विशेषता शारीरिक अनुशासन पर बल देने में है। हठयोगी तान्त्रिकों के रतियोग को नहीं मानते। उनका विश्वास है कि आत्मा मन व भूततत्व के बन्धन में है; भूत सत्व में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं। पंचतन्मात्राओं के केन्द्र शरीर में अवस्थित हैं। इन्हीं के नीचे शक्ति दबी रहती है। क्योंकि चेतना जड़ तत्वों में विकसित होकर मन, बुद्धि व इन्द्रियों में बदल जाती है अतः इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय तत्व को नहीं समझ पाती। परन्तु मन जाग्रत होने पर उन्हें समझ सकता है। इसीलिए उसे "दिव्यचक्षु" कहा जाता है।

अशुद्ध मन के समय वायु तिरछी चलती है। वायु की यह वक्रगति ही

---

१ सम आसपेक्टस आफ द हिस्ट्री एन्ड डाक्ट्रिन्स आफ द नाथाज

नाडीचक्र है। सुषुम्णा मे वक्रता नही है। जब भौतिक मन की वृत्तियाँ (चित्तवृत्तियाँ) तथा वायु एक ही बिन्दु पर पहुँच जाती हैं तो दमित आत्म-प्रकाश जग पडता है। यही कुंडलिनी जागरण है।[1] यह जाग्रत आत्मशक्ति सीधी ऊर्ध्वगति पकडती है और अन्त मे परमात्मतत्व मे मिलकर एक हो जाती है। यह चेतना का नाश नही है, विलयन है। इसे एकता भी कहा जा सकता है।

चैतन्य को हठयोगी निर्गुण, सगुण से परे शून्यवादियो की तरह अनिर्वचनीय रूप देते हैं। अतः अद्वैतवाद व द्वैतवाद से परे वे अपने को सर्वातीतवादी कहते हैं। यह सर्वातीत तत्व जड प्रकृति मे छिपा हुआ है, इसे प्रकाशित कर सकना ही योग है। जब शक्ति छिपी रहती है, तब पिंड मे वायु विषम रहती है। मन विषम रहता है, इनका सारा कार्य विषम रहता है। इसे सम करना ही योगी का लक्ष्य है। कभी कभी यह समता आ जाती है तब इसे "संधिक्षण" कहते है। इसी संधिक्षण को बढाते चलना ही पुरुषार्थ है। प्राण दक्षिणधारा व वामधारा ये दो विषम गतियाँ अपनाता है। वामगति सोम व पिंगला मे है, दक्षिणधारा सूर्य व इडा मे। इनसे तटस्थ शक्ति ही पुरुष और प्रकृति है। बिन्दु, वायु व मन की शुद्धि हो जाने पर-क्रिया योग के द्वारा प्राण सुषुम्णा मे दौडने लगता है। तब प्रज्ञा जाग्रत हो जाती है।

पातंजल व तान्त्रिक योग मे पंचभूतो पर धारणा-ध्यान द्वारा विजय वर्णित है। हठयोग मे भी यह स्वीकृत है अतः भूतविजय द्वारा नाथसिद्ध नाना चमत्कार दिखाते थे। नाथसिद्ध शरीर को पाप का मूल मानते हैं। बिन्दु शोधन से यह सिद्ध हो जाता है। नाथो का विश्वास है कि जैसे लोहे को स्वर्ण मे बदलते हैं, वैसे ही इस शरीर को अमरशरीर मे बदला जा सकता है। अतः शैवो का रसेश्वर सम्प्रदाय भी हठयोग मे स्वीकृत है। पारे को शुद्ध करके उसके सेवन से हठयोगी 'कंचनशरीर' प्राप्त करते है। पारे को शिव का वीर्य व अभ्रक को गौरी की रज माना जाता है, शक्ति व शिव के मिलने का सिद्धान्त इस प्रकार रस सिद्धान्त मे भी मिलता है। रसायनाचार्य नागार्जुन से हठयोगी प्रभावित थे फिर भी हठयोगी वायुरोध को ही अमरत्व प्राप्ति के लिये सक्षम मानते हैं।

---

१ गोपीनाथ कविराज

योग को 'वैदिक' कहा जाता है, उससे भिन्न बहुत सी पद्धतियाँ तान्त्रिक युग में विकसित हुई हैं, अतः इन्हें अवैदिक कहा जा सकता है।

हठयोग के अनुसार बिन्दु, वायु तथा मन ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं, इनमें से एक को वश में कर लेने से शेष भी वश में हो जाते हैं। हठयोगी ब्रह्मचर्य रहकर वायु को वश में करते हैं, अतः आसन, मुद्रा, तथा नादानुसन्धान भी उपाय के रूप में काम में लाए जाते हैं। इस प्रकार हठयोग के चार भाग हो जाते हैं। आसन, प्राणायाम, मुद्रा, और नादानुसन्धान। पातञ्जलयोग के यमनियम, धारणा, ध्यान आदि भी हठयोग में स्वीकृत हैं।

आसन से शरीर वश में होता है। मुद्रा से कुण्डलिनी जाग्रत होती है जो तान्त्रिक उपाय है। नादानुसन्धान से मन शान्त हो जाता है, यह भी तान्त्रिक उपाय है। नादानुसन्धान में वायु सहस्रार में स्थिर की जाती है और तब लययोग सफल होता है। तन्त्रों में वर्णित मनोन्मनी या सहजावस्था प्राप्त हो जाती है। हमारे ऐन्द्रिक जगत् के भीतर विश्वव्यापी नाद व्याप्त है। सुषुम्णा में वायु प्रविष्ट होते ही यह नाद व्यक्त होने लगता है। इसके लिए नाड़ीशोधन अनिवार्य है। कविराज जी के अनुसार नाथों को जड़तत्व के स्तर ज्ञात थे—जाग्रत अवस्था में दृश्यमान जड़तत्व से लेकर सम्प्रज्ञात या सस्मिता समाधि में दृष्टि तत्व के सभी स्तरों का ज्ञान नाथ साधकों को हो चुका था।[1]

अत आरण्य जी के इस कथन में साम्प्रदायिकता की गंध आती है कि हठयोग केवल प्राणरोध ही है, हठयोग विकसित साधना है, उसकी पृष्ठभूमि में वैदिक तान्त्रिक सभी विधियाँ स्वीकृत हैं। हठयोग की विशेषता शारीरिक अनुशासन पर बल देने में है। हठयोगी तान्त्रिकों के रतियोग को नहीं मानते। उनका विश्वास है कि आत्मा मन व भूततत्व के बन्धन में है, भूत तत्व में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं। पंचतन्मात्राओं के केन्द्र शरीर में अवस्थित हैं। इन्हीं के नीचे शक्ति दबी रहती है। क्योंकि चेतना जड़ तत्वों में विकसित होकर मन, बुद्धि व इन्द्रियों में बदल जाती है अतः इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय तत्व को नहीं समझ पातीं। परन्तु मन जाग्रत होने पर उन्हें समझ सकता है। इसीलिए उसे "दिव्यचक्षु" कहा जाता है।

अशुद्ध मन के समय वायु तिरछी चलती है। वायु की यह वक्रगति ही

---

१ सम आसपेक्टस आफ द हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन्स आफ द नाथाज

नाडीचक्र है। सुषुम्णा मे बनता नही है। जब भौतिक मन की वृत्तियाँ (चित्तवृत्तियाँ) तथा वायु एक ही बिन्दु पर पहुँच जाती हैं तो दमित आत्म-प्रकाश जग पड़ता है। यही कुंडलिनी जागरण है।[1] यह जाग्रत आत्मशक्ति सीधी ऊर्ध्वगति पकड़ती है और अन्त मे परमात्मतत्व मे मिलकर एक हो जाती है। यह चेतना का नाश नही है, विलयन है। इसे एकता भी कहा जा सकता है।

चैतन्य को हठयोगी निर्गुण, सगुण मे परे शून्यवादियो की तरह अनिर्वचनीय रूप देते है। अतः अद्वैतवाद व द्वैतवाद से परे वे अपने को सर्वातीतवादी कहते हैं। यह सर्वातीत तत्व जड़ प्रकृति मे छिपा हुआ है, इसे प्रकाशित कर सकना ही योग है। जब शक्ति छिपी रहती है, तब पिंड मे वायु विषम रहती है। मन विषम रहता है, इनका सारा कार्य विषम रहता है। इसे सम करना ही योगी का लक्ष्य है। कभी कभी यह समता आ जाती है तब इसे "संधिक्षण" कहते हैं। इसी संधिक्षण को बढाते चलना ही पुरुषार्थ है। प्राण दक्षिणधारा व वामधारा ये दो विषम गतियाँ अपनाता है। वामगति सोम व पिंगला मे है, दक्षिणधारा सूर्य व इडा मे। इनसे तटस्थ शक्ति ही पुरुष और प्रकृति है। बिन्दु, वायु व मन की शुद्धि हो जाने पर-क्रिया योग के द्वारा प्राण सुषुम्णा मे दौड़ने लगता है। तब प्रज्ञा जाग्रत हो जाती है।

पातंजल व तान्त्रिक योग मे पंचभूतो पर धारणा-ध्यान द्वारा विजय वर्णित है। हठयोग मे भी यह स्वीकृत है अतः भूतविजय द्वारा नाथसिद्ध नाना चमत्कार दिखाते थे। नाथसिद्ध शरीर को पाप का मूल मानते हैं। बिन्दु शोधन से यह सिद्ध हो जाता है। नाथो का विश्वास है कि जैसे लोहे को स्वर्ण मे बदलते हैं, वैसे ही इस शरीर को अमरशरीर मे बदला जा सकता है। अतः शैवों का रसेश्वर सम्प्रदाय भी हठयोग मे स्वीकृत है। पारे को शुद्ध करके उसके सेवन से हठयोगी 'कंचनशरीर' प्राप्त करते हैं। पारे को शिव का वीर्य व अभ्रक को गौरी की रज माना जाता है, शक्ति व शिव के मिलने का सिद्धान्त इस प्रकार रस सिद्धान्त मे भी मिलता है। रसायनाचार्य नागार्जुन से हठयोगी प्रभावित थे फिर भी हठयोगी वायुरोध को भी अमरत्व प्राप्ति के लिये सक्षम मानते हैं।

---

१ गोपीनाथ कविराज

योग को 'वैदिक' कहा जाता है, उससे भिन्न बहुत सी पद्धतियाँ तांत्रिक युग में विकसित हुई हैं, अतः इन्हें अवैदिक कहा जा सकता है।

हठयोग के अनुसार बिन्दु, वायु तथा मन ये तीनों परस्पर सम्पृक्त हैं, इनमें से एक को वश में कर लेने से शेष भी वश में हो जाते हैं। हठयोगी ब्रह्मचर्य रहकर वायु को वश में करते हैं, अतः आसन, मुद्रा, तथा नादानुसन्धान भी उपाय के रूप में काम में लाए जाते हैं। इस प्रकार हठयोग के चार भाग हो जाते हैं। आसन, प्राणायाम, मुद्रा, और नादानुसन्धान। पातञ्जलयोग के यमनियम, धारणा, ध्यान आदि भी हठयोग में स्वीकृत हैं।

आसन से शरीर वश में होता है। मुद्रा से कुंडलिनी जाग्रत होती है जो तान्त्रिक उपाय है। नादानुसन्धान से मन शान्त हो जाता है, यह भी तांत्रिक उपाय है। नादानुसन्धान से वायु सहस्रार में स्थिर की जाती है और तब लययोग सफल होता है। तन्त्रों में वर्णित मनोन्मनी या सहजावस्था प्राप्त हो जाती है। हमारे ऐन्द्रिक जगत् के भीतर विश्वव्यापी नाद व्याप्त है। सुषुम्णा में वायु प्रविष्ट होते ही यह नाद व्यक्त होने लगता है। इसके लिए नाडीशोधन अनिवार्य है। कविराज जी के अनुसार नाथों को जडतत्व के स्तर ज्ञात थे—जाग्रत अवस्था में दृश्यमान जडतत्व से लेकर संप्रज्ञात या सस्मिता समाधि में दृष्टि तत्व के सभी स्तरों का ज्ञान नाथ साधकों को हो चुका था।[1]

अत आरण्य जी के इस कथन में साम्प्रदायिकता की गंध आती है कि हठयोग केवल प्राणरोध ही है, हठयोग विकसित साधना है; उसकी पृष्ठिभूमि में वैदिक तांत्रिक सभी विधियाँ स्वीकृत हैं। हठयोग की विशेषता शारीरिक अनुशासन पर बल देने में है। हठयोगी तान्त्रिकों के रतियोग को नहीं मानते। उनका विश्वास है कि आत्मा मन व भूततत्व के बन्धन में है, भूत तत्व में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं। पंचतन्मात्राओं के केन्द्र शरीर में अवस्थित हैं। इन्हीं के नीचे शक्ति दबी रहती है। क्योंकि चेतना जड तत्वों में विकसित होकर मन, बुद्धि व इन्द्रियों में बदल जाती है अतः इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय तत्व को नहीं समझ पाती। परन्तु मन जाग्रत होने पर उन्हें समझ सकता है। इसीलिए उसे "दिव्यचक्षु" कहा जाता है।

अशुद्ध मन के समय वायु तिरछी चलती है। वायु की यह वक्रगति ही

---

१ सम आसपेक्टस आफ द हिस्ट्री एन्ड डाक्ट्रिन्स आफ द नाथाज

नाडीचक्र है। सुषुम्णा मे वक्रता नही है। जब भौतिक मन की वृत्तियाँ (चित्तवृत्तियाँ) तथा वायु एक ही बिन्दु पर पहुँच जाती हैं तो दमित आत्म-प्रकाश जग पडता है। यही कुंडलिनी जागरण है।[1] यह जाग्रत आत्मशक्ति सीधी ऊर्ध्वगति पकड़ती है और अन्त मे परमात्मतत्व मे मिलकर एक हो जाती है। यह चेतना का नाश नही है, विलयन है। इसे एकता भी कहा जा सकता है।

चैतन्य को हठयोगी निर्गुण, सगुण से परे शून्यवादियो की तरह अनिर्वचनीय रूप देते हैं। अतः अद्वैतवाद व द्वैतवाद से परे वे अपने को सर्वातीतवादी कहते हैं। यह सर्वातीत तत्व जड प्रकृति मे छिपा हुआ है, इसे प्रकाशित कर सकना ही योग है। जब शक्ति छिपी रहती है, तब पिंड मे वायु विषम रहती है। मन विषम रहता है, इनका सारा कार्य विषम रहता है। इसे सम करना ही योगी का लक्ष्य है। कभी कभी यह समता आ जाती है तब इसे "संधिक्षण" कहते है। इसी संधिक्षण को बढाते चलना ही पुरुषार्थ है। प्राण दक्षिणधारा व वामधारा ये दो विषम गतियाँ अपनाता है। वामगति सोम व पिंगला मे है, दक्षिणधारा सूर्य व इडा मे। इनसे तटस्थ शक्ति ही पुरुष और प्रकृति है। बिन्दु, वायु व मन की शुद्धि हो जाने पर-क्रिया योग के द्वारा प्राण सुषुम्णा मे दौडने लगता है। तब प्रज्ञा जाग्रत हो जाती है।

पातंजल व तान्त्रिक योग मे पंचभूतो पर धारणा-ध्यान द्वारा विजय वर्णित है। हठयोग में भी यह स्वीकृत है अतः भूतविजय द्वारा नाथसिद्ध नाना चमत्कार दिखाते थे। नाथसिद्ध शरीर को पाप का मूल मानते हैं। बिन्दु शोधन से यह सिद्ध हो जाता है। नाथो का विश्वास है कि जैसे लोहे को स्वर्ण मे बदलते हैं, वैसे ही इस शरीर को अमरशरीर मे बदला जा सकता है। अतः शैवो का रसेश्वर सम्प्रदाय भी हठयोग मे स्वीकृत है। पारे को शुद्ध करके उसके सेवन से हठयोगी 'कंचनशरीर' प्राप्त करते हैं। पारे को शिव का वीर्य व अभ्रक को गौरी की रज माना जाता है, शक्ति व शिव के मिलने का सिद्धान्त इस प्रकार रस सिद्धान्त मे भी मिलता है। रसायनाचार्य नागार्जुन से हठयोगी प्रभावित थे फिर भी हठयोगी वायुरोध को भी अमरत्व प्राप्ति के लिये सक्षम मानते हैं।

---

१ गोपीनाथ कविराज

किन्तु हठयोग का अन्तिम लक्ष्य केवल सिद्धि प्राप्त करना नहीं है, यद्यपि हठयोग इस पक्ष पर बहुत बल देता है, उसका अन्तिम लक्ष्य वैयक्तिक चेतना को महाचेतना में लय कर देना है और यही राजयोग का लक्ष्य है। हठयोग का विश्वास है कि इस अन्तिम स्थिति को केवल 'सिद्धदेह' ही संभाल सकती है और सिद्धदेह बिना हठयोग के प्राप्त हो नहीं सकती।

हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार हठयोग में तत्वज्ञानमयधारणा की जगह वैषयिक धारणा की ही प्रधानता है। तत्वज्ञान की धारणा यह है—'मैं पुरुष हूँ', 'प्रकृति से परे हूँ' आदि। वैषयिक धारणाओं में शब्द तथा ज्योति की धारणा की जाती है। ज्योति धारणा में हृदयस्थित ज्योति की धारणा की जाती है। शब्दधारणा में 'अनाहतनाद' की धारणा प्रधान है। प्राणायामादि से पिंडस्थित नाद सुनाई पड़ते हैं, इनमें शंख, घण्टा, करताल, मेघ आदि नाद है, ये नाना चक्रों में सुने जाते हैं। अन्त में शैवयोगियों की पद्धति पर हठयोगी बिन्दुस्थान तक पहुँचते हैं। सर्वव्यापी नाद का अन्तिम केन्द्र ही बिन्दु है, बिन्दु ही नाद के रूप में चारों ओर फैलता है, अतः योग द्वारा इस अनाहतनाद के ग्रहण कर लेने के बाद बिन्दु तक पहुँचना पड़ता है। बिन्दु के भी परे की स्थिति 'विष्णु का परमपद' कहलाती है। चक्रभेदन के पश्चात सप्तमचक्र या सहस्रार में सत्यलोक या ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, ऐसा भी कहा जाता है। कबीर व राधास्वामी योगी इस सत्यलोक की बहुत चर्चा करते हैं।

स्पष्ट है कि कुण्डलिनी योग में कुण्डलिनी नाम से अभिहित शक्ति की ही धारणा की जाती है, ज्योति या शब्द के रूप में इसका ध्यान करने से शक्ति जाग्रत हो जाती है। इसे 'नादशक्ति' भी कहा गया है।[1] अतः कुण्डलिनी के जाग्रत होने के पश्चात् अनाहतनाद सुनाई पड़ता है। इस 'नाद' के श्रवण में धारणा या ध्यान तथा प्राणायाम ही कारण है। धारणा में चक्रों में नाना देवी, देवता, कमल, लोक, वर्ण आदि का ध्यान किया जाता है। हठयोगी इस ध्यान के साथ-साथ मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध आदि द्वारा पेशी व स्नायु के संकोच द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत करने में अन्य योगियों से अधिक विश्वास करते है। लययोगी नादधारणा पर अधिक बल देते हैं।

नाद आहत व अनाहत दो प्रकार का होता है। जब हम बोलते हैं तो "आहत"

---

१ कला कुण्डलिनी सैव नादशक्तिः शिवोदिता।—हरिहरानन्द, पृ० २११

नाद सुनते है, जबकि योग द्वारा अनाहतनाद सुना जाता है। कुण्डलिनी-केन्द्र मे परावाणी का सूक्ष्म रूप रहता है, यहीं परावाणी जब वैखरी रूप मे व्यक्त होती है, तो 'आहतनाद' कहलाती है, शाक्तयोग मे हम इसका वर्णन कर चुके है। शैव शाक्त योग के नादानुसंधान को यथावत् हठयोग मे स्वीकार कर लिया गया।

अनाहतनाद भी द्विविध है। प्रथम जो दक्षिण श्रवणेन्द्रिय से सुनाई पडता है, द्वितीय सम्पूर्ण शरीर मे धारा-रूप मे ऊर्ध्ववर्ती प्रतीत होता है। द्वितीय नाद-धारा की धारणा से कुंडलिनी शक्ति को मस्तक पर ले जाकर उसे बिन्दु रूप मे परिणत करना पड़ता है। इसीलिए कहा गया है कि नाद ही घनीभूत होकर बिन्दुता को प्राप्त होता है।[1] यह बैन्दव अवस्था देश से परे की स्थिति है। केश के कोटिभाग का एक भाग रूप सूक्ष्म तेज या ज्ञानरूप अंश ही बिन्दु कहलाता है।[2] इस नाद के घनीभूत सूक्ष्म रूप अर्थात् बिन्दु मे मन विलीन हो जाता है, जिस प्रकार दुग्ध मे जल विलीन हो जाता है। तान्त्रिक नाद को शक्ति तथा बिन्दु को शिव कहते हैं क्योंकि नाद बिन्दु का ही आत्मविस्तार मात्र है, कुंडलिनीयोग मे यह 'नादानुसंधान' स्वीकृत है।

इस प्रकार हठयोग मे शैव-शाक्त योग स्वीकृत है। ब्रह्मचर्य व मासपेशियों व स्नायुसंकोचन पर अधिक बल देना ही उसकी अपनी विशेषता है, अन्यथा वह तान्त्रिको का ऋणी है। बौद्धयोग मे भी कुंडलिनीयोग ही स्वीकृत है। हठयोगियो के माध्यम से यही कुंडलिनीयोग सन्त कवियों तक पहुँचा है।

---

१ नाद एव घनीभूतः क्वचिदभ्येता बिन्दुताम् - हरिहरानंद, पृ० २१२
२ केशाग्र कोटिभागैकभागरूप सूक्ष्मतेजोंऽशः - वही

तृतीय अध्याय

सन्त काव्य का विकास और विवरण

ललना, रसना व अवधूती ये तीन नाडिया ही प्रधान हैं—

१	नाडी	ललना	अवधूती	रसना
२	नदी	गगा	सरस्वती	यमुना
३	वायु	प्राण	ऐक्य	अपान
४	शब्द	स्वर	,,	व्यंजन
५	काल	रात्रि	,,	दिवस
६	ज्ञान	ग्राह्य	बोधिचित्	ग्राहक
७	तत्व	करुणा	बोधिचित्	उपाय
८	,,	वीर्य	,,	रज

इस प्रकार वायु, नाडी, स्वर, व्यंजन तथा तत्वो की एकता तथा परस्पर सम्बन्ध पर तान्त्रिक योग बहुत बल देता है। रेचक, पूरक, कुम्भक आदि प्राणायामो से चन्द्र (ललना), सूर्य (रसना), नाडियों की शुद्धि के बाद इन्हें छोडकर मध्यमार्ग (अवधूती) का अवलम्बन करने से प्राणयोग सिद्ध होता है। इस नाडीयोग म चार चक्रो को पार करना पडता है। नाभिस्थान मे निर्माण चक्र है, हृदयस्थान म सम्भोग चक्र, कठ मे धर्म और शीश मे उष्णीश चक्र है। इस प्रकार बौद्ध तन्त्र केवल चार चक्रों को ही मानते हैं। सेकोद्देश्य टीका मे ललाट व उष्णीश म अलग अलग चक्र माने गये ह। उष्णीश ही बिन्दुस्थान है। यहीं मध्य मार्ग द्वारा प्राण को चढाकर रोका जाता है। इसी को धारणा कहते हैं। प्रत्याहार व प्राणायाम दोनो मे ध्यान सम्मिलित है। ध्यान से ही धारणा प्राप्त होती है। 'जप भी साथ-साथ चलता है, इसी को वज्र जप कहा जाता है। वज्र जप की अवस्था म प्राणवायु का ललना व रसना म संचरण निषिद्ध है। प्राणायाम धारणा का उपसाधन है। धारणा के बल से नाभि स्थान मे ज्वलित 'चडाली' (शक्ति-देवी या कुडलिनी) को देखता हुआ योगी बार बार इस महामुद्रा का अनुस्मरण करता है। यही अनुस्मृति है। अर्थात् धारणा के अन्त म चडाली की भावना की जाती है। इस अवस्था मे ज्ञान की अग्नि से स्कन्ध, धातु आयतन आदि दग्ध हो जाते हैं। चडाली की ज्ञान शिखा से ललाट म चन्द्र स्थान म स्थित बोधिचित् बिन्दु रूप म द्रवित होकर कठ, हृदय, नाभि और गुह्यकमल अर्थात् लिंग तक आ जाता है। इसी बिन्दुपात की अनुभूति कराने के लिए मैथुनान्त मे वीर्य-क्षरण का दृष्टान्त दिया गया है। स्पष्ट कहा गया है कि मैथुन जन्य आनन्द मे यह योगज म

बिन्दुपात का आनन्द करोड़ों गुना अधिक होता है। जिस प्रकार तत्व ज्ञानी मैथुनरत होकर वीर्य को इच्छानुसार रोक सकता है, उसी प्रकार प्राणयोग द्वारा बिन्दु को पुन: उष्णीश तक पहुँचाकर योगी 'अक्षर' हो जाता है। योगज आनन्द ही सहजानन्द कहलाता है क्योंकि इन्द्रियों का आनन्द तो क्षणिक या एक क्षण मात्र है।[1]

शून्यता का नाम ही समाधि है। ग्राह्य-ग्राहकभाव रहित चित्त की अवस्था ही शून्यता है।[2] इस साधना में प्रत्याहार आदि से नादानुसंधान द्वारा प्राण को मध्यमार्ग में प्रवाहित कर उष्णीश में बोधिचित् बिन्दु को निरुद्ध कर अक्षर क्षण की साधना की जाती है।

हिन्दू तन्त्रों में कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र में स्थित मानी गई है किन्तु यहाँ शक्ति नाभि में स्थित मानी गई है। प्राणायाम द्वारा यहीं से यह शक्ति दृढ़ रूप से ऊपर उठती है। मध्यनाड़ी में होकर यह शक्ति चक्रों को पार करती हुई मृदु ललित गति से उष्णीश तक पहुँचती है।

समरसावस्था—उष्णीश को भेद कर 'खेचरत्व' प्राप्त होता है अर्थात् चेतना गगनवत् निर्मल हो जाती है और द्वन्द्व मिट जाते हैं। बादलों के समान कल्मष नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में जगत स्वप्नवत् प्रतीत होता है और स्वर्गादि लोक स्पष्ट दीखते हैं। संकल्प मात्र से सृष्टि करने की शक्ति उत्पन्न होती है, महासुख प्राप्त होता है। इसी ज्ञान को 'तथागत' ज्ञान कहा गया है। कम्पनरहित होने से यही ज्ञान 'अक्षोभ्य', सात्विक ज्ञान होने से 'रत्नसम्भव' असंख्यगुण सयोगी होने से 'अमिताभ' तथा बन्धन रहित होने से यह ज्ञान 'अमोघसिद्धि' कहलाता है। इसी तरह सर्वशरीरस्थ होने से 'लोचना' व्यापक होने से 'मामकी', सर्वतारणदक्ष होने से 'तारा', तथा सभी सृष्टि का कारण होने से यह ज्ञान षड्भुज कहलाता है।[3] इस अवस्था में न उच्छेदवाद है, और न शाश्वतवाद है। यह ज्ञान आदि, मध्य व अन्त से वर्जित सर्वातीत ज्ञान है।

सर्वद्वन्द्वों से अतीत होकर[4] चेतना की वास्तविक स्थिति रहती ही प्रकार

---

१ विस्तार के लिए दृष्टव्य-सेकोद्देश्य टीका पृ० ४२
२ वही पृ० ४५
३ ज्ञानसिद्धि-इन्द्रभूति
४ समं असमं शान्तमाविस ध्यान्तवर्जितम्—मदुवयवज्र

दादू आदि भी खसमावस्था मानते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए चक्र, मुद्रा, आनन्द, देवी देवता, क्षण, सिद्धान्त, काया, सत्य, काल, वर्ण, भूत, गुण आदि को परस्पर सम्बन्धित करना पडता है और उनका वास्तविक स्वरूप समझना पडता है। इनका अन्तिम निश्चित विवरण इस प्रकार है।[1]

चक्र	नाभिचक्र	हृदय चक्र	कंठ चक्र	उष्णीश चक्र
देवी	लोचना	मामकी	पाडा	तारा
गुण	करुणा	मैत्री	मुदिता	उपेक्षा
भूत	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु
वर्ण	इ	वम्	म	य
मुद्रा	कर्म	धर्म	महा	समय
काया	निर्माण	धर्म	सम्भोग	सहज
क्षण	विचित्र	विपाक	विमर्द	विलक्षण
अंग	सेवा	उपसेवा	साधना	महासाधना
सत्य	दुःख	दुःख का कारण	दुःख का विनाश	दुःख नाश का उपाय
आनन्द	आनन्द	परमानन्द	विरमानन्द	सहजानन्द
निकाय	स्थविरवाद	सर्वास्तिवाद	संवित्वाद	महासांघिक
प्रहर	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वज्रयान, सहजयान, तथा कालचक्रयान में सभी बौद्ध सम्प्रदायों व सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। कालचक्रयान का प्रतिनिधि ग्रन्थ नारोपा का सेकोद्देश्य टीका ग्रन्थ है।

आदि बुद्ध का सिद्धान्त तथा देव-मंडल—सर्वातीत सत्ता को वज्रयान आदि बुद्ध नाम देता है। इससे पंचध्यानी बुद्धों की अभिव्यक्ति होती है। इस आदि बुद्ध को नारोपा का कालचक्रयान 'काल' कहता है। इसे चक्र भी कहा गया है। और यह कालचक्र भी कहलाता है। पंचध्यानी बुद्धों के मानवीय रूप 'बोधि सत्व' कहलाते हैं। हिन्दू तन्त्रों के अनुसार ही प्रत्येक ध्यानी बुद्ध की अलग अलग शक्तियां दिशाएं, वर्ण, कुल, वाहन, मुद्राएं, तथा बीज मंत्र आदि हैं। इन ध्यानी बुद्धों का ध्यान साधक अभिन्नमुख रूप में ही

---

१ एन इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म

करते हैं। हिन्दुओं के पंचरक्षामंडल देवताओं की तरह बौद्धपंचरक्षा मंडल भी मिलता है। इसमें महासहस्र प्रमर्दिनी, महामायूरी, महासितवती आदि देवियाँ भी हैं। इनके अतिरिक्त गणपति, वज्रहुंकार, भूत, डामर, सरस्वती, अपराजिता, तारा, तारा, नीलसरस्वती आदि की उपासना प्रचलित है।

ध्यानी बुद्ध वैरोचन का सम्बन्ध रूपस्कन्ध, केन्द्र दिशा, श्वेत वर्ण, तारा शक्ति, समन्त भद्र बोधि सत्व, मोह कुल सर्प वाहन, धर्म चक्रमुद्रा, 'अ' बीज, आकाश, शब्द, वायु महाभूत आदि से माना गया है। इसी तरह अक्षोभ ध्यानी बुद्ध का सम्बन्ध विज्ञान स्कन्ध, पूर्व दिशा, नील वर्ण, लोचना शक्ति, वज्रपाणि बोधिसत्व, द्वेष कुल, गज वाहन, भूस्पर्श मुद्रा, हं बीज, आदि से जोड़ा गया है। इसी तरह अन्य तीन ध्यानी बुद्धों की अलग अलग शक्तियाँ वेष, वाहन, मुद्रा और बीजमन्त्र हैं। तात्पर्य यह है कि देवताओं, शक्तियों आदि के नामों के अन्तर को छोड़कर शैव, शाक्त, वैष्णव और तान्त्रिक बौद्धमत की देव उपासना में कोई अन्तर नहीं पाया जाता।

इस बौद्ध देवमण्डल का विकास सातवीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक हुआ है। शैव, शाक्त और वैष्णव आगमों के साथ इसका अद्भुत सादृश्य दिखाई पड़ता है। तान्त्रिक बौद्ध मत में देवता को भी चित्त स्थिति विशेष ही माना गया है।[1]

इन देवताओं और देवियों का ध्यान मन्त्रमंडल, देवता के रूप, वेष अस्त्र शस्त्र आदि के ध्यान द्वारा किया जाता है। यह तान्त्रिक प्रवृत्ति आर्यों की परवर्ती उपनिषदों और परवर्ती वैष्णव मत में भी पूर्णतया सुरक्षित है। इसमें प्रत्येक सम्प्रदाय का अलग अलग देवता है जैसे विष्णु, राम, कृष्ण, हनुमान, महादेव आदि, अलग अलग मन्त्र और उपासनाएँ हैं। इन देवताओं की वैष्णव मत में भी शक्ति सहित ही उपासना की जाती है। इस प्रकार वैष्णव, शैव और तान्त्रिक बौद्ध देव उपासना के बीच एक ही सिद्धान्त काम करता हुआ दिखाई देता है और यह निश्चित रूप से तान्त्रिक सिद्धान्त है जिसमें मन्त्र, मण्डल आदि के द्वारा देवता के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है।

कथन पद्धति—तन्त्र मार्ग रहस्य मार्ग है। रहस्यतत्व का प्रतीकों द्वारा ही व्यंजित किया जा सकता है क्योंकि सत्य भाव व अभाव से परे है अतः भाषा

---

१ सेकोद्देश टीका तथा निष्पन्नयोगावली की भूमिका

द्वारा उसका वर्णन सम्भव नहीं है।[1] भाषा या तो भावात्मक हो सकती है या अभावात्मक। इसीलिए तंत्र प्रतीकों का उपयोग करते हैं। 'शुक्र' को "वैरोचन," "मन" को "वज्रोदक", योनि को 'पद्म', लिंग को 'वज्र' आदि प्रतीकों द्वारा लक्षित किया जाता है।

साधक सामान्य जनों द्वारा गुह्य साधना को दुरुपयोग से बचाने के लिए 'सन्ध्या भाषा' का प्रयोग करते थे। गुह्यमंडलियों में इस प्रकार की कथन पद्धति प्रागैतिहासिक काल से ही चली आ रही है। एक उदाहरण लीजिए—

सप्तमस्य द्वितीयस्यमष्टमस्य चतुर्थकम्।
प्रथमस्य चतुर्थेन, भूषित तत् सबिन्दुकम्॥

अर्थात् सप्तम् वर्ग (अन्तस्थ) का द्वितीय वर्ण है 'र'। अष्टम का चतुर्थ वर्ण है "ह" (ऊष्म), प्रथम का चतुर्थ वर्ण है (स्वर) "ई"। बिन्दु का अर्थ है "म" अतः सरस्वती का बीज मंत्र हुआ "ह्रीं"।[2]

सिद्ध योग-प्रक्रिया को इसी सन्ध्या भाषा में कहते थे। भासुकपाद ने 'प्राणवायु' को चुहिया कहा है। इसी को मारने से 'ज्ञान' की रक्षा होती है। कण्हपाद ने लिखा है कि मैंने सास को मार डाला है, माता को मार कर मैं कपाली होगया हूँ। यहाँ सास प्राण वायु है, माता माया है। अन्यत्र कहा है कि सास के सो जाने पर वधू जाग्रत होती है। सास प्राणवायु है और वधू अवधूतिका है।[3]

लामावाद में अविद्या को 'अंधी ऊँटिनी' कहा गया है। चेतनरहित इच्छा को 'योनि' (सैक्स), पाप को कालाघोघा, पुण्य को श्वेत घोघा, विज्ञान को 'बन्दर', नाम रूप को 'नाडी देखते हुए वैद्य,' षडायतन को 'मुखावरण', स्पर्श को 'चुम्बन', वेदना को 'बाण', तृष्णा को सुरा, उपादान को 'फलों का संग्रह', भाव को 'विवाहित स्त्री', तथा जाति को 'शिशुसहित स्त्री' कहा गया है। जरामरण को 'शव' कहा गया है।[4] श्री वैडेल का मत है कि धर्म के

---

१ स्वभावाद् देवताकाय तस्माद् वक्तु न शक्यते ज्ञानसिद्धि-इन्द्रभूति
२ साधनमाला-भूमिका भाग
३ एन इन्ट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म
४ लामाइज्म-वैडेल, कैम्ब्रिज द्वितीय संस्करण, १६३४ पृ० ११७ तथा संश्लिष्ट सिम्बल्स तथा जादू शीर्षक, अध्याय

लिए प्रतीकवाद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि इस्लाम में चित्र व मूर्ति के बिना भी कार्य चल जाता है अतः प्रतीक कल्पना के पीछे धार्मिक कलाप्रियता है। जो भी हो, यह मानना पड़ता है कि इस बौद्ध प्रतीक-प्रियता ने न केवल रहस्यवादी सिद्ध सन्त साहित्य को जन्म दिया है अपितु स्थापत्य व मूर्तिनिर्माण कला को भी प्रभावित किया है।

तिब्बती मत के कुछ प्रतीक इस प्रकार हैं[1]—

प्रतीकात्मक शब्द	अर्थ
कमल	पवित्रता
रत्न	संघ, बुद्ध, धर्म
स्वस्तिक	जगत प्रवाह
श्वेतहाथी	सार्वभौमिक शक्ति
अश्व	सूर्य रथ का अश्व
हाथी की सूँड	वैभवपूर्ण जीवन व सुरक्षा
तलवार	विजय
दर्पण	मंगल
गजमुक्ता	,,
दधि	,,
दूर्वा	,,
बिल्वफल	,,
शंख	,,
गरुड़	ब्रह्माण्ड
संख्याएँ = ३	काम, रूप, अरूप
४	समुद्र
५	स्कन्ध
७	सप्तर्षि
८	सर्प
९	कुबेर के कोष
१०	दिशा

वज्रयान-सहजयान का महत्व—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्ध

---

१ लामाइज़्म

तन्त्रमार्ग अत्यधिक रहस्यमय और गम्भीर है। मनुष्य के मन में अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, मन व प्राणवायु के शासन में सब कुछ प्राप्त हो सकता है, तन्त्रों का यही सदेश है।

इसके अतिरिक्त बौद्धतन्त्र भोग व योग की एकमात्र शिक्षा देते हैं। शैव—गाना में भी यही क्रम है। देवताओं की भक्ति व पूजा भी तन्त्रों से ही विकसित हुई है, यह भी इस अध्ययन से स्पष्ट है। परन्तु तन्त्रों में सम्भोग द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की पद्धति विचित्र है। बाह्य नैतिकता की चिन्ता न करके साहसी सिद्धों ने इसका अभ्यास किया था। भोग को उपाय के रूप में स्वीकार कर बौद्ध तन्त्रों ने यद्यपि बौद्ध धर्म के पतन के लिए मार्ग खोल दिया था परन्तु सहजजीवन को भी तान्त्रिकों ने ही पुन प्रतिष्ठित किया। सन्यासियों के विरुद्ध इन रागमार्गियों ने 'राग' को ही मुक्ति का साधन घोषित किया। और प्रत्येक व्यक्ति का, अधिकारी भेद के अनुसार, उसकी रुचि और इच्छा को देखकर, देवता या देवी के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड दिया। देवता या देवी के साथ तादात्म्य और एकता स्थापित करना ही समाज का मुख्य धर्म हो गया जिसमें सामान्य लोग पत्र, पुष्प, भोजन, वस्त्र, धन आदि द्वारा देवता को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते थे, ध्यान या जप करते थे। वे मंदिरों में जाकर देवताओं की प्रार्थनाएँ करते थे और देवता की शरण में अपने सुखों और दु खों का निवेदन करते थे। यही प्रवृत्ति हिन्दू धर्म में भी मुख्य होती गई और ईश्वर को मानवीय भावनाओं का विषय बनाया गया तथा साथ ही गुह्य समाजों के रूप में तान्त्रिक रति-क्रिया मास मदिरादि के द्वारा गुह्य योग का भी अभ्यास करते रहे। सर्व साधारण के लिए वर्ग, वर्ण, जाति आदि बाहरी बातों पर ध्यान न देकर बौद्ध तन्त्रों ने सरलतम साधना का प्रचार किया और सामान्य गृहस्थ जीवन को अत्यधिक गौरव दिया। यह स्मरणीय है कि गुह्य योग का अधिकार केवल चुने हुए लोगों को ही दिया जाता था, सामान्य जनता के लिए तान्त्रिकों ने उपासनापरक धर्म पर ही विशेष बल दिया है जिसमें मनुष्य के राग और भाव के उपयोग पर विशेष बल दिया गया है। मन किस प्रकार स्थिर हो, इसके लिए मन को आकर्षक लगने वाली वस्तुओं को ही उपाय के रूप में तान्त्रिकों ने स्वीकार किया। जिसमें बन्धन है उसी से मुक्ति होनी चाहिए क्योंकि विष से विष का नाश होता है, यह उनका तर्क है। मैल से ही मैल छूटता है, जो लोहा समुद्र में डूब जाता है, उसी से नाव बना कर पार हो जाते हैं, अत ज्ञान द्वारा भोग मुक्तिदाता है, यह तन्त्रों का

विश्वास है। तन्त्र कहते हैं कि क्रिया या वस्तु अपने में न हानिकारक है और न गुणकारक। उसका वैज्ञानिक प्रयोग ही गुणकारक होता है और गलत प्रयोग नाशक होता है। आँवला खट्टा है परन्तु दूध में मिला देने पर मीठा हो जाता है। रूप व द्रव्यों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अतः वे न नाशक हैं न लाभकर। हमारा कल्याण उनके विशिष्ट प्रयोग पर निर्भर है। अतः वासना मनुष्य को ऊपर भी उठा सकती है, यदि प्रज्ञा और उपाय से वह संयुक्त हो जाय। पारमार्थिक दृष्टिकोण से रूप, द्रव्य, वासनादि सब मिथ्या हैं, परन्तु जैसे सर्प-दंश जादूगर की मिथ्या-क्रिया द्वारा ठीक हो जाता है वैसे ही क्रिया मिथ्या होने पर भी मुक्तिदायिनी हो सकती है। जगत् को मिथ्या समझ कर उसे मानसिक विकास में सहायक बनाया जा सकता है। उसे वास्तविक मानकर हम उसी में उलझे रहते हैं। शैव, शाक्त, बौद्ध-तंत्रों ने इस रागमार्ग का तथा कुण्डलिनी योग का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

तांत्रिक-बौद्धमत का रूपान्तरण—आठवीं शताब्दी से लेकर बंगाल पर मुसलमानी आक्रमण के पूर्व तक तांत्रिक बौद्धमत का प्रचार अधिकाधिक बढ़ता गया। तुलनात्मक दृष्टि से बंगाल, बिहार प्रान्त में इस मत के अधिक प्रबल केन्द्र थे जहाँ से वे सारे भारतीय मानस को प्रभावित करते थे।

यद्यपि फाहियान के यात्रा-विवरण में नालन्दा विश्वविद्यालय का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु वसुबन्धु नालन्दा में अध्यापक था। वसुबन्धु का समय श्री कर्न के अनुसार पाँचवीं शताब्दी है,[1] इसका तात्पर्य यह है कि नालन्दा का फाहियान में भले ही उल्लेख न मिलता हो परन्तु नालन्दा विश्व-विद्यालय का निर्माण गुप्त सम्राटों के समय हो चुका था। दक्षिण के धान्यकूट के पश्चात् नालन्दा तांत्रिक बौद्धमत के आचार्यों का केन्द्र रहा है। शांतिदेव (७ वीं शताब्दी), तथा सरहपाद (७ वीं शताब्दी), नालन्दा में आचार्य पद पर रहे थे। बंगाल के पालवंश के राजा धर्मपाल प्रथम ने विक्रमशील विश्वविद्यालय की स्थापना की। महिपाल प्रथम तथा न्यायपाल (दसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से ११ वीं शताब्दी के मध्य भाग तक) के समय में तांत्रिक बौद्धमत अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था (दीपंकर विक्रमशील वि० वि० का प्रधानाचार्य) अद्वयवज्र, तथा नारोपा जैसे प्रसिद्ध आचार्य इसी युग में हुए। सहजयान व कालचक्रयान की गम्भीर

---

१ मैनुअल आफ इण्डियन बुद्धिज्म, प्रथम भाग, एच० कर्न, स्ट्रेसबर्ग, १८९६

विचारधारा तथा तान्त्रिक बौद्ध देवमण्डल का विकास अपने चरम शिखर पर इस युग में पहुँचा। नालन्दा, विक्रमशील तथा ओदन्तपुरी तंत्र-साधना के प्रधान स्तम्भ थे।

ह्वानच्वांग के अनुसार सप्तमी शताब्दी में बंगाल में १० सहस्र संघाराम थे। श्री हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार १० लाख बौद्ध परिवार बंगाल में रहते थे। १२ वीं शताब्दी तक ब्राह्मण व जैन प्रभाव बंगाल में बहुत कम था, बौद्ध प्रभाव बहुत अधिक था। बौद्ध संघ दृढ व शक्तिशाली थे। बौद्ध पुरोहित धारणी रचते, बोधिसत्वों की पूजा करते और मृत्यु व विवाहादि के कृत्य कराते थे। प्रत्येक कृत्य मन्त्र से सम्पन्न होता था। १२ वीं शताब्दी में बल्लालसेन ने जन-गणना कराई थी, इसमें केवल ८०० परिवार ब्राह्मणों के मिले थे। इस प्रकार मुसलमानों के आने के पूर्व पूर्वी भारत में बौद्ध प्रभाव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। बंगाल की तीन-चौथाई आबादी बौद्ध हो चुकी थी, बौद्धों ने तान्त्रिक बौद्ध मत को इतने सरल रूप में प्रस्तुत किया था कि बिना ज्ञान के ही धारणी मन्त्रों के जाप से, अथवा बोधिसत्वों की पूजा व ध्यान से सब कुछ प्राप्त हो सकता था। धनी वर्ग के लिए बौद्ध पुरोहित धन लेकर मंत्र जपते थे और फल धनदाता को होता था। सारा समाज अत्यधिक सरल धर्म और आचारों के द्वारा इस जीवन में भुक्ति और मृत्यु के बाद मुक्ति की प्राप्ति सम्भव समझता था किन्तु इस युग में तान्त्रिक बौद्धमत क्रिया प्रधान (सैक्रामैंटल) होता गया। शिक्षित बौद्ध वर्ग इन क्रियाओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि से परिचित होने के लिए नालन्दा, विक्रमशील व ओदन्तपुरी में जाते थे परन्तु सामान्य जनता मंत्र जप, देवमूर्ति पूजा, गुरुसेवा, ध्यान तथा धार्मिक कृत्यों तक ही सीमित थी। गुह्य साधकों में वामाचार का प्रचार था। स्वयं विश्वविद्यालयों में भी वामाचार प्रधान बौद्ध साधना का अभ्यास बढ रहा था। नाना देवताओं और देवियों का आविष्कार और अनेकानेक रहस्यमय अनुभवों व उपलब्धियों का विस्तार इन विश्वविद्यालयों द्वारा हुआ है। संघों में भिक्षु अविवाहित रहते थे परन्तु वज्रयान के प्रभाव स्वरूप संघ के बाहर के साधक विवाह करते थे, किन्तु वे उसे विवाह नहीं कहते थे, 'शक्ति ले रहा हूँ' विवाह में स्त्री के लिए ये शब्द कहे जाते थे।[1]

---

१ माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फॉलोअर्स इन उडीसा—एन० एन० वसु, कलकत्ता १९११

३

पांचरात्र तांत्रिक मत

तान्त्रिक दर्शन एव साधना के इतिहास मे पाचरात्र मत का स्थान महत्व-पूर्ण है इस मत की २१० से भी अधिक सहिताएँ प्राप्त होती है । इन सहिताओ का समय अनिश्चित है किन्तु श्रेडर के अनुसार पौष्कर, सात्वत, जयाख्य, वाराह, ब्रह्म, पारमेश्वर, सनत्कुमार, परम, पद्मोद्भव, माहेन्द्र, काण्व, पद्म ईश्वर तथा अहिर्बुध्न्य सहिताएँ आठवी शताब्दी के पूर्व तक अवश्य निर्मित हो गई थी ।[1] अन्य सहिताएँ आठवी शताब्दी के बाद भी लिखी जाती रही । नारद पाचरात्र की भी इन्ही परवर्ती सहिताओ म गणना होनी चाहिए ।

अहिर्बुध्न्य सहिता का निर्माण काश्मीर मे हुआ था । इससे यह भी पता चलता है कि पाचरात्र आगम के साथ शैवों का घनिष्ठ सम्बन्ध था ।

इस मत का सम्बन्ध पुरुषसूक्त (ऋग्वेद) तथा शतपथ ब्राह्मण म वर्णित नारायण पाचरात्र नामक यज्ञ से जोडा जाता है ।[2] शतपथ में पाचरात्र शब्द

१ इन्ट्रोडक्शन टू द पाचरात्र एंड द अहिर्बुध्न्य सहिता—एफ० ओ० श्रेडर आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९१६ ।

२ शतपथ—१३—६—१

कालचक्रयान द्वारा इस युग में योग, भक्ति और क्रिया के अतिरिक्त भूत, प्रेत, राक्षस आदि पूजा को भी अधिक बल मिला। भयंकर देवों की उपासना भयंकर कृत्यों द्वारा होने लगी। १३ वीं शताब्दी में 'जगनला' नामक बौद्ध विहार में कालचक्रयान के आचार्य बहुत प्रसिद्ध थे।[1]

शैवों व बौद्धों से प्रभावित नाथपंथ का भी दसवीं शताब्दी से आसपास विशेष प्रचार हुआ। मच्छन्दरनाथ नेपाल में अवलोकितेश्वर के समान पूजित हैं परन्तु नाथपंथ वज्रयानी सम्भोग-साधना के विरुद्ध शुद्धहठयोगी थे, अतः बौद्ध लोग नाथों को अपने सम्प्रदाय से पृथक मानते थे।

इस प्रकार बंगाल में बारहवीं शताब्दी में धार्मिक दृष्टि से यह परिस्थिति थी—

१ ब्राह्मणधर्म—८०० परिवार (लगभग)

२ महायानधर्म—उच्चस्तर के भिक्षुओं में प्रचलित।

३ वज्रयान—मध्य वर्ग का धर्म तथा विवाहित बौद्धों का धर्म।

४ नाथ मत—नाथपंथी जनता तथा बौद्ध जनता।

५ सहजियामत—निम्नवर्ग द्वारा स्वीकृत धर्म।

६ कालचक्रयान—निम्नतम वर्ग में प्रचलित।

बंगाल में जब धर्मों की यह स्थिति थी तभी मुसलमानों का आक्रमण हुआ। ये भारतीयों को हिन्दू या ब्राह्मण कहते थे अतः ब्राह्मणों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्धों का अस्तित्व प्रमाणित किया। फलतः सघ छिन्नभिन्न हो जाने पर या तो बौद्ध लोग मुसलमान होगये अथवा निम्न हिन्दू जाति में मिल गए, परन्तु इनके विचार व आचारों में बौद्ध प्रभाव सर्वदा बना रहा। नाथपंथियों की भी यही दशा हुई। चूँकि मुसलमानों के पूर्व बौद्ध अपने को स्वतन्त्र धर्म या जाति के रूप में मानते थे, अतः मुसलमानमत या निम्न हिन्दूजातियों को स्वीकार कर लेने पर भी इन्होंने अपने को कबीर की ही तरह 'न हिन्दू न मुसलमान' कहा। नाथ भी अपने को अलग मानते रहे। चूँकि बौद्ध परम्परा द्वारा इन्हें योग व रहस्य साधनाएँ प्राप्त हुई थी तथा आचारवाद, ब्राह्मण पौरोहित्य तथा वर्ण व्यवस्था आदि का यह खण्डन करते चले आ रहे थे, अतः ये सब प्रवृत्तियाँ यवन-आक्रमण के पश्चात् भारतीय निम्न जातियों के सन्तों व

---

१ माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फौलोअर्स इन उड़ीसा-एन० एन० बसु, कलकत्ता १९११

नाथपन्थियों में आज तक मिलती है। यद्यपि इन सन्तों पर हिन्दू पातंजल योग, शैव योग तथा वेदान्त का भी प्रभाव मिलता है। परन्तु बौद्ध प्रवृत्तियाँ उनमें बिल्कुल स्पष्ट हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि बौद्ध धर्म का इस देश से सहसा ही निष्कासन हो गया, यह कहना अधिक समीचीन होगा कि बौद्धमत, तांत्रिक बौद्धमत, नाथमत, सन्तमत तथा वैष्णव मतों का रूप धारण करके भारतीय समाज में मिल गया है।

बंगाल में कैवर्त, योगी, धर्मधारिया योगी, धर्मदेवता के उपासक, वर, अनाचरणीय कहलाने वाली जातियाँ, सुनार, बढई, चित्रकार, वैश्य, कायस्थ आदि जातियाँ प्रथम बौद्ध थीं। नेपाल के वैश्य, सुनार, बढई, चित्रकार आदि विवाहित बौद्धों की सन्तानें हैं। यवनों के आगमन के पूर्व ब्राह्मण व बौद्ध दो ही जातिवर्ग थे परन्तु यवनों के बाद बौद्धों को भी ब्राह्मणों द्वारा निर्मित वर्ण व्यवस्था में सम्मिलित होना पड़ा। अतः बहुत सी जातियों ने ब्राह्मणों के 'वर्णसंकर' के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया, और वे अपने मूल उद्गम को भूल गईं।[1]

नेपाल में सारे धर्म दो भागों में बँट जाते हैं—प्रथम, बौद्ध गुरु पूजक है और द्वितीय, ब्राह्मण देवता पूजक। किन्तु नेपाल से कहीं अधिक मिश्रण मैदानी भागों में हुआ। अतः यवनों के आक्रमण के पश्चात् की शताब्दियों में हिन्दू धर्म में गुरुवाद व देवतावाद घुलमिल गया। सन्तों में यह गुरुवाद स्पष्ट दिखाई पड़ता है क्योंकि उन पर बौद्धप्रभाव सबसे अधिक है। वैष्णवों में भी गुरुवाद कम नहीं है। यह स्पष्ट तांत्रिक प्रभाव है। वेदवादी ब्राह्मणवर्ग तांत्रिक परम्परा से प्रभावित नहीं हुआ परन्तु चैतन्यमत के गोस्वामी और भक्तों को श्री हरप्रसाद शास्त्री 'गुरुवादी' मानते हैं।[2]

महाराष्ट्र का 'विठोबा देवता' तथा पुरी के जगन्नाथ पर बौद्ध प्रभाव सभी मानते हैं।[3] इसी तरह धर्म सम्प्रदाय, सहज या वैष्णव मत, नाथमत, तथा बंगाल के सराकी तांतिस लोग बौद्धों से प्रभावित हैं। 'सराकी' स्पष्टतः श्रावक का अपभ्रंश है।

११ वीं शताब्दी में बौद्धमार्ग प्रवृत्तिमार्ग व निवृत्तिमार्ग दो भागों में

---

१ मौडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उडीसा - भूमिका भाग
२ वही
३ वही

यज्ञ विशेष के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। महाभारत के शान्तिपर्व म श्वेत दीप की कथा है जहाँ नारद को भक्ति का उपदेश नारायण से मिला। संभवत: श्वेत दीप से उत्तरीय पर्वत प्रदेश संकेतित है, क्योंकि पाचरात्र आगमो का निर्माण सर्व प्रथम उत्तरी भारत मे ही हुआ है।[1] निश्चित रूप स पाचरात्र तत्रो का निर्माण मूल महाभारत के बाद हुआ है। पाचरात्र तत्रो म जिस आचार का वर्णन मिलता है वह वर्तमान रूप मे प्राप्त महाभारत मे भी नही मिलता। एसा प्रतीत होता है कि महाभारत के दीर्घ निर्माणकाल (८०० ई० पू० म ४००ई०पश्चात् तक) के समानान्तर पाचरात्र सहिताओ की रचना होती रही है।

पाचरात्र मत अवैदिक तत्वो से युक्त है। इसीलिए इसकी स्मृतियो मे निन्दा की गई है।[2] सात्वत शब्द का अर्थ ही निम्न जाति है।[3] व्यवसाय की दृष्टि से सात्वत लोग मूर्ति पर चढा हुई भेंट, दीक्षा व दान पर निर्भर रहते थे। वे वैदिक यज्ञ नही करते थ। डा० एस० एन० दास गुप्त का अनुमान है कि वादरायण ने इसीलिए पाचरात्रो का खडन किया है।[4]

यामुनाचार्य न "आगम प्रामाण्य" म कापालिक, कालामुख और पाशुपत मतो को अवैदिक तथा पाचरात्र मत को वैदिक सिद्ध किया है। उनके अनुसार यह मत उन भक्तो के लिए है जो वैदिक यज्ञो के झगडो से दूर रहना चाहते थे।[5] किन्तु यामुनाचार्य क इस प्रयत्न से ही स्पष्ट है कि यह मत अवैदिक था। डा० दास गुप्त के अनुसार पाचरात्र पूजा-पद्धति भी अवैदिक है। यह पद्धति छठवी शताब्दी मे ही प्रचलित होगई थी किन्तु इसका उन्होंने प्रमाण नहा दिया है फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी मे यह मत अच्छी स्थिति म था जैसा कि वेसनगर के स्तम्भ स प्रमाणित होता है।

पुराणो म पाँचरात्र मत क अनेक सिद्धान्त मिलते है किन्तु वहा जहा उनकी निंदा भी की गई है। कूर्मपुराण म कापालिक, गारुण, शाक्त, भैरव,

---

१ श्रेडर, पृ० १६
२ ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी—डा० एस० एन० दास गुप्ता, जिल्द ३, पृ० १५, कैम्ब्रिज, १६४०
३ वही
४ वही
५ वही पृ० १७

पाचरात्र तथा पाशुपत मत की निन्दा की गई है।[1] स्कन्द पुराण म भी पाचरात्र मत मे दीक्षित द्विज को गर्हित कहा गया है।[2] किन्तु इसके विपरीत श्रीमद्भागवत, महाभारत, विष्णुपुराण, नारदीय, पद्म, वाराह आदिपुराणो म इसे सात्विकपुराणमत कहा गया है।[3]

पाचरात्र शब्द का अर्थ तत्व, मुक्तिप्रद, भक्तिप्रद, यौगिक तथा वैशेपिक—यह पांच प्रकार का ज्ञान है। रात्र शब्द का अर्थ ज्ञान है। तत्व का अर्थ सृष्टि की उत्पत्ति है। मुक्ति खड म आवागमन से मुक्ति का वर्णन हे। भक्ति और योग उपायो के रूप म स्वीकृत है। वैशेपिक मे इन्द्रिया के विपया का वर्णन है। नारद पाँचरात्र मे 'रात्र' शब्द का अर्थ है **"किस प्रकार हमे ज्ञात नहीं।"** आजकल पाचरात्र शब्द से वैष्णव सम्प्रदाय का अर्थ लिया जाता है।

पाचरात्र तत्रो म दर्शन, मत्र, यत्र, माया, योग, मदिरनिर्माण, प्रतिष्ठा-विधि, सस्कार, वर्णाश्रमधर्म, तथा उत्सव इन दस विपया का वर्णन है। भक्ति के साथ वैष्णव तन्त्रो म इस प्रकार योग, मत्र, यत्र आदि को स्वीकार किया गया है।

अहिर्बुध्न्य सहिता म दुर्वासा कहते ह कि यह तत्र नारद को अहिर्बुध्न्य अर्थात् रुद्र से प्राप्त हुआ था। ग्यारह रुद्रा मे अहि० सात्विक रुद्र माने गए। इस कथा से भी स्पष्ट है कि प्रारम्भ म वैष्णव मत शैव धर्म के साथ सम्पृक्त था।

दर्शन—सिद्धान्ता की दृष्टि स अहि० सहिता सबस अधिक महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार ब्रह्म मन और वाणी स पर है किन्तु उसका सगुण रूप भी स्वीकार किया गया है। क्योकि ब्रह्म सर्व शक्तिमान है, अत यह अनन्त शक्तिया के द्वारा साकार रूप भी धारण कर सकता है। हिरण्यगर्भ, वासुदेव, शिव आदि उसी के नाम ह।[4]

शक्ति का अर्थ जगत् की उत्पत्ति व प्रलय करने का सामर्थ्य किया गया

---

१ ए हिस्ट्री आफ इडियन फिलोसफी-डा० एस० एन० दास गुप्ता, जिल्द ३, पृ० १६, कैम्ब्रिज, १६४०
२ वही पृ० १६
३ वही पृ० २०
४ अहि० सहिता—एम० डी० रामानुजाचार्य द्वारा सम्पा० जिल्द १, पृ० १२ अडयार लाइब्रेरी, मद्रास, १६१६

है। इसी प्रकार ऐश्वर्य का अर्थ है—स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने की शक्ति। बल का अर्थ है जगत की रचना करते हुए भी श्रमान्त न होना।

उपादान कारण होने पर भी ब्रह्म का विकार से रहित रहना वीर्य है। तेज का अर्थ है कि किसी की सहायता के बिना ही ब्रह्म सृष्टि रचने में समर्थ है। इस प्रकार ब्रह्म अपने गुणों द्वारा जगत् का उपादान होकर भी विकार से रहित रहता है। स्पष्टतः यह शक्तिवादी सिद्धान्त है, शैव जिसे स्वच्छन्द शक्ति कहते हैं, पाचरात्र उसी को सामर्थ्य कहते हैं।

शक्तिवाद—जिस शक्ति से पाचरात्रमत ब्रह्म को सारे कार्यों का कर्त्ता और उपादान कारण बनाकर भी उसे अविकारी रखता है, उसका स्वरूप क्या है।

शक्ति अवर्णनीय है, अचिन्त्या है, ब्रह्म से उसकी अप्रथक स्थिति है। उसे स्वरूपत. नही देखा जा सकता किन्तु शक्ति जब कार्यरत होती है तब उसका जाना जा सकता है। वह सूक्ष्मा है, सारे पदार्थों मे व्याप्त है, वह 'यह है', "यह नही है"[1]—ऐसा कुछ नही कहा जा सकता। वह ब्रह्म के साथ उसी प्रकार एकाकार है जिस प्रकार चन्द्रमा मे ज्योत्स्ना। जयाख्यसहिता मे ब्रह्म को सूर्य और शक्ति को रश्मि तथा ब्रह्म का अग्नि व शक्ति को स्फुलिंग और ब्रह्म को अम्बुधि तथा शक्ति को ऊर्म्मि कहा गया है।[2]

यह शक्ति स्वच्छन्द शक्ति है, इसका प्रस्फुरण ही जगत् है। यह उदित और अस्त होने वाली तथा निमेष और उन्मेषशालिनी है।[3] यह शक्ति निर्लेप है, आनन्दमया है तथा नित्यपूर्णा है। आत्मभित्ति पर अपना ही उन्मीलन कर यह शक्ति जगत् के रूप मे परिणत होती है और उससे परे भी रहती है। जगत् को देखकर शक्ति लक्षित होती है, अतः वह लक्ष्मी है, विष्णुभाव का आश्रय लेने के कारण वह श्री है। काम (इच्छा) पूर्ण करने से

१ शक्तय सर्वभावानामचिन्त्या अप्रथक्स्थिता।
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ता।
सूक्ष्मावस्था हि सा तेषा सर्वभावानुगामिनी।
इदन्तया विधातु सा न निषेद्धुं च शक्यते—
सर्वभावानुगा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधिते अहि० पृ० २०, जिल्द १

२ जयाख्य सहिता - ६-७८

३ अहि० पृ० २१

यह अवस्था तुर्कों से पहले भी थी, यह स्मरणीय है। तुर्क काल मे ब्राह्मण दस भागो मे बँट गये, उनमे परस्पर सम्बन्ध और भोजनादि भी बन्द हो गए। क्षत्रिय, वैश्यो व शूद्रो मे भी परस्पर वर्जन और सकीर्णता बढ़ी। क्षत्रियो मे ३६ कुल माने गए। वैश्यों मे १०० से अधिक जातियां बन गईं और शूद्रो में भी अनेक जातियो की रचना हो गई। तुर्क काल मे अस्पृश्यता अधिक बढी। इससे सम्बन्धित अनेक उल्लेख धर्मशास्त्रों मे मिलते हैं। केवट, आखेटक, व्याध, कसाई, रजक, म्लेच्छ (मुसलमान) आदि ही नही, अलबरूनी के अनुसार मध्ययुग मे धोबी, चमार, जादूगर, डोम, केवट, मल्लाह, पासी तथा जुलाहो को भी अस्पृश्य माना गया था। जुलाहे आदि गाँवो व नगरो के बाहर बसते थे।[१]

वर्ण-व्यवस्थापको ने रक्षात्मक प्रवृत्ति के कारण ही सही, परन्तु ये नियम कठोर अवश्य किए, फलत ये नियम सामाजिक सम्मिलन मे बाधक होते रहे। राजबली पाण्डेय जैसे लेखक भी स्वीकार करते हैं कि वर्णव्यवस्था मध्ययुग मे विकृत हो गई थी।[२]

हिन्दुओ मे ही नही, मुसलमानो मे भी आर्थिक और सामाजिक विषमता थी। यद्यपि इस्लाम मे चातुर्वर्ण व्यवस्था नही थी, फिर भी उनमे आपस मे शेख, सैयद, मुगल, पठान जैसे भेदभाव थे, क्योंकि मुसलमानो मे भिन्न-भिन्न उत्पत्तियो के लोग थे जो आपस म लडते थे फिर नवमुस्लिमो के साथ खान-पान हो जाने पर भी विवाह सम्बन्ध नही होते थे और उनके प्रति शासकवर्ग का दृष्टिकोण कठोर था। अत नवमुस्लिम मध्यकालीन इतिहास मे एक समस्या बन गए, उन्हे हिन्दूमत या इस्लाम कोई नही अपनाता था, यही कारण है कि जुलाहा कबीर दोनो के प्रति कठोर रुख अपनाते हैं और अपने को "ना हिन्दू ना मुसलमान" कहते है। ये कबीर जैसे नवमुस्लिम सभवत हठ-योगियो के अवशेष थे, इसलिए सामाजिक विषमता की आलोचना उन्हे विरासत मे मिली थी।[3] मुसलमान बन जाने पर इस्लाम द्वारा भी उपेक्षा पाकर नव-मुस्लिमो से कबीर, यारी, दरिया, रज्जब जैसे व्यक्तित्व आये और इन्होने योग

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १११
२ वही पृ० ११२
३ कबीर—हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १०

के द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था तथा इस्लाम के वैषम्यमूलक व्यवहार की कठोर आलोचना की। भारतवर्ष में योगियों ने हमेशा वर्णाश्रम प्रथा की आलोचना की है। गौतम बुद्ध और महावीर ही नहीं, अन्य नास्तिक सम्प्रदायों में भी योग ही स्वीकृत था। भक्ति ने भी उदारता लाने में बहुत काम किया है किन्तु योगियों जैसा ओज और क्रान्तिकारिता भक्तों में नहीं मिलती।

इस्लाम के आने पर अब विराट यज्ञों का आयोजन सम्भव नहीं था। आक्रान्ता मुसलमान एकेश्वरवादी थे अतः योगियों और वेदान्तियों के अद्वैतवाद को ही कबीर आदि ने स्वीकार किया परन्तु वेदान्तियों की शब्दावली अपनाने को संत तैयार नहीं थे क्योंकि वेदान्ती वैदिक संस्कारों तथा वर्णाश्रम व्यवस्था के भी प्रबल प्रचारक थे अतः कबीर आदि सन्तों ने बौद्ध-सिद्धों व नाथपंथियों की अभिव्यंजना पद्धति अपनाई है, जिसमें सत्य को न भाव कहा जा सकता है, न अभाव' न उसे निर्गुण कह सकते हैं, न सगुण। परम्परावादी हिन्दुओं का ब्रह्म या तो सगुण था या निर्गुण परन्तु कबीर दादू आदि सन्तों ने अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए उसे 'निर्गुण-सगुण' से भी ऊपर प्रतिष्ठित किया और परम्परावादियों द्वारा कल्पित दिव्यलोकों की जगह नए लोक व लोकपतियों की कल्पना की। इस प्रकार संतकवि अपनी विशिष्टता प्रदर्शन करते हैं और इस विशिष्टता के सृजन की प्रेरणा उन्हें सामाजिक वैषम्य व भेदभाव के विरोध में मिला करती थी, उसी प्रकार, जिस प्रकार तान्त्रिकों को अपनी विशिष्टता के सृजन की प्रेरणा वैदिकतावाद के विरोध में मिलती थी।

इस्लाम के आगमन के बाद अद्वैतवाद, योग व भक्ति का प्रचार बढ़ता है। क्षितिमोहनसेन ने लिखा है कि आर्य आचारवादी तथा ज्ञानी थे और भक्ति द्राविडी थी अर्थात् वह अनार्य स्रोतों से आई थी।[1] मध्य युग में वैष्णवों और वेदान्तियों में ज्ञान व भक्ति का मिश्रण दिखाई पड़ता है किन्तु सामाजिक विधि निषेध को ये लोग भक्ति के क्षेत्र में न मानकर भी सामान्य व्यावहारिक जीवन के लिए अनिवार्य मानते थे जबकि सन्त ज्ञान, भक्ति व योग को अपनाकर भी सामाजिक एकता के पूर्ण समर्थक व भेदभाव के निन्दक हैं। भेदभाव का जो स्वरूप हिन्दू जातिवाद में मिलता था वह ऐतिहासिक दृष्टि से

---

१ मेडीवल मिस्टीसिज्म आफ् इंडिया—क्षितिमोहनसेन, लन्दन, १९४६ पृ० ४

अवाछनीय था। इसीलिए सन्तो का वर्णाश्रम विरोधी रूप अधिक क्रांतिकारी माना जाता है।

सन्तों व भक्तो मे वर्णाश्रम प्रथा व जातिवाद के प्रति दृष्टिकोण मे अन्तर दिखाई पडता है। भक्त सुविधा देते हैं, उदारता बरतते हैं, किन्तु साथ ही हिन्दू वर्ण व्यवस्था के कठोर नियमो का पालन सामान्य व्यावहारिक जीवन मे अनिवार्य मानते हैं। इन भक्तो मे भी भेद है। कृष्ण भक्तो मे उदारता अधिक है। तुलसीदास मे कृष्णभक्तो की तुलना मे उदारता कम है, पर है वहाँ भी और उस युग को देखते हुए इतनी भी उदारता प्रशंसनीय है, फिर भी ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से विजयनगर के वीर-शैवसन्तो तथा उत्तरी भारत के सन्त कवियो का कार्य भक्तो की तुलना मे अधिक प्रशंसनीय है, क्योकि समाज की मुख्य असंगति के विरुद्ध विद्रोह कर वे व्यवस्था परिवर्तित न होने पर भी, उस व्यवस्था को अधिक मानवीय और उदार बनाने मे सर्वाधिक रूप से सहायक होते है।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बताया है कि इस्लाम ने भारतीय सुपुप्त शक्तियों को पदाघात से जाग्रत कर दिया था। इसका अर्थ यह नही कि उन दिनो विद्वान न थे, चकित कर देने वाले तार्किक उस समय भी थे परन्तु "सृजनात्मक समन्वय" उनमे नही था। यह कार्य यवन सेनाओ के साथ आने वाले सूफियो व सन्तो ने किया। भक्तो ने भी इस कार्य मे योग दिया। जो वर्ग हिन्दू वर्णव्यवस्था मे अन्तर्भुक्त न हो पाये थे वे नए सन्तो व सूफियो के आसपास एकत्र होने लगे। हिन्दू तीर्थों का स्थान इन सन्त साधको ने ले लिया।[1]

बहुत से विचारक केवल हिन्दुओ के द्वारा 'यवन विरोध" का ही गौरव-गायन करते हैं, चाहे परिस्थिति मे परिवर्तन भले ही आ गया हो। जब राजनैतिक रूप से हिन्दू श्रीहत होगए और मुसलमान व हिन्दू जनता के सदस्य एक ही जगह रहने लगे, कई पेशों मे साथ-साथ काम करने लगे, तब सृजनात्मक समन्वय की आवश्यकता थी या वर्णाश्रम धर्म के प्रचार की ? यदि यह कहा जाय कि जब हिन्दू सामन्तवाद तुर्क सामन्तवाद से अधिक प्रगतिशील था, तो उसके पुनः अभ्युदय के लिए प्रयत्न भी ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील ही कहा जायगा किन्तु राजनैतिक प्रभुत्व की पुनः प्राप्ति के

---

१ क्षितिमोहनसेन, पृ० ५

लिए भी वर्णाश्रम धर्म तथा जातिवाद की जड़ता को कम करने की आवश्यकता थी। स्वेच्छाचारिता बढ़ने पर जिस तरह हिन्दू राजाओं के विरुद्ध हिन्दू जनता विद्रोह कर देती थी, उसी प्रकार मुसलमान शासकों के स्वेच्छाचार के विरुद्ध सम्पूर्ण हिन्दू-मुस्लिम जनता का संगठन आवश्यक था, तभी समर्थ गुरु रामदास तथा पंजाब के सिक्खों ने बादशाहों के विरोध में मुसलमानों का भी सहयोग लिया था किन्तु ये मुसलमान शासक नहीं थे, ये किसान, दस्तकार या मामूली सिपाही थे। मुसलमान शासकों में शक्ति के लिए आपस में भी युद्ध होते थे। १५ वीं शताब्दी में गुजरात, मालवा, जौनपुर, के मुसलमान शासक केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध हिन्दुओं के सहयोग के बल पर ही उठ खड़े हुए थे और उनकी नीति भी उतनी अनुदार न थी जितनी कि आक्रान्ता प्रारम्भिक तुर्कों की। इसलिए सामाजिक वैषम्य तथा पारम्परिक भेदभाव के विरुद्ध बोलने वाले कवियों व साधकों में सन्तकवि ही अग्रगण्य दिखाई पड़ते हैं। बादशाह व दरबारी अपने को जन्मजात शासक व हिन्दुओं को शासित समझते रहे किन्तु सूफियों व सन्तों ने मुसलमानों को हिंसा के विरुद्ध कम नहीं लिखा है, यह स्मरणीय है।

इस परिस्थिति में सूफियों ने अद्भुत कार्य किया है। उनका इरादा क्या था ? इस्लाम का प्रचार, परन्तु तलवार व तीर द्वारा सूफी इस्लाम का प्रचार न करके, अपने पवित्र जीवन व प्रेम द्वारा प्रचार करते थे। वस्तुतः इस्लाम प्रचार के माध्यम से इतिहास सूफियों के द्वारा सामाजिक समीकरण का कार्य करवा रहा था। यद्यपि सूफी यही समझते थे कि वे इस्लाम का प्रचार कर रहे हैं। इस्लाम को ग्रहण न करने पर कोई सूफी क्रोधित होते हुए नहीं देखा गया, उसी प्रकार जिस प्रकार सन्त और वैष्णवभक्त अपने-अपने मता का उदारता के साथ प्रचार करते थे। यह स्मरणीय है कि इन सब में बहुत से मानवतावादी तत्वों में समानता थी अतः उनका प्रभाव शासक व शासित दोनों पर पड़ता था, एक सहिष्णुता और परस्पर ज्ञान-विनिमय का वातावरण बनता था इसीलिए सूफियों के प्रति हिन्दू उदार थे और सन्तकवि भी, किन्तु ये दोनों मुल्लाओं का विरोध करते थे। सर्वप्रथम पंजाब व सिन्ध को सूफियों ने अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। मखदूमसैयदअली अल हुजवीरी अथवा दातागंज ने ११ वीं शताब्दी में पंजाब में सहिष्णुता व प्रेम का प्रचार किया। यहीं 'मुईउद्दीन', कुतुबउद्दीन काकी तथा फरीदुद्दीन ने काम किया। इनकी दरगाहों पर आज तक हिन्दू व मुसलमान दोनों जाते हैं।

सूफीमत सन्तमत की तरह 'गुरुमत' है। गुरु की शरण ही सूफियो मे सर्वस्व मानी जाती है। ईश्वर की कृपा व प्रेम ही इन सूफियो का सन्देश था। पुष्कर क्षेत्र मे चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी साधको ने प्रचार किया। १२ वी शताब्दी मे मुईउद्दीन चिश्ती भारत मे आ चुके थे। इन चिश्तियों के प्रभाव से 'हुसैनी ब्राह्मणो' का जन्म हुआ। ये न हिन्दू हैं न मुसलमान। ये अपने को अथर्ववेदी ब्राह्मण कहते हैं।[1] इनका वेष हिन्दू है परन्तु हिन्दू व्रतो के साथ रमज़ान को भी ये मानते हैं। मलकाना राजपूत भी ऐसी ही मिश्रित जाति है। शाहदुल्ला सम्प्रदायी व हुसैनी ब्राह्मण अपने को अथर्ववेदी क्यो कहते हैं? ऋग्वेदी क्यो नही? इसलिए कि अथर्ववेदी परम्परा तान्त्रिक परम्परा थी जिसमें सब कुछ स्वीकृत था। ऋग्वेदी परम्परा विधि-निषेधवादी परम्परा थी अतः उसे स्वीकार नही किया गया। शाहदुल्ला सम्प्रदाय के लोग अपने को 'निष्कलंक' कहते है। क्योंकि विधिनिषेधवादी ब्राह्मणो को वे कलंकित समझते हैं।

निज़ामुद्दीन औलिया (१३ वी शताब्दी) का कार्यक्षेत्र 'बदायूं' प्रदेश था। अमीर खुसरो तथा अमीर हुसैन देहलवी इन्ही की शिष्य परम्परा मे थे। सूफी होने के कारण ही खुसरो का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण था, वह भारतीयता का हामी था।

शेख सलीम चिश्ती का कार्यक्षेत्र फतहपुर सीकरी था। चमत्कारो के कारण तथा जनता पर प्रभाव के कारण बादशाह भी उनके पैर चूमते थे। पूर्वी भारत मे सुहरावर्दी सम्प्रदाय ने सूफी धर्म का प्रचार किया।

कादिरी सम्प्रदाय के मियाँमीर हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे, दाराशिकोह उन्हे बहुत मानता था। सूफी साधक उदार दृष्टिकोण अपनाकर चले। भारतीय अद्वैतवेदात तथा भारतीय योग के वे प्रचारक थे। कुण्डलिनीयोग व अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से सन्तों व सूफियो कोई मे अन्तर नही दिखाई पडता। सूफियो को कुरानवादियों ने 'अधार्मिक' माना था, इसके जवाब में मुहम्मद फज़लुल्लाह नबी ने सिद्ध किया था कि सूफी धर्म कुरान का विरोधी नही है। फज़लुल्लाह की मृत्यु १६२० ई० में हुई, इसका तात्पर्य यह है कि सूफीमत को १७ वी शताब्दी मे भी मुल्लावादी लोग अधार्मिक समझते थे। सूफियो में स्वतन्त्र चिन्तन इतना अधिक था और मुल्लावाद के

---

१ क्षितिमोहन सेन, पृ० १६

वे इतने कठोर आलोचक थे कि गुरु तेगबहादुर के विषय में 'सरमद' ने बादशाह औरंगजेब के व्यवहार की निन्दा की, फलतः उसे कत्ल कर दिया गया।

सिन्ध देश के सूफियों में स्वतन्त्र चिन्तन और भी अधिक था। अबुलफज़ल तथा फैज़ी का बाप मुबारक सिंध में रहा था। सूफी विचारधारा के विश्वासियों के लिए, जिनमे फैजी व अबुलफज़ल भी थे, बदायूँ के 'कज़्नी' ने लिखा है अबुलफज़ल ने अपने गन्दे विचारों से संसार को जला डालना प्रारम्भ कर दिया।[1] और दारा तो उदारता का अवतार ही था। औरंगजेब के पुत्र आज़म शाह को उसके भारतीयता-प्रेम के कारण महाकवि देव ने अपना 'रसविलास' समर्पित किया था।

करीमशाह (१६०० ई०) ने सिंध-प्रदेश में फारसी व सिंधी भाषा को मिश्रित करके लिखा। वह 'ओउम्' का जप किया करता था। इसी प्रदेश के 'शाह इनायत' नामक सूफी संत ने, अरबो द्वारा हिन्दुओं के बलात् धर्मपरिवर्तन का विरोध किया था, फलतः उसे कत्ल कर दिया गया। वह आज तक 'बिनसिर' कहलाता है।[2]

सिंध का शाह लतीफ़ (१६८६ ई०) महान् कवि व गायक था। वह कबीर, दादू, नानक व मीराबाई के पद्य गाया करता था। क्या कारण है कि इनमे 'वर्णाश्रम धर्म समर्थक' तथा मुल्लावादी (आचारवादी) साहित्य का प्रचार न था? इसका कारण यह था कि सूफी भेदभाव को पसंद नही करते थे, अतः वे कबीर, दादू आदि संत कवियों को ही अपने अधिक निकट समझते थे। सिंध मे मुसलमान गुरु हैं, हिन्दू शिष्य हैं, तथा हिन्दू गुरु है और मुसलमान शिष्य हैं। ८ वीं शताब्दी के विजेता अरबो के पुरोहितो तथा हिन्दू वर्णाश्रम प्रथा के प्रचारक पुरोहितों की तुलना मे सिंध के सूफी किस धारा की ओर इतिहास को ले जा रहे थे—एकता की ओर और इसीलिए सूफियो मे 'काशी व काबा' की एकता की घोषणाएं आज तक मिलती है।

गुजरात मे इमामशाह सूफी संत ने काकापंथ (१५ वी शताब्दी) चलाया। इनके हिन्दू शिष्य मुसलमानो की तरह शव ज़मीन मे गाड़ते हैं। हिन्दुओं के गुरु मुसलमान ही होते है। ये भी निष्कलंक के उपासक हैं। बहादुरपुर (मध्यप्रदेश)

---

१ क्षितिमोहन सेन, पृ० २४

२ वही, पृ० २८

के शाहदुल्ला सम्प्रदाय के शिष्यों मे हिन्दू व इस्लाम का अद्भुत मिश्रण होगया है। ये लोग भी निष्कलंक के उपासक हैं और वैष्णव प्रभाववश ये निष्कलंक का अर्थ करते हैं, विष्णु का दशम अवतार। ब्रजभाषा के कवियों मे रसखान (सैयद इब्राहीम, १६१४ ई०), ताज (१७ वी शताब्दी पूर्वार्ध) तथा कादिर बख्श के नाम प्रसिद्ध ही हैं। खोजा सम्प्रदाय में भी हिन्दू आचारों का मिश्रण मिलता है, वल्लभाचार्य मत की तरह इनके यहाँ शिष्य गुरु के दास होते हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी अमेठी के राजपंडित 'गंधर्वराज' के मित्र थे। जायसी पुत्र विहीन थे अत: उन्होंने गंधर्वराज के पुत्रों को स्नेहवश 'मलिक' नाम दिया था, आज तक 'मलिक' उपाधि गंधर्वराज के कुल में स्वीकृत है।[1]

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि मध्यकाल मे सूफियों व सन्तों की गति इतिहास के विकास के अधिक अनुकूल थी। दोनों 'बाह्याचारों' के विरोधी हैं। क्योंकि झगडे बाह्याचारों के कारण ही होते हैं। आंतरिक दृष्टि से सभी धर्मों मे एकता स्थापित हो सकती है क्योंकि सत्यार्थ एक ही है—मानवमात्र से प्रेम, पेशे और कार्य के कारण किसी को ऊँचा नीचा न समझना, पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर श्रेष्ठता का निर्णय न करना, सदाचार और सहानुभूति आदि। यही सच्चाई है, परन्तु आचारवादी इसका विरोध करते है, यो उनकी पुस्तकों मे भी यह सच्चाई थी परन्तु व्यवहार मे वे भेदभावों को शास्त्रीय आधार पर प्रतिष्ठित करते थे अत: जिस प्रकार शास्त्रीय विधिनिषेध के विरुद्ध तुर्कों के आगमन के पूर्व तान्त्रिकों ने विद्रोह किया, उसी प्रकार तान्त्रिकों द्वारा आविष्कृत योग व रहस्यवाद तथा भक्ति को लेकर सूफियों व संतों ने भी विद्रोह किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सूफीधर्म पर तान्त्रिक प्रभाव स्वीकार करते हुए लिखा है—

द मोस्ट रिमार्केबिल एमंग द हिन्दू इन्फ्लुएन्सिज ऑन इस्लाम इज़ द एक्सेप्टेंस आफ् तान्त्रिक टीचिंग्स बाई सम मुहम्मडन—साधकाज़्[2]

अर्थात् इस्लाम पर पड़े हिन्दू प्रभावों मे सबसे अधिक लक्ष्य करने योग्य कुछ मुसलमान साधकों द्वारा तान्त्रिक उपदेशों की स्वीकृति है।

रसूलशाह (१८ वी शताब्दी) पर तो यह तान्त्रिक प्रभाव पूर्ण रूप से

---

१ क्षितिमोहन सेन, पृष्ठ ३४

२ क्षितिमोहन सेन, पृ० ३७

था। रसायन निजामी, मदिरापान तथा सिद्धि और चमत्कार-प्रदर्शन सूफियों में प्रारम्भ से ही मिलते हैं। कुछ सम्प्रदायों में तो "चमत्कार सेवन" का हद् अनुसरण मिलता है।

लाइक द योगीज आफ द तांत्रिक, दे सिट इन द मस्जिद एंड आवर्ड वीराचार आर द वेज आफ द हीरो। दे दे क्लेम टू बी ड्रिंकिंग द तांत्रिक पेना, द नेक्टर आफ द सहस्रार पाद्मर ड्रिपिंग फ्रौं द मिचम मस्तिष्क।[1]

अर्थात् तांत्रिकमतावलम्बियों की तरह वे वज्राचार बैठकर वीराचार का अनुसरण करते हैं और तांत्रिकों की तरह षट्चक्रभेदन के पश्चात् सहस्रार चक्र से अमृतपान का दावा करते हैं।

सूफियों के इस्लाम के कठोर आचारवाद के विरुद्ध आज तक शराब, साकी, मयखाना, मीना और "यार के वस्ल" की बहार मिलती है और तांत्रिकों की ही तरह यह वामाचार प्रतीक के रूप में ग्रहण किया जाता है। सूफियों की अमरदपरस्ती अर्थात् (पुरुष साधुओं से प्रेम) तथा सुरापान, एक ऐतिहासिक हकीकत है, "तसव्वुफ और सूफीमत" में चन्द्रबली पांडेय ने सूफियों के वामाचार पर भरपूर प्रकाश डाला है।

सभी सूफी मदिरा और मैथुन के अतिरिक्त तांत्रिकों के कुण्डलिनीयोग में विश्वास करते हैं। मैं यह कहता हूँ कि सूफी के पूर्व और पश्चात् भी बाह्याचारों, भेदभाव, पांडित्य आदि के विरुद्ध योग के द्वारा ही चुनौती दी गई थी। रहस्यवाद द्वारा समाज की असंगतियों के विरुद्ध प्राचीन काल से ही असन्तोष प्रकट किया जाता रहा है।

प्राचीनतावादी सुधारकों और क्रान्तिकारी सुधारकों में अर्थात् वैष्णव भक्तों और सन्तों में अन्तर को समझने के लिए हमें सूफियों द्वारा किये गए विभाजन को देखना चाहिए। यह विभाजन सामाजिक दृष्टि से किया गया है। प्राचीनतावादी सूफियों को "बाशिरा" तथा क्रान्तिकारी सुधारकों को जो एक सर्वथा नया सामाजिक विधान चाहते थे, "बेशिरा" कहा जाता है। बाशिरा रस्सी से बँधे हुए पशुओं के समान हैं जो दूर तक चरते तो हैं परन्तु अपनी सीमा से बाहर नहीं जा सकते। परन्तु बेशिरा बधे हुए नहीं हैं, वे स्वतन्त्र हैं। इसी तरह

---

१ क्षितिमोहन सेन, पृ० ३७

हिन्दू वैष्णव भक्त बाशिरा साधक हैं। वे लोकवेदपथी हैं, वे वेदमार्गी हैं, पुराने संस्कारो के रक्षक है, किन्तु अत्यधिक उदार हैं। फिर भी उनकी उदारता की एक सीमा है जिसके बाहर वे नही जा सकते, दूसरी ओर सन्तकवि 'बेशिरा' साधक हैं जो शास्त्र मर्यादा नही मानते, अपनी अनुभूति पर अधिक बल देते हैं, जो स्वयप्रकाश्यज्ञान को सत्य की पहचान मे सहायक मानते हैं, पुस्तको को महत्व नही देते, वे संस्कार, वर्ण, जाति, आदि बन्धनो के विरोधी हैं और सहजमानवता के प्रचारक हैं।

यही कारण है कि परम्परावादी सुधारको पर तत्र के प्रभाव का स्वरूप भिन्न है। भक्तो ने तत्रो से शक्तिवाद अर्थात् युगल उपासना तत्रो से ली है। कृष्ण-भक्तों मे मर्यादामार्ग के प्रति अवज्ञा अधिक मिलती है और भगवान की गुह्यरतिलीला का ध्यान किया जाता है। देवता के रूप, मत्र, मूर्ति, अर्चा आदि पर भी तत्रो का प्रभाव दिखाई पडता है। तथापि भक्तो ने तत्रो से समाज की शृंखलाओ का घोर विरोध नही किया। किन्तु सन्तो मे नाथपथियो के माध्यम से तत्रो का योग व ओजस्विता दोनो पहुँचे हैं।

परम्परावादियो मे कई प्रकार के सुधारक हैं। इनमे सकीर्णतम वैदिक-कर्मकाडी तथा सूत्रो के भाष्यकार हैं, तुलसी, सूर आदि भक्त इनको तुलना मे बहुत आगे थे। अर्थात् उनके खूटे की रस्सी वैदिको से कई गुनी लम्बी थी और उस युग मे यह बहुत बडी बात थी। दूसरी ओर मेधातिथि, कूलूकभट्ट, विज्ञानेश्वर, हेमाद्रि तथा रघुनन्दन आदि अपनी टीकाओ द्वारा प्राचीन नियमो का प्रचार कर रहे थे और कुछ नियमो मे परिवर्तन भी कर रहे थे। अपनी सकीर्णता के कारण ये लोग केवल हिन्दुओ के उच्च वर्गों मे ही सफल हुए, हिन्दू राजाओ ने इनकी सहायता भी की किन्तु भक्तो की तरह ये जनता पर प्रभाव न डाल सके, न उस सम्मिलन का प्रचार कर सके जो आवश्यक था।

इनके पहले शंकराचार्य ने वैदिकता के उद्धार का प्रयत्न किया था और उन्हे सीमित सफलता भी प्राप्त हुई थी परन्तु सामान्य जनता उनसे बहुत कम प्रभावित हुई थी। केवल शिक्षित हिन्दुओ के सीमित वर्ग मे ही शकर का प्रभाव रहा और आज भी वही दशा है।

शकराचार्य के बाद प्राचीनतावादियो के एक वर्ग ने तंत्रवाद का भी पुनरुद्धार किया। हम कह चुके हैं कि १३ वीं शताब्दी के बाद के शाक्त आचार की शुद्धता पर अधिक ध्यान देते हैं। संतों मे बाह्याचार की निन्दा है, धर्म की

जन्म व जाति से ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है। महानिर्वाणतंत्र जैसे तंत्र सामान्य जनता के लिए लिखे गये जिनमें साधना को सर्वाधिक सुगम कर दिया गया है। महानिर्वाणतंत्र में कहा गया है कि कलियुग में तंत्रमार्ग से ही मुक्ति मिल सकती है, वेदमार्ग से नहीं।

जातिवाद, शास्त्रीयता आदि की चिन्ता न करते हुए तान्त्रिकों ने आत्मसंस्कार को सबके ऊपर प्रतिष्ठित किया था। तांत्रिकों की परम्परा में होने वाले 'बाउल' सन्तों ने लिखा है कि कृत्रिम धर्मों का ही प्रारम्भ शास्त्रों में खोजा जाता है। "वास्तविक धर्मों का प्रारम्भ नहीं बताया जा सकता।"[1] कबीर, दादू आदि ऐसे ही वास्तविक धर्म के प्रचारक थे जो बंधनों के विरोधी थे।

सन्त कवियों के पूर्व सम्भवतः निरंजन सम्प्रदाय पूर्वी प्रान्तों में प्रचलित था। इस निरंजन सम्प्रदाय में बौद्ध धर्म के अवशेष मिलते हैं। विशेष रूप से तांत्रिक महायानमत के बहुत से तत्व निरंजन सम्प्रदाय में सुरक्षित हैं। रमाई पंडित ने शून्यपुराण में शून्य या निरंजन की चर्चा की है। उड़ीसा के वैष्णव सम्प्रदाय में, जो वस्तुतः प्रच्छन्न बौद्ध थे, निरंजन को शून्य का पुत्र माना गया है। यहाँ के बौद्ध-वैष्णवों में एक सम्प्रदाय "धर्म या निरंजन" सम्प्रदाय है। राजपूताने में एक निरंजनी सन्त सम्प्रदाय अब भी मिलता है। यह सम्प्रदाय अब साकार ब्रह्म का उपासक है परन्तु मूल रूप में इस सम्प्रदाय के सन्त "निरगुनियाँ" ही रहे होंगे। यह निरंजन सम्प्रदाय कभी झारखंड व रीवाँ तक प्रचलित था और बाद में यह मत कबीरपन्थ में अन्तर्भुक्त हो गया।[2]

इस धर्म या निरंजन का सम्बन्ध बुद्ध तथा उनके संघ से दिखाई पड़ता है। रमाई पंडित ने शून्य को अनिर्वचनीय सत्ता कहा है। रमाई के यहाँ शून्य अभाववाचक नहीं है और वस्तुतः शून्य से अभाववाचक अर्थ शिक्षित बौद्ध-विचारकों ने कभी लिया भी नहीं है। रमाई के अनुसार 'शून्यमूर्ति' की आराधना करनी चाहिए, उस मूर्ति का न आदि है, न मध्य है, न अन्त है, वह आकार, रूप, भय, मरण और जन्म से भी परे है। योगीजन ही उसे ज्ञान द्वारा अनुभव में ला सकते हैं। शून्य सत्ता भक्तों की सारी इच्छाएं पूर्ण कर

---

१ क्षितिमोहन सेन, पृ० ६८

२ कबीर-हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ ५२

सकती हैं।[1] रमाई पंडित ने लिखा है कि शून्य, ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के पूर्व विद्यमान था। इस शून्य के केन्द्र में निरंजन रहता है।

स्पष्ट ही यह शून्य-उपासना निर्गुण-उपासना है। इसके प्रवर्तकों ने इसमें सगुण-उपासना का भी स्पर्श दिया है। यह कोई नवीन आविष्कार नहीं था क्योंकि तांत्रिक बौद्ध साधक एक विराट देव-मंडल का विकास कर चुके थे अतः शून्य को देवता का रूप दे दिया गया। परवर्ती बौद्धमत का मंत्र और गायत्री इस प्रकार है—

मंत्र—ओं शून्य ब्रह्मणे नमः
गायत्री—ओं सिद्धदेवः सिद्धधर्म्मः वरेण्यमस्यधीमही ।
नमों देवो धीयो यो, न सिद्धप्रभुवो प्रचोदयात् ॥[2]

यह शून्य उपासना उडीसा की बाथुरी जाति द्वारा प्रचारित हुई। इस जाति का भी कबीर की ही तरह दमन हुआ था क्योंकि उडिया के परम्परावादी वैष्णव पंडित इन बौद्धों के विरुद्ध थे। इन्हें अस्पृश्य माना जाता था किन्तु इन्होंने कबीर की ही तरह बडे स्वाभिमान के साथ कहा था कि कलियुग में हम लोगों को कोई स्पर्श तक न करेगा किन्तु हमारे शरीर का स्पर्श कर लेने पर सारे पाप दग्ध हो जाएँगे, अतः विष्णु ने हम लोगों को गुप्त कर रखा है।[3]

ये शून्यवादी लोग पहले तांत्रिक थे क्योंकि बाथुरी जाति के पास "अशोकान्त मारीची" तथा "प्रज्ञापारमिता" की मूर्तियाँ मिली हैं। प्रज्ञापारमिता को ये लोग "बाउरी ठकुरानी" कहते थे। उडीसा में प्रच्छन्न बौद्धों का एक ग्रन्थ है "सिद्धान्त—डम्बरतन्त्र", जिसमें प्रवक्ता शिव हैं। एन० एन० वसु

---

१ यस्यान्तोनादिमध्यो न च कर चरणौ नास्तिकायो निनादं ।
नाकारो नैव रूप न च भयमरणे, नास्ति जन्मनि यस्य ।
योगीन्द्रं र्ज्ञानगम्यं सकलदलगतं सर्वलोकैकनाथम् ।
भक्तानां कामपूर सुरनर वंदित चिन्तयेत् शून्यमूर्तिम्—माडर्न बुद्धिज्म एंड इट्स फोलोअर्स इन उडीसा-एन० एन० वसु, पृ० १०

२ वही पृ० २० से २२ तक

३ कलियुगे न छुइब, बाउरि छुइले सकल पातक क्षय हय ।
बोलि विष्णुमाया करि गोप्य, कोटि रलि अच्छन्ति । एन० एन० वसु पृ० २१ से २२

का अनुमान है कि प्रसिद्ध कौलावलीतंत्र में उल्लिखित बाशुलतंत्र का सम्बन्ध भी इस बाशुरीजाति से रहा होगा। बाशुरी लोग अब तक धर्मराज अर्थात् बुद्ध की पूजा करते हैं। बौद्ध मत से प्रभावित सोलहवीं शताब्दी के बौद्ध वैष्णवों में भी धर्म को निरंजन ही माना गया है और उसे ही सृष्टि का कारण माना गया है। इस निरंजन के स्वरूप को शून्य बताया गया है। विचित्र तथ्य यह है कि परवर्ती कबीरपन्थी ग्रन्थ "कबीर मन्सूर" में भी निरंजन को शून्य कहा गया है और निरंजन को ही सृष्टि का कारण माना गया है।

कबीर की ही तरह अत्यधिक कठोर भाषा में उड़िया के प्रच्छन्न बौद्ध, जो अपने को वैष्णव कहते हैं, वर्णाश्रम प्रथा के विरुद्ध लिखते थे। इन प्रच्छन्न बौद्धों में अच्युतानन्द, बलरामदास, जगन्नाथदास, अनन्तदास, यशवन्तदास तथा चैतन्यदास—ये महान "वैष्णव" कहलाने वाले कवि हुए। इन वैष्णव कवियों की भक्ति व चैतन्य व बल्लभ की भक्ति में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता परन्तु साथ ही इनकी वैष्णवता के पीछे जो मन था, वह प्राचीन तांत्रिक बौद्ध परम्पराओं को कबीर की ही तरह भूल नहीं पा रहा था।

उड़िया बौद्ध-वैष्णवों के अनुसार ब्रह्म शून्य है। शून्य ही जीवात्मा रूप में बदल जाता है। शून्य पुरुष राजा है। उसके अनेक शत्रु हैं। वह उनसे बचना चाहता है। उसके पास दया आदि गुण हैं, वह नर्क में घिर गया है और बार बार बाहर आना चाहता है परन्तु शून्य का विरोध होता है। २५ कारण, ५ मन ६ चक्र, ५० अक्षर तथा ७२ नाड़ियाँ, उस शून्य की रक्षक हैं। वह शून्य तटस्थ होकर भोग करता है, वह बहुत तेजवान है। वह शून्य पुरुष एक शून्यगढ में रहता है। ३२ अक्षरों की सहायता से वह मूर्ति रहित शून्य राज्य करता है। उस शून्य का लोक १४ भुवनों से भी परे है ?[1]

ये शून्य उपासक वैष्णव कबीर की ही तरह अन्तर्मुखता पर बल देते हैं और बाह्य ध्यान, धारणा, न्यास, मुद्रा आदि की निन्दा करते हैं। केवल भीतर देखो, शून्यमंत्र जपो, त्रिकुटी में ध्यान लगाओ, यही उनका उपदेश है। राधा, कृष्ण की उपासना करने पर भी ये वैष्णव गुप्त-वृन्दावन के उपासक हैं जो पिंड में स्थित है। इनके अनुसार राधा और कृष्ण बाह्यदेवता नहीं हैं, वे भी भीतर ही हैं।[2]

---

१ एन० एन० वसु, पृ० ४८, ४९

२ वही पृ० ४९, ५१

इन बौद्ध-वैष्णवो ने गीता और भागवत की निन्दा की है ।[1] इस निन्दा का कारण यह जान पड़ता है कि गीता और भागवत पर उच्च वर्गों का सर्वाधिकार था। बलरामदास ने एक गुप्तगीता लिखी है, इसमे कहा गया है कि कृष्ण का पुत्र अनिरुद्ध राजा प्रतापरुद्र के समय उत्पन्न होगा, उसका नाम होगा बलरामदास। मतलब यह कि राजा के दमन से बचने के लिए ऐसी कथाओ की आवश्यकता थी और राजा ने इसलिए दमन किया क्योंकि नीच जाति का व्यक्ति शास्त्र नही लिख सकता। बलरामदास के प्रणव-गीता मे एक कथा है—राजा को पता चला कि किसी नीच जाति के व्यक्ति ने शास्त्र लिखा है, राज क्रुद्ध हुआ, ब्राह्मणो ने बहुत क्षोभ प्रकट किया, बलराम को धिक्कारा तब बलराम ने कहा कि भगवान पर किसी का सर्वाधिकार नही है, भगवान भक्त का है, चाहे वह ब्राह्मण हो या चाडाल ।[2]

बलराम ने आगे राजा से कहा था कि मैं स्वयं वेद से सिद्ध कर सकता हूँ कि मैं ज्ञान का अधिकारी हूँ और बलराम की बात भगवान ने सुन ली, उसकी प्रेरणा से बलराम ने राजा व ब्राह्मणो के सम्मुख 'वेदान्त' (अर्थात् शून्यवाद) सुनाया और तब ब्राह्मण पराजित हो गये ।[3]

कबीर क्यो वेदान्त झाडते थे, इसका उत्तर उपर्युक्त पंक्तियो मे सुरक्षित है। बौद्ध पृष्ठभूमि को भूलकर सन्तमत को नही समझाया जा सकता।

चैतन्यदास ने "विष्णुगर्भ" मे लिखा है कि विष्णु एक नही पांच हैं। तत्व "अलेखे" (अलख) । है। अलेख (शून्य) का माया से उत्पन्न हुए है—निराकार और निराकार से धर्म का विकास हुआ है। तब अलख से ६ रंग

---

१ गीता भागवत पुराण पढ़िवा, कहिवा चातुरी विव।
तत्व अनाकार नाम ब्रह्ममेह, न पाई व्यर्थ हेव।
—अनाकार संहिता—एन० एन० वसु पृ० ५१

२ तहिं देखिले विप्र वियड़े, धिकारे गालि वेले जिते।
अएय वेदवादमान, कि अधिकारे शूद्र ज्ञान।
शुण हे नृप गजपति, काहारि नोहन्ति श्रीपति
भक्त जनकर से हरि, विप्र चांडाल से आदि करि
करुणामय जगन्नाथ, काहारि नोहंति एकंत
विप्र जे बोलन्ति आम्भर, गर्व करन्ति नृपवर। एन० एन० वसु पृ० ५१

३ वही

उत्पन्न हुए और इन ६ रूपों से विष्णु उत्पन्न हुए। इसी अलेख ने योगमुद्रा में स्थित होकर ब्रह्मा को उत्पन्न किया और उनसे सृष्टि रची। २१ विश्व तथा २१ ब्रह्मा बनाये गये। इस अलेख को बंगाल में महाविष्णु माना गया है।

इन बौद्ध-वैष्णवों का नाथसिद्धों में अटूट विश्वास था। बलरामदास हठयोग का प्रवर्तक गोरखनाथ को ही मानते थे। सन्तमत की ही तरह ये भी गोरख-योग के विश्वासी थे, सन्तमत भी भक्ति को स्वीकार करता है और उत्कल का बौद्ध-वैष्णव मत भी, परन्तु यह वैष्णवमत शास्त्रीयमत से भिन्न है। यह शुद्ध वीतरागभक्ति है जो शास्त्रीय परम्परा का विरोध करती है क्योंकि शास्त्रीय परम्परा जातिवाद की पोषक थी। इस देश में प्रतापरुद्र जैसे राजाओं का भी शासन रहा है। उत्कल के वैष्णव भी सन्तों की तरह ही पीड़ित थे अतः उत्कल के शास्त्रीय वैष्णवों की तुलना में मध्यदेश के वैष्णव अधिक उदार थे। इसीलिए कबीर ने रामानन्द को गुरु स्वीकार किया था। फिर भी रामानन्द की शास्त्रीय परम्परा जो तुलसीदास में दिखाई पड़ी उससे कबीर भिन्न दिखाई पड़ते हैं क्योंकि कबीर की पृष्ठभूमि में महायान तथा तांत्रिक बौद्धमत था जो शास्त्रीय भेदभाव का विरोध करता था।

उत्कल के बौद्ध वैष्णवों ने लिखा है कि कलियुग में बौद्धमत गुप्त रहेगा और बुद्ध के बाद उड़ीसा में जगन्नाथ अवतार लेंगे। ज्ञान से भ्रम को दूर करने के लिए, वैदिक पूजा को हटाने के लिए तथा निर्गुण ब्रह्म की आराधना के लिए बुद्ध का अवतार बताया गया है—

प्रबुद्ध बुद्ध अवतारे, ज्ञान विस्तारि च संसारे।
सकल वर्ण एक ठारे, बसि मु जिब सुगतरे॥
करहिं न करिबे पुन, एतु ए मायार वेपान।[1]

सन्तमत की निर्गुणता का उद्देश्य उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है अर्थात् सन्तमत निर्गुण का प्रचार करता है, वैदिक कर्मकाण्ड और वर्णाश्रम धर्म का विरोध करता है, वैष्णव देवताओं, मंदिरों, तीर्थों, व्रत, उपवासादि की निन्दा करता है तथा सकल वर्णों को एक करता है। और उधर श्रीमद् भागवत घोषित करती है—

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते, सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नांजनसुतः, कीकटेषु भविष्यति।

---

१ एन० एन० बसु, पृ० ५१

अर्थात् आर्य-द्वेषी असुरों को (ब्राह्मण धर्म स्वीकार करने वालों को) मोहने के लिए कीकट देश में (सम्भवत. उत्कल में) बुद्ध अवतार लेंगे।

कौनसी बात सही मानी जाय ? एक कहता है कि साखी, सब्दी, दोहरा कहने वाले लोग झूंठे हैं, नाना सम्प्रदाय पैदा करते हैं, और वेद पुराण की निन्दा करते हैं और दूसरी ओर मध्यप्रदेश का सन्तमत तथा उत्कल का यह बौद्ध-वैष्णव मत है, जो वेद-पुराण को ही झूंठा कहते हैं क्योंकि इनके द्वारा सकल वर्ण एक ठौर नहीं होते, बिसर जाते है। "उत्कल के चैतन्यदास इसीलिए १२ अवतारों में केवल बुद्ध को छोड़कर और सबके दोष निकालते हैं। उनका कथन है कि ब्रह्मज्ञान को केवल बुद्ध ही ठीक-ठीक समझते थे और इसीलिए वे बाहरी बखेड़ों का विरोध करते थे।[1]"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्कल प्रान्त में १५ वी १६ वी शताब्दी में प्रचलित प्रच्छन्न बौद्धमत के साथ कबीर, दादू, नानक आदि का सन्तमत अद्भुत सादृश्य रखता है। सन्तसम्प्रदायों में यह प्रवृत्ति है कि वे शब्द-प्रामाण्य को नहीं मानते, अपनी अनुभूति पर ही अवलम्बित रहते है। इस स्वावलम्बन के कारण ही दम्भी और निरक्षर समझे जाने वाले सन्तों ने अपना मार्ग अलग चलाया। परन्तु वे उसे सम्प्रदाय नहीं बनाना चाहते थे, किन्तु प्रत्येक आदर्शवादी महान् पुरुष के पीछे जैसे स्वयं सम्प्रदाय बनते आ रहे थे वैसे ही कबीर, दादू, नानक आदि के अलग-अलग सम्प्रदाय चल पड़े। इस उपर्युक्त विवेचन से यह भी पता चलता है कि सन्तमत में बौद्ध योगियों के अवशिष्ट तत्व मिल गये और उन जोगियों के भी, जो हठयोगी कहलाते थे और जो ब्राह्मणवाद के विरोधी थे। इस योग का प्रभाव सूफियों पर भी पड़ा था और इसीलिए वह भी हिन्दू मुसलमानों की संकीर्णताओं का विरोध करते थे।

वैष्णवों में रामानन्द सबसे अधिक प्रगतिशील विचारक थे। उन्होंने जाति तथा आचारवाद की परवाह नहीं की थी। रामानन्द ने कहा था कि यदि परम्परावादी समाज में ऋषियों के नाम से गोत्र पहचाने जाते हैं तो मनुष्य को उस भगवान के नाम से क्यों नहीं पहचानते जिसकी उपासना ऋषि भी किया करते थे और जहाँ तक मनुष्य के सामाजिक स्थान व सम्मान का प्रश्न

---

१ एन० एन० वसु पृ० ५१

है उसका निर्णय ईश्वर और मनुष्य के प्रति प्रेम द्वारा होना चाहिए न कि किसी जाति विशेष मे जन्म लेने के कारण।[1]

रामानन्द ने स्त्रियो, शूद्रो आदि सभी को शिष्य बनाया था। रामानुज ने केवल शूद्रो को 'प्रपत्ति' का अधिकार दिया था परन्तु रामानन्द ने इन्हें भक्ति का पूरा अधिकार दिया। गुरु ग्रन्थसाहब मे रामानन्द की इसी स्वच्छन्द मनोवृत्ति के कारण उनके पदो का संकलन किया गया है। निम्नलिखित किंवदन्ती कितनी सारपूर्ण है—

भक्ति द्रविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द।
परगट करी कबीर ने, सप्तद्वीप नवखंड।

यह भक्ति 'बेशिरा' परम्परा की भक्ति है, परम्परावादियो की भक्ति जैसी यह सकीर्ण भक्ति नही है। इसमे शोषित जातियाँ बराबरी के स्तर पर भाग ले सकती थी। उनका खानपान एक हो सकता था। वह ऐसी भक्ति नहीं थी जिसमे परम्परावादियो के राम नीच जातियो से मिलते समय ऐसे प्रतीत होते हैं मानो अहसान कर रहे हो। तुलसीदास के गुह, निषाद व शबरी की भक्ति तथा कबीर की भक्ति की तुलना कीजिये—कबीर की भक्ति मे जो स्वाभिमान, आत्मविश्वास और समकक्षता का भाव है, वह तुलसी के नीच जाति के भक्तो मे नही मिलता। कृष्णभक्त आचार्यों में भी आचार्य इतने ऊँचे दिखाई पडते हैं कि उनकी ओर देखना भी सामान्य भक्त के लिए कठिन हो जाता है। मैं कह चुका हूँ कि परम्परावादी भक्त भी शुद्ध कर्मकाडी आचार्यों से बहुत आगे थे, परन्तु फिर भी वे बाशिरा भक्त हैं, बेशिरा नही। परम्परावाद के कारण वैष्णवो की भक्ति और विशेषकर तुलसी की भक्ति मे वह मानवीय गौरव नहीं है जो तान्त्रिक परम्परा से अधिक प्रभावित सन्तो मे है।

सिक्खसन्तो की भक्ति के अध्ययन से भी यह तथ्य पुष्ट होता है। सिक्ख सन्तो के पूर्व पंजाब मे नाथपथ का बहुत प्रचार था। साथ ही बहुत से सूफी सन्त भी गुरु नानक के पूर्व पंजाब में बस चुके थे। इनमें योग, रहस्यानुभूति और सिद्धियो के चमत्कारप्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक थी। शास्त्र की जगह गुरु, आचार की जगह आत्मशोधन और बहिर्मुखता की जगह अतर्मुखता का इनमे अधिक प्रचार था। पंजाब में सत नामदेव के चमत्कार भी प्रसिद्ध होगये थे। नानक पर इन्ही सन्तो का प्रभाव पडा था। यह प्राचीनतावादी परम्परा नही

---

१ क्षितिमोहन सेन पृ० ७२

थी। कबीर की परम्परा में ही नानक ने सन्तमत का प्रचार किया। नानक की भेंट शेखवरहम या फरीद द्वितीय से भी हुई थी, यह स्मरणीय है। फ़रीद के चमत्कार महान् थे। उन्होंने आलिफखाँ नामक व्यक्ति को दुआ दी थी कि वह बादशाह हो जायगा और संयोगवश आलिफखाँ ही 'बलबन' नाम से हिन्द का बादशाह हुआ। बलबन ने अपनी पुत्री का विवाह फरीद से कर दिया था। चमत्कार का इतना अधिक मध्ययुग मे प्रभाव था कि सूफी, फकीर, योगी तथा सन्त साधक बडे-बडे शासको को उदार और अच्छा बनाने मे भी इस चमत्कार का प्रयोग करते थे।[1]

गुरु नानक का पंथ मूर्तिपूजा, वर्णदम्भ, जातिवाद, विधवा विवाह न करना, दुराचार, नशापान, शिशुवध, तीर्थयात्रा तथा भक्ति का अभाव—इन तत्वो का विरोधी था। मैंकलिफ् ने लिखा है कि १५ वी शताब्दी मे न केवल भारत मे, अपितु, योरोप मे भी नवजागरण हुआ था। जर्मनी मे 'लूथर' ने नई जागृति फैलाई थी और भारत मे कबीर ने। योरोप मे लैटिन व भारत मे सस्कृत मे धर्म-ग्रन्थ लिखे जा रहे थे। शिक्षा पुरोहितवर्ग के हाथ मे थी और यही लोग भेदभाव फैलाते थे अत इस वर्ग के विरुद्ध विद्रोह हुआ। लूथर व कालविन की तरह ही कबीर ने क्रान्ति की। इन सन्तो मे सबसे अधिक प्रबल और संगठित सिक्खमत था।

गुरु नानक ने देखा था कि विजेता तुर्क नृशंस हैं, अन्यायी हैं, उन पर देशी योद्धाओ का वश न चला। हजारो लोग तलवार के घाट उतार दिए जाते थे। किन्तु ये विजेता तुर्क भी अन्धविश्वासी थे, खुदा के कहर से ये भी डरते थे अतः नानक ने भी चमत्कारो से काम लिया था। अन्य सूफियो की तरह चमत्कारो का प्रयोग करके नृशस विजेताओ पर वे कुछ नैतिक प्रभाव डालने का प्रयत्न करते थे। अतः नाथपंथियो व सूफियो जैसे चमत्कार और इलहाम आदि का प्रयोग सिक्ख गुरु भी करते दिखाई देते है।

मैंकलिफ् ने विस्मित होकर लिखा है कि बडे-बडे सुधार साधारण जनता से आने वाले व्यक्तियो ने ही किये है।[2] किन्तु इसमे विस्मय का कोई कारण

---

१ द सिक्ख रिलीजन—एम० ए० मैंकलिफ, ऑक्सफोर्ड, १६०६, जिल्द ६, पृ० २६ तथा ३७७

२ इट इज़ क्यूरियस दैट द प्रोटेस्ट रिलीजस रिफोर्म्स हैव बीन एफैक्टिड बाई द लेटी - वही, जिल्द ५, भूमिका

नहीं है। तान्त्रिक युग में जितने वर्णाश्रमविरोधी विचारक हैं, उनमें साधारण जातियों के कम पढ़े-लिखे लोग ही अधिक हैं जबकि पुस्तकीय विद्या के आचार्य पुरानी लकीर ही पीटते दिखाई पड़ते हैं। सिद्ध, नाथ तथा शैव एक ओर हैं और वैदिक ज्ञानी व कर्मकांडी दूसरी ओर हैं। इनमें बौद्धों व जैनियों का पुरोहित वर्ग भी शामिल है। इसी तरह सिद्धों, नाथों और शैवों की परम्परा में कबीर, दादू, नानक आदि साधारण जनता से आये थे और इसीलिए जनता की भावनाओं का सही सही प्रतिनिधित्व करने के कारण वे मुल्लाओं और पंडितों के वर्गस्वार्थों पर प्रहार कर सके।

मैकलिफ़ ने बताया है कि सिक्खमत अत्यधिक मौलिक मत था, वह जनता के बल पर चला। हिन्दूधर्म मैकलिफ़ के अनुसार "घरेलू आचारों" का धर्म था। हिन्दू मत के लिए आवश्यक है किसी जाति में जन्म लेना, बस फिर किसी चीज की आवश्यकता नहीं।[1] किन्तु सामान्य जनता में जो मत आते थे वे इस जातिवाद पर इसीलिए प्रहार करते थे जैसा कि तान्त्रिकों ने किया था।

वैष्णवों की तरह सिक्खसंत केवल रक्षात्मक प्रवृत्ति नहीं दिखाते। गुरु नानक ने चिल्लाकर कहा था—

लोदी वंश के कुत्तों ने अपनी परम्परा दूषित की थी जब वे मरे तो कोई भी उनकी निन्दा न करेगा।[2]

नानक ने सभी बाह्याचारों का विरोध किया। उन्होंने 'नामजप' का विशेष प्रचार किया था किन्तु ध्यान से देखने पर यह 'नामजप' केवल "राम राम राम" की तोतारटन्त न थी, बल्कि इस नाम जप के साथ अंतर्मुखी प्रक्रिया काम कर रही थी, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

सिक्खमत वेदों, स्मृतियों, कुरान आदि पर आधारित न होकर संतों की परम्परा में विकसित हुआ है। दादू के शब्दों में जिनका यह सिद्धान्त था—

वेद में प्यार नहीं है, स्मृतियों में प्यार नहीं है, संन्यासी पहाड़ों में रहते हैं, दुनिया को बताने वाला कोई नहीं है।[3]

---

१ मैकलिफ़ - जिल्द ५, भूमिका भाग
२ वही, नानक की जीवनी
३ मैकलिफ़, जिल्द ५, भूमिका भाग

पुनरुत्थानवादी कहते हैं कि बिना वर्णाश्रम धर्म के 'यवनों' के विरुद्ध देशी जनता को कैसे संघटित किया जा सकता था, सिक्खमत इस धारणा के विरुद्ध था क्योंकि साधारण जनता स्वयं वर्णाश्रम धर्म पर आधारित मतों और उनके अनुसरण करने वालों से घृणा करती थी अतः सिक्खों ने सामान्य पाकशाला का आविष्कार किया था और खानपान और विवाह-सम्बन्ध आदि में किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं माना था। फलतः मुस्लिम सामन्तवाद से वे पूरी दृढता के साथ लड सके। शिल्पी, छोटे व्यापारी, किसान तथा अन्य कमकर वर्गों ने इतना संगठित दल बनाया था कि मुगल साम्राज्य भी काप उठा था। इस संगठन की सफलता के लिए किसानों व कमकरों ने धर्म को वस्तुतः आवरण के रूप में अपनाया था। इलहाम, रहस्यानुभूति, नामजप, ईश्वरीय प्रेम का आवेश तथा चमत्कार आदि तो माध्यम मात्र थे। इनके माध्यम से कमकर वर्गों ने राजनैतिक व सामाजिक संगठन किया था और इस कार्य में शास्त्रीयता और पुनरुत्थानवाद का कहीं नाम भी नहीं था। यह कार्य शुद्ध तात्रिक परम्परा में हुआ था। तात्रिक इस रूप में सगठित नहीं हो सके किन्तु मध्ययुग में आकर उनका शास्त्रीयताविरुद्ध "सहज" जीवन और सभी प्रकार के भेदभावरहित समाज की स्थापना के नारे ने चमत्कार दिखाया।

सिक्खमत आतरिकता पर आधरित था, कोरे शारीरिक हठयोगियों को सिक्ख गुरु वैसे ही लताडते थे जैसे कि कबीर, यद्यपि हठयोग का आन्तरिक रूप उन्हें ग्राह्य था। गुरुओं का जोगियों को यह उपदेश था—

"कलियुग में जोग (बाह्य) का अभ्यास कठिन है। हम भक्तियोग के विश्वासी हैं, इससे बिना कष्ट उठाये ही मन पवित्र हो जाता है। पवित्र गुरुओं ने कहा है कि सहजयोग का अभ्यास करो इसमें साध्य के साथ तादात्म्य करते हुए ध्यानावस्थित होकर नाम का जप होता है।[१]"

स्पष्टतः हठयोग का आन्तरिक जप सिक्ख गुरु स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में केवल बाहरी शारीरिक अनुशासन की निन्दा की गई है।

तांत्रिकों की तरह सिक्ख गुरुओं का विश्वास था कि केवल गुरु ही सत्य को जानता है। वेद और स्मृतिया नहीं।

"स्मृति व शास्त्र विधि-निषेध का उपदेश करते हैं परन्तु सत्य को नहीं

---

१ मैक्लिफ़, जिल्द २, पृ० १६

जानते, गुरु के बिना वास्तविक सत्य नहीं सूझता, संसार अन्धविश्वास से ग्रस्त हो गया है।[1]"

अकबर से आचारवादियों ने शिकायत की थी—

"गुरु अमरदास ने हिन्दू आचार छोड़ दिए, जातिपाँति मिटादी, ऐसा कभी नहीं हुआ था, अब सन्ध्या, गायत्री, पितृपूजा, तीर्थ, श्राद्ध, शालग्राम-पूजा नहीं होती। राम की जगह गुरु ने "वाह्गुरु" की उपासना चलादी। वेदस्मृति समाप्त कर दिए। एक पंक्ति में बड़ाकर गुरु सब जातियों को एक साथ भोजन कराता है।[2]

वाहगुरु के जप की व्याख्या करते हुए मैकलिफ ने लिखा है कि प्रत्येक श्वास के साथ सहजगति से सिक्ख 'वाहगुरु' (ब्रह्म) का जप करते हैं।[3] तात्पर्य यह कि कबीर के अजपाजाप और वाहगुरुजाप में कोई अन्तर नहीं है।

सिक्खगुरुओं ने आचारवादी उच्च वर्गों और बादशाह के करों से क्लान्त जनता के लिए शासन के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। गुरु हरगोविन्द का नारा था—"गरीब को भोजन और अत्याचारी का नाश"। अपने "इलहाम" और चमत्कार के प्रयोग की सहायता से गुरुओं ने असन्तुष्ट जनता को सगठित किया और अपनी अर्धसज्जित सेनाओं से सामन्तों के छक्के छुड़ाए। जब भी "यह सेना जीत जाती, लोग बादशाह से यह कहते "यह फकीरों का कमाल है।" गुरु इस प्रकार सामान्य जनता के रक्षक बन गए। सगठन में युद्ध का समावेश होने पर गुरु गोविन्दसिंह ने चडीमहात्म्य लिखा और एक पर्वत पर देवी का विशाल यज्ञ किया क्योंकि चडी युद्ध की देवी थी, अतः गुरु गोविन्द सिंह की कविताओं पर शाक्त प्रभाव दिखाई पडता है। इस नई परिस्थिति में वामाचार की भक्ति को स्वीकार नही किया गया। वस्तुतः वामाचार तक साधक, समाज की शृंखलाओं का विरोध करते करते पहुँच जाते थे। गुरु गोविन्द सिंह का शक्तिवाद मार्कंडेय पुराण पर आधारित है जिसमें देवी का युद्धविजयी और असुर नाशक रूप ही प्रधान है।

भाई गुरुदास ने सिक्खधर्म के सिद्धान्तों का गूढ़ विवेचन करते हुए लिखा

---

१ मैकलिफ, जिल्द २, पृ० ६०

२ वही, पृ० १०४

३ मैकलिफ, जिल्द २, पृ० २५६

है कि सिक्ख सन्त साधना *"आन्तरिकसाधना"* है। *बाहर से सामान्य जन की तरह आचरण करो और भीतर से तत्व में लवलीन रहो, यही वास्तविक साधना है।* सच्चे गुरु का अर्थ ब्रह्म है, उसीको पहचान करनी चाहिए। इस गुरु शिक्षा से ही जातिवाद का नाश हो सकता है जैसे पान, चूना, कत्था आदि मिलकर एक ही लाल रंग में परिणत हो जाते हैं वैसे ही सभी जातियों को मिलकर एक हो जाना चाहिए। सन्तमत वेद व कुरानमतो से श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि उसमें भेदभाव नही है। तीर्थमूर्तिपूजा व बाह्य योग क्रियाएं तथा वेष आदि व्यर्थ हैं। केवल ध्यान *या जप ही पर्याप्त है। यह ध्यान व जप तान्त्रिक योगियों* से ही सन्तों को मिला था।

यद्यपि सिक्खसंत संसार के प्रति वैराग्य जगाते हैं किन्तु स्त्री अर्धांगिनी तथा मुक्तिदात्री मानते हैं। वैराग्य का उपदेश केवल आसक्ति के नाश के लिए है, संन्यास ले लेने के लिए नही। कबीर भी यही मानते है। गुरुदास ने लिखा हैं कि संन्यासियों के दस सम्प्रदाय तथा जोगियों के १२ सम्प्रदाय भिक्षा मागते हुए घूमते हैं। *यह लज्जाजनक व्यवहार है। गृहस्थधर्म की श्रेष्ठता ही* सिक्ख घोषित करते है। सिद्ध सरहपाद की प्राचीन परम्परा यथावत् सन्तो मे मिलती है। जिस तरह सरहपाद अपने समय के सभी धर्मों के पाखंडो का खंडन करते हैं वैसे ही गुरुदास कहते हैं—

"सुन्नी, शिया तथा रफजी, प्रपंची हैं, ईसाई, ज्यू आदि घमंडी है। योरोपियन, आर्मीनियन *तथा तुर्क भी अभिमानी हैं, गुप्तमंत्रदान देने वाले भी* झूठे हैं। गुरहरराय ने कहा था कि वेद से नानक बड़ा है।"[1]

गुरुहरराय ने मंत्र के प्रभाव को स्वीकार किया है। जैसे सूर्य की किरण पड़ते ही मक्खन पिघल जाता है उसी प्रकार मंत्र का प्रभाव हृदय पर पड़ता है।[2] गुरु गोविन्दसिंह ने शक्तिपात के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उसके अनुसार बिना ईश्वर की कृपा के जीव मुक्त नही हो सकता।[3]

गुरु गोविन्दसिंह के विषय में लिखा गया है कि उन्होने एक *नया धर्म* चलाया था क्योंकि हिन्दु मुसलमान अन्धविश्वासो और भेदभाव के समर्थक थे।

---

१ मैकलिफ-गुरुदास का विस्तृत उपदेश द्रष्टव्य, जिल्द, पृ० २४१ से २८६ तक

२ वही, पृ० २८६

३ वही, जिल्द १०, पृ० २७३ से २८६

गुरु व उनके साथियों ने हिन्दू मुस्लिम मन्दिर व मस्जिदों को धरती पर फैला दिया तथा वेद, पुराण, षड्दर्शन व कुरान को रद्द कर दिया।

इस प्रकार कबीर की तरह सिक्ख सन्त भी समाज की असंगतियों को दूर करना चाहते थे। प्रश्न होगा कि खंडन मंडन के अतिरिक्त भावात्मक रूप में सन्तों का योगदान क्या था ? उत्तर होगा कि व्यवस्था न बदलने पर भी क्या उस व्यवस्था को अधिकाधिक मानवीय बनाने का प्रयत्न व्यर्थ है ? प्रतिपक्षी उत्तर देगा कि असंगतियाँ तो व्यवस्था बदलने पर ही दूर हो सकती थीं, उदाहरण के लिए बिना औद्योगीकरण के जातिवाद समाप्त नहीं हो सकता, यह सही है परन्तु यह भी सही है कि मध्यकाल में जातिवाद व बाह्याचार-विरोधी आन्दोलनों के कारण उच्च वर्ग के नेताओं को भी अनेकानेक सुविधाएँ देनी पड़ी। वैदिक परम्परा के संन्यासी व भक्त भी भक्ति के क्षेत्र में "हरि को भजै सो हरि को होई" का सिद्धान्त मानने लगे। दूसरी ओर समाज के सम्मुख यह स्पष्ट हो गया कि सामान्य मानवतावादी गुणों के विकास के लिए शास्त्रीय विषय आवश्यक नहीं थे। अतः इस युग में ऐसे सन्त सम्प्रदाय मिलते हैं जिनमें हिन्दू मुसलमान सभी शामिल हुए थे। स्पष्ट ही मुसलमानों में सभी नवमुस्लिम नहीं थे और न सन्त सम्प्रदायों में शामिल होने वाले हिन्दुओं में सब शूद्र ही थे। इस प्रकार साम्प्रदायिक दुराग्रह कम होगया और समाज कुल मिलाकर सामाजिक समीकरण की ओर बढ़ा। यदि ऐसा न होता तो १८५७ की राज्यक्रान्ति में जो सभी विश्वासों की एकता व सहिष्णुता दिखाई पड़ती है, वह सम्भव न होती। इस एकता की पृष्ठभूमि के रूप में सन्तों के ऐतिहासिक योगदान का अनुमान लगाया जा सकता है। सन्त परम्परा का साथ पकड़ कर ही उत्तर भारत में सतनामी किसानों और पंजाबी किसानों व व्यापारियों ने सिक्खमत के रूप में संगठित होकर सामन्तवाद के विरुद्ध विद्रोह किए थे। ऐतिहासिक दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण सन्त आन्दोलन तान्त्रिकयोग, अजपाजाप, ध्यानयोग, नामजप, गुरुभक्ति, शास्त्र-विरोध, शक्ति-जागरण, सहजमार्ग आदि तत्वों से बना था।

सन्त कवियों के पूर्व नाथपंथी कवि इन तत्वों को वाणी दे चुके थे। नाथकवि तत्व को 'अगम' कहते हैं, वह ऐसा है कि न उसे बस्ती कह सकते हैं और न शून्य। वह आकाश मंडल में बोलने वाला बालक है।[1] इस पद्धति

---

[1] गोरखबानी डा० बड़थ्वाल, पृ० १

पर तत्व को तर्क की कोटियो मे परे बताने की प्रवृत्ति बौद्ध महायानियो मे भी मिलती है, यह हम देख चुके है। यही परम्परा नाथ कवियों ने स्वीकार की है।

नाथ कवियों की साधना पद्धति पर कुंडलिनीयोग या पिंड ब्रह्मांड साधना के रूप मे तान्त्रिक प्रभाव था। नाथकवि तत्व का निवास सहस्रार चक्र मे ही मानते हैं। यही वह गुप्त है। तीनों लोकों की रचना यही से हुई है।[१] साधना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने पर नाथकवियो को भी अनहदनाद सुनाई पडता है जो सार का भी सार और गम्भीर से भी गम्भीर है।[२] वीर्य की निम्न गति को रोक कर ऊर्ध्वरेतस् साधना का प्रचार नाथ साधको मे मिलता है।[३] अजपाजाप, शून्य मे मन को लीन करना, ब्रह्मानुभूति रूपी अग्नि मे अपने भौतिक अस्तित्व की आहुती डालना,[४] आदि तान्त्रिक प्रक्रियाएँ यहाँ स्वीकृत हैं।

नाथ साधकों ने कहा है "शब्द ही ताला है (नादयोग), वही परमतत्व को बन्द किये हुए रहता है, शब्द की धारा ही सूक्ष्म परमतत्व पर स्थूल आवरणो को डालकर सृष्टि का निर्माण करती है। इसलिए मूल अधिष्ठान तक पहुँचने के लिए शब्द की धारा पकड कर वापस आना पडता है। गुरु के शब्द मे भी परम तत्व रहता है जो उसी के चिन्तन और मनन से खुलता है। आन्तरिक शब्द या नाद का जागरण इसी शब्द के कारण होता है। जब इस प्रकार स्थूल शब्द के द्वारा सूक्ष्म शब्द से परिचय होता है तब स्थूल शब्द सूक्ष्म मूल शब्द मे समा जाता है।[५] उन्मनावस्था मे लीन रहना चाहिए, किसी से अपना भेद नही कहना चाहिए और अमृत के झरने पर अमृत पीना चाहिए।[६] षोडश कला वाली नाडी इला मे चन्द्रमा का प्रकाश है। और द्वादश नाडी वाली पिंगला मे भानु का। सहस्रनाडी सुषुम्णा मे प्राण का मूल है, यहाँ असख्य कला वाले शिव का स्थान है।[७] परमानुभव

---

१ गोरखवानी डा० बडथ्वाल पृ० २
२ वही पृ० ५
३ वही, पृ० ७
४ वही, पृ० ७ तथा ८
५ वही, पृ० ८
६ वही, पृ० २३
७ वही, पृ० ३३

हो जाने पर न निरति है, न सुरति है, न योग है, न भोग है।[1] नाद और बिन्दु दोनों को बजा लो, अनाहत रूप बाजे को भरो और उसमें संगीत ध्वनि निकालो।[2] कुंडलिनी शक्ति जब उलट कर ब्रह्मांड में पहुँच जाती है और नख से शिख तक सर्वांग में वायु भर जाती है तब उलटा सहस्रारस्थित चन्द्रमा राहु को ग्रस लेता है।[3] आत्मानन्द ही स्वर्ग है, श्वास क्रिया रूप धौंकनी से उसे धौंका जाता है, इससे ब्रह्मानन्द रूपी रस जम जाता है। अजपाजाप द्वारा चंचल मन स्थिर हो जाता है।[4] मूल ओंकार के अभिव्यक्त रूप नाम ही में, ब्रह्मा विष्णु और महादेव लीन हैं। महेश्वर अच्छी तरह इस नाम की रक्षा करो। नादानुसंधान ही सबका सार है।[5] सहज ही जीन है, पवन ही घोड़ा है, लय ही लगाम है और सब उपायों को छोड़कर सवारी करते हुए गुरु ज्ञान तक पहुँचो।[6] अनाहतनाद सर्वत्र भरा है, अगोचर मूल तत्व आकाशमंडल या ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित है, उसे वहीं ढूंढो। शरीर रूप जो नगरकोट है उसमें कई मार्ग हैं किन्तु कुंडलिनी राजद्वार पर मार्ग को रोके खड़ी हुई है।[7]

उपर्युक्त कतिपय गोरखपंथी पदों के सारांश से यह स्पष्ट है कि सन्त कवियों के पूर्व योगी, गुरुतत्व, नादानुसन्धान, कुंडलिनी जागरण, बिन्दु साधना, अजपाजाप, चक्रवेध, उन्मनावस्था की प्राप्ति तथा सहज तत्व की उपलब्धि आदि का ही उपदेश देते थे और ये सब तत्व तान्त्रिक कुण्डलिनीयोग के अनुवाद मात्र हैं। यहाँ लक्ष्य करने योग्य तथ्य यह है कि राग और आध्यात्मिक आनन्द में यहाँ द्वन्द्व स्वीकार किया गया है, जैसा कि संन्यासमत में स्वीकृत था। हठयोगी राग के दमन में विश्वास करते हैं, किन्तु फिर भी यत्रतत्र उनमें आसक्तिरहित होकर सामान्य जीवन बिताने पर जोर दिया गया है—

---

१ गोरखबानी, पृ० ३८
२ वही, पृ० ६२
३ वही, पृ० ७८
४ वही, पृ० ६१
५ वही, पृ० १०३
६ वही, पृ० १०३
७ वही, पृ० १६७

हसिबा खेलिबा, रहिबा संग, काम क्रोध न करिबा संग।
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत, दिढ करि राखि आपना चीत।[1]

अन्यत्र सहज जीवन पर भी सन्तकवियो की तरह बल दिया गया है।

"थाये न खाइबा भूखे न मरिबा, अहिनिस लेबा ब्रह्म अगिन का भेवं।"
हठ न करिबा पड़या न रहिबा, यूं बोल्या गोरख देवं।[2]

अर्थात् खाने पर टूट नहीं पड़ना चाहिए। रात-दिन ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित रखना चाहिए, शरीर के साथ हठ नही करना चाहिए और न पड़ा ही रहना चाहिए। सहजमार्ग निर्देशक इन वचनो से स्पष्ट है कि हठयोग के अतिरिक्त गोरखनाथ पंथ के साधक सहज जीवन को भी अन्तिम लक्ष्य के रूप मे स्वीकार करते हैं। कबीर भी योग का उपदेश देते नही थकते और साथ ही अन्त मे सहज जीवन को ही आध्यात्मिक जीवन का पर्याय कहने लगते हैं। उच्च मानसिक स्थिति के कारण वह यह सम्भव मानते हैं कि एक स्थिति मे आकर जीवन की सामान्य क्रियाएँ ही साधनाएँ बन जाती है, अलग से कोई उपाय नही करना पड़ता।

इसके अतिरिक्त यह भी याद रखना चाहिए कि गोरखपंथियो मे केवल तान्त्रिको का कुंडलिनी योग ही स्वीकृत न था, अपितु कुछ वामाचारी क्रियाएँ भी स्वीकृत थीं। उदाहरण के लिए वज्रोली, तथा अमरोली विधियों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वज्रोली करते हुए अमरोली की रक्षा करे और अमरोली करते हुए वायु की रक्षा करे और भोग करते हुए वीर्य की रक्षा करे, योनि मुख मे जो बिन्दु की रक्षा करता है तथा अग्नि के ऊपर पारे की रक्षा करता है, वही वास्तविक गुरु है—

वजरी करंतां अमरी राखै, अमरि करंतां बाई।
भोग करतां जे ब्यंद राखै, ते गोरख का गुरुभाई,
भगमुखि ब्यंद अगिनि मुखि पारा।
जो राखै सो गुरु हमारा॥

वज्रोली की एक विधि 'योगतत्वोपनिषद्' मे इस प्रकार दी हुई है कि काँस के पात्र मे गौ के दूध को रखकर वज्रोली तुल्य लिंग नाल द्वारा उसे ग्रसित करे और पुनः उसका रेचन कर दे, अभ्यास हो जाने पर स्त्री

---

१ गोरखबानी, पृ० ३
२ वही, पृ० १२

हो जाने पर न निरति है, न सुरति है, न योग है, न भोग है।[१] नाद और बिन्दु दोनों को बजा लो, अनाहत रूप बाजे को भरो और उसमें संगीत ध्वनि निकालो।[२] कुंडलिनी शक्ति जब उलट कर ब्रह्माण्ड में पहुँच जाती है और नल से शिव तक सर्वांग में वायु भर जाती है तब उलटा सहस्रारस्थित चन्द्रमा राहु को ग्रस लेता है।[३] आत्मानन्द ही स्वर्ग है, श्वास क्रिया रूप धौंकनी से उसे धौंका जाता है, इससे ब्रह्मानन्द रूपी रस जम जाता है। अजपाजाप द्वारा पवन का स्थिर हो जाता है।[४] मूल ओंकार से अभिव्यक्त रूप नाम ही में, ब्रह्मा विष्णु और महादेव लीन हैं। गहेजकर अच्छी तरह इस नाम की रक्षा करो। नादानुसंधान ही सबका सार है।[५] सहज ही जीन है, पवन ही घोड़ा है, लय ही लगाम है और सब उपायों को छोड़कर सवारी करते हुए गुरु ज्ञान तक पहुँचो।[६] अनाहतनाद सर्वत्र भरा है, अगोचर मूल तत्व आकाशमंडल या ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित है, उसे वहीं ढूंढ़ो। शरीर रूप जो नगरकोट है उसमें कई मार्ग हैं किन्तु कुंडलिनी राजद्वार पर मार्ग को रोके खड़ी हुई है।[७]

उपर्युक्त कतिपय गोरखपंथी पदों के सारांश से यह स्पष्ट है कि संत कवियों के पूर्व योगी, गुरुतत्व, नादानुसंधान, कुंडलिनी जागरण, बिन्दु साधना, अजपाजाप, चक्रवेध, उन्मनावस्था की प्राप्ति तथा सहज तत्व की उपलब्धि आदि का ही उपदेश देते थे और ये सब तत्व तांत्रिक कुण्डलिनीयोग के अनुवाद मात्र हैं। यहाँ लक्ष्य करने योग्य तथ्य यह है कि राग और आध्यात्मिक आनन्द में यहाँ द्वन्द्व स्वीकार किया गया है, जैसा कि सन्यासमत में स्वीकृत था। हठयोगी राग के दमन में विश्वास करते हैं, किन्तु फिर भी यत्रतत्र उनमें आसक्तिरहित होकर सामान्य जीवन बिताने पर जोर दिया गया है—

---

१ गोरखबानी, पृ० ३८
२ वही, पृ० ६२
३ वही, पृ० ७८
४ वही, पृ० ९१
५ वही, पृ० १०३
६ वही, पृ० १०३
७ वही, पृ० १६७

हसिबा खेलिबा, रहिबा संग, काम क्रोध न करिबा संग।
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत, दिढ करि राखि आपना चीत।[1]

अन्यत्र सहज जीवन पर भी सन्तकवियों की तरह बल दिया गया है।
"धायें न खाइबा भूखे न मरिबा, अहिनिस लेबा ब्रह्म अगिन का भेवं।"
हठ न करिबा पड़्या न रहिबा, यूं बोल्या गोरख देवं।[2]

अर्थात् खाने पर टूट नहीं पड़ना चाहिए। रात-दिन ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित रखना चाहिए, शरीर के साथ हठ नहीं करना चाहिए और न पड़ा ही रहना चाहिए। सहजमार्ग निर्देशक इन वचनों से स्पष्ट है कि हठयोग के अतिरिक्त गोरखनाथ पंथ के साधक सहज जीवन को भी अन्तिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं। कबीर भी योग का उपदेश देते नहीं थकते और साथ ही अन्त में सहज जीवन को ही आध्यात्मिक जीवन का पर्याय कहने लगते हैं। उच्च मानसिक स्थिति के कारण वह यह सम्भव मानते हैं कि एक स्थिति में आकर जीवन की सामान्य क्रियाएं ही साधनाएं बन जाती है, अलग से कोई उपाय नहीं करना पड़ता।

इसके अतिरिक्त यह भी याद रखना चाहिए कि गोरखपंथियों में केवल तान्त्रिकों का कुंडलिनी योग ही स्वीकृत न था, अपितु कुछ वामाचारी क्रियाएँ भी स्वीकृत थी। उदाहरण के लिए वज्रोली, तथा अमरोली विधियों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वज्रोली करते हुए अमरोली की रक्षा करे और अमरोली करते हुए वायु की रक्षा करे और भोग करते हुए वीर्य की रक्षा करे, योनि मुख में जो बिन्दु की रक्षा करता है तथा अग्नि के ऊपर पारे की रक्षा करता है, वही वास्तविक गुरु है—

बजरी करतां अमरी राखै, अमरि करतां बाई।
भोग करतां जे ब्यंद राखै, ते गोरख का गुरुभाई,
भगमुखि ब्यंद अगिनि मुखि पारा।
जो राखै सो गुरु हमारा॥

वज्रोली की एक विधि 'योगतत्वोपनिषद्' में इस प्रकार दी हुई है कि काँस के पात्र में गौ के दूध को रखकर वज्रोली तुल्य लिंग नाल द्वारा उसे ग्रसित करे और पुनः उसका रेचन कर दे, अभ्यास हो जाने पर स्त्री

---

१ गोरखबानी, पृ० ३
२ वही, पृ० १२

योनिमण्डल म वीर्य छोडकर, रज के साथ उस वीर्य को ऊपर खीच ले, यही वज्रोली है।

अमरोली की विधि और भी भयकर है। अमरोली म योगी मूत्रपान करता है। नासिका द्वारा मूत्र की प्रथम और अन्तिम धारा को छोडकर मध्यधारा का नासिका द्वारा पान कर।[1] यहा मध्य धारा से मध्यमार्ग अर्थात् "सत्य मध्य स्थित है", यह भी सकेतित है किन्तु अमरोली विधि और वज्रोलीविधि दोनो का एक ही उद्देश्य प्रतीत होता है—भोग करते समय निलिप्तता।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि हठयोगियो में भी कम से कम कुछ साधनाएँ अवश्य वामाचार से सम्बंधित थी। आगे चलकर सत कवियों में अधिकतर योगी गृहस्थ होते गय, फलत उनम सिद्धियो का चमत्कार प्रदर्शन उलट बानियो के रूप म कहे गय पदो में ही विशेष रूप से दिखाई पडने लगा। वज्रोली विधि के प्रदर्शन द्वारा चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति लुप्त होने लगी। इसीलिए सन्त कवियो म वामाचार को छोडकर शेष सारी प्रवृत्तिया मिलती हैं।

गोरखपथियों ने भी पाखड का घोर खडन किया है। कबीर ने इसी प्रवृत्ति के अनुसार अवधूत को सम्बोधित कर जो पद कहे हैं उससे लगता है कि वह हठयोग के विरोधी थे किन्तु हठयोग के आन्तरिक रूप का खडन सत कवियों मे नही मिलता। स्वय नाथपथियो म पाखड कम नही था, इसलिए उनके पाखड का खडन सतो ने किया है। स्वय गोरख पथिया ने पाखडी हठयोगियों का खडन किया है—

> पाखण्डी सो काया पखालै उलटि पवन अगिन प्रजालै।
> ब्यद न देई सुपनें जाए, सो पाखण्डी कहिए तत समान ॥[2]

अर्थात् वास्तविक योगी पाखडी नही होता, यदि उसे पाखडी कहते हो, तो उसे ऐसा पाखडी होना चाहिए कि उसे काया का प्रक्षालन करना चाहिए और पवन को उलट कर अग्नि प्रज्वलित करना चाहिये और वीर्य का नाश कभी नही करना चाहिए।

गोरखवानी मे केवल शारीरिक अनुशासन की कठोर निन्दा की गई है—

---

१ योग उपनिषद् मे सकलित, योगतत्वउपनिषत—सम्पा० महादेव शास्त्री, मद्रास, १९२०, पृ० ३८४, ८५

२ गोरखबानी, पृ० १७

पावड़ियां पग फिलसैं, अवधू लोहे छीजंत काया।
नागा मुनी दूधाधारी, मता जोग न पाया।
दूधाधारी परघरि चित्त नागा लकड़ी चाहे नित।
मोनीं करै म्यंत्र की आस, विन गुर गुदड़ी नहीं वेसास।

कबीर भी इसी तरह "अवधू" को सम्बोधित कर साधना का आभ्यातरिक पक्ष ही समझाते हैं। अतः उससे यह समझना कि कबीर हठयोग नही मानते थे, गलत है।[1]

इस प्रकार गोरखबानी में संकलित पदो के साथ कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि के हठयोग सम्बन्धी पदो को मिलाने पर कोई अन्तर नही दिखाई पडता। संतकवियो मे आतरिक अनुभूति पर बल अधिक है, यह अन्तर अवश्य दिखाई पडता है। सिद्धान्ततः यह आन्तरिक अनुभूति हठयोग मे भी स्वीकृत ही है जैसा कि उपर्युक्त पदो मे दिखाई पडता है।

गोरखबानी मे संकलित पदो मे जो काव्य का स्वरूप मिलता है, उससे भी सन्त काव्य के हठयोग पर काव्य का अद्भुत सा दृश्य मिलता है। लम्बे लम्बे रूपको की परम्परा जिनसे हठयोगपरक अर्थ निकलते हैं, गोरखबानी मे मिलते है।

कबीर के काव्य मे जो हठयोग वर्णित है वह उनके गुरु रामानन्द द्वारा भी स्वीकृत था, ऐसे प्रमाण मिलने लगे हैं। विद्वानो का कहना है कि योगियो ने रामानन्द के नाम से हठयोगपरक पद प्रचलित कर दिये। किन्तु रामानन्द जैसे संगठनकर्त्ता के लिए यह असम्भव नही था कि यह योगियों की परम्परा को भी स्वीकार कर लेते। उनके शिष्यो मे योगी, वैरागी और वैष्णव भक्त सभी प्रकार के साधक शामिल थे। रामानन्द की रचनाओ मे कबीर की रचनाओ के साथ सादृश्य दिखाई पडता है—

निरंजन व श्रीराम—ओ३म् सत्य अनादि पुरुष सत्य सत्य गुरु
संध्या तारणी सर्व दुःख विदारणी
संध्या उच्चरे, विघन टरे
पिंड प्राण की रक्षा श्रीनाथ निरंजन करे।[2]

---

१ नाथपन्थी सिद्धों के माध्यम द्वारा शैव तंत्र तथा योग के अनेक मान्य सिद्धान्त सन्तों तक पहुँचने मे कृतकार्य हुए हैं—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, अध्याय-तांत्रिक धर्म, बलदेव उपाध्याय।

२ रामानन्द की हिन्दी रचनाएं डा० बड़थ्वाल, काशी, फं०२०१२ वि०,पृ० ४

कुंडलिनी योग — बांधिया मूल वेलिया अरधून
गगन गरजंत धुनि ध्यान लागा
त्रिगुण रहित सील सन्तोष में,
श्रीराम रक्षा लिये ओंकार जागा।
उलट सूर गगनभेदन किया
नवग्रह डंक छेदन किया
पोषिया चंद जहं कला सारी
अगनि परगट भई छुरा भेदन जरी
डंकिनी संकिनी घेरि मारी।[1]

एक विशेष बात यह है कि जिन पदों का साधारणत प्रेमपरक अर्थ किया जाता है, सन्त-सम्प्रदायों मे उनका हठयोगपरक अर्थ भी स्वीकृत है।

राम नैनों में रम रहे, मरम न जाने कोई
जिसके मिलिया सतगुरु ताके, पूरा महरम होई।[2]

ये पंक्तियां रामानन्द के "योगचिन्तामणि" से ली गई हैं। इनका अर्थ इस प्रकार किया गया है। "आंखो का योग मे अपना ही अलग महत्व है। भूमध्य दृष्टि आंखों का ही अभ्यास है, जिसमे दोनो भवो के बीच के स्थान पर दृष्टि लगानी पडती है। रामानन्द ने इसी को दोनो आंखो को बाण बनाकर भौंहो को उलट कर धनुष खीचना कहा है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि राम आंखो मे रमता है, किन्तु उसका कोई मर्म नही जानता।[3]

रामानन्द ने जो कबीर को उपदेश दिए हैं, उनमे प्राणायाम से ऊर्ध्वरेतस्-योग की भी शिक्षा है, जिसे हम "वज्रोलीविधि" के उपर्युक्त वर्णन मे देख चुके हैं। "प्राणायाम आदि से ऊर्ध्वगामी हुए रेतस् को पवन ब्रह्मरन्ध्र मे सोख लेता है, ऐसा हो जाने पर नाद बिन्दु की ग्रन्थि मे मन बंध जाता है और उसकी चंचलता मिट जाती है, भंवरगुहा मे निवास मिल जाता है, इला, पिंगला,

---

१ रामानन्द की हिन्दी रचनाएं-डा० बड़थ्वाल, काशी, सं० २०१२ वि० पृ० ४
२ वही, भूमिका भाग, पृ० ५
३ वही, पृ० ५

सुषुम्ना में, चन्द्र सूर्य का एक घर में मेल हो जाने से मन को उपराम हो जाता है, जगत् के ऊपर विजयलाभ हो जाता है।[1]

रामानन्द ने भी कबीर की तरह बाहरी साधना में लगे हुए हठयोगियों और रोज़ा, व्रत, तीर्थ, वेद, कुरान आदि में विश्वास करने वालों की भर्त्सना की है। उनका कहना है कि सुषुम्ना की घाटी में होने वाली लड़ाई में तत्व का परामर्श साधना के लिए अनिवार्य है, क्योंकि इसके बिना साधनायें फल नहीं देती।

पछिम दिसा की घाटी, फौज खड़ी है ठाढ़ी।
सतगुरु साह बिराजै, नौबत नाम की बाजै।[2]

प्रायः लोग समझते हैं कि कबीर का रामनाम जप एक साधारण सी स्मरण प्रक्रिया है, किन्तु ज्ञान लीला में रामानन्द ने सुमिरन का महत्व बताते हुए लिखा है कि यह भीतर का प्रयत्न है। सुरति मन का परमात्मा की ओर उल्टा प्रवाह है। तत्व के ध्यान में रत हो जाने पर अर्थात् सुरति द्वारा तत्व का स्पर्श हो जाने पर उत्पन्न स्थिति का नाम है "निरति"। यहाँ शुद्ध प्रेम का सहारा मिल जाता है।[3] यह स्थिति हो जाने पर ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार 'रामनाम' जप योग की आन्तरिक क्रिया से सम्बन्धित है।

रहस्यवाद—रामानन्द की रचनाओं में कबीर जैसा रहस्यवाद भी मिलता है। वह ऐसे स्थान का वर्णन करते हैं जहाँ बिना दीपक के अखंड ज्योति झिलमिलाती है, जहाँ मोतियों की झालरें और हीरों की चमचमाहट मिलती है

सन्तो बंदगी दीदार, सहज उतरो पार।
सोहं सब्दं सो कर प्रीत, अनुभव अखंड घर जीत।
साधू खेले नटकला, दृष्ट बंद का खेल।
ज्योति अखडी झिलमिली, बिन बाती बिनु तेल।
मोती की झालर लगी, हीरो का परगास।
चन्द्र सूर्य का गम नहीं, जहाँ जू दर्शन पावै दास।[4]

---

१ रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ डा० बड़थ्वाल, काशी, सं० २०१२ वि० पृ० ५

२ वही, भूमिका पृ० ६

३ रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, भूमिका, पृ० ७, ८

४ „ „ हिन्दी रचनाएँ, पृ० १ से १६ तक

कम से कम रामानन्द की रचनाओं से इतना स्पष्ट है कि सन्त कवियों को कुंडलिनी योग इष्ट था ।

सन्तभक्ति का स्वरूप—सन्त कवियों की वर्णाश्रम विरोधी तथा योगपरक भूमिका स्पष्ट हो जाने के पश्चात् यह देखें कि उसमें कौन-कौनसी विचार धाराएँ आकर मिली हैं ।

सन्तभक्ति के सम्बन्ध में डा०रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि "मुसलमानी धर्म का प्रभाव सूफी मत द्वारा प्रचारित प्रेमकाव्य के अतिरिक्त सन्त काव्य पर भी पड़ा, जिसकी रूपरेखा सूफी मत से बहुत कुछ मिलती जुलती है।" उनके अनुसार हिन्दू धर्म की मूर्ति पूजा से सम्बन्ध रखने वाली प्रवृत्ति तो किसी प्रकार मुसलमानों को सह्य हो ही नहीं सकती थी । "हिन्दू धर्म के उपासकों के सामने यह जटिल प्रश्न था जिसका हल उन्होंने सन्तमत में पाया । इसके प्रवर्तक महात्मा कबीर थे । कबीर ने हिन्दू धर्म के मूल सिद्धांतों को मुसलमानी धर्म के मूल सिद्धान्तों से मिलाकर एक नये पंथ की कल्पना की थी जिसमें ईश्वर एक था, वह निर्गुण, सगुण से परे था । माया अद्वैतवाद की ही माया थी जिससे आत्मा और परमात्मा में भिन्नता का आभास होता है । गुरु की बड़ी शक्ति थी, वह गोविन्द से बड़ा था आदि । सूफी मत में भी खुदा या हक एक है, जीव उसका ही स्वरूप है, वह निराकार है । उसकी व्याप्ति संसार के प्रत्येक भाग में है । साधक को साधना की अनेक स्थितियों को पार करना पड़ता है । इस तरह दोनों धर्मों के मेल से एक नवीन पन्थ का प्रचार हुआ जो सन्तमत के नाम से पुकारा गया ।[1]

डा० वर्मा यह नहीं देख सके कि स्वयं सूफी मत में प्राप्त होने वाले तत्व गुरु का महत्व, साधना की कठिनाइयाँ तथा एक ही तत्व के सर्वत्र दर्शन भारतीय तत्व हैं । हम देख चुके हैं कि सूफियों में कुंडलिनीयोग, नामजप, मादनभाव तथा चमत्कार आदि तत्वों का स्वरूप तान्त्रिक ही है क्योंकि एक ही स्रोत से सूफियों और सन्तों को यह तत्व मिले हैं, अतः उनमें सादृश्य होना स्वाभाविक ही है । ब्रह्मानन्द को प्रेमानुभूति का रूप देकर वर्णन की प्रवृत्ति सूफियों में अवश्य अधिक है, विशेषकर दिव्यप्रिय के विरह में तड़पन की प्रवृत्ति, सन्तों पर इसका अवश्य प्रभाव पड़ा है परन्तु अन्य तत्वों के लिए सन्तमत तान्त्रिक परम्पराओं का ही ऋणी है, सूफियों का नहीं ।

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-पृ० १६४, १६५

डा० बडथ्वाल ने संतमत की भक्ति के स्रोत पर विचार करते हुए प्राचीन नारायणीय भागवत धर्म को ही सबसे अधिक श्रेय दिया है। दक्षिण में भक्ति का प्रचार वैष्णव आलवारो के अतिरिक्त 'नायनमार' कहलाने वाले शैवो तथा कर्नाटक के वीरशैवमतावलम्बी भक्तो ने भी किया है अतः भक्ति का सम्बन्ध विष्णु के साथ जितना रहा है, उतना ही शिव के साथ रहा है। रामानुज ने केवल वैष्णव आलवारो को ही स्वीकृत किया था क्योंकि उनके समय शैव और वैष्णवो मे साम्प्रदायिक घृणा थी। वैष्णव भक्ति का रामानुज और रामानन्द तक जो विकास हुआ है, उसमे भक्ति-योग और ज्ञान का अविरोध दिखाई पडता है किन्तु निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, हरिदास तथा हितहरिवंश के सम्प्रदायो मे यद्यपि शास्त्र निष्ठा मे विश्वास प्रकट किया गया है तथापि भक्ति और सगुणब्रह्म का महत्व निर्गुण ब्रह्म और ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया गया है। वल्लभ सम्प्रदाय मे तो ज्ञान व कुडलिनी योग का उपहास तक किया गया है जबकि शैव भक्ति के साथ योग और ज्ञान का सम्बन्ध शैव सम्प्रदायो मे सर्वदा दृढता के साथ माना गया है। दक्षिण मे 'नायनमार' शैवो, वीर शैवो तथा उत्तर के शैवो और शाक्तो मे न कही ज्ञान की निन्दा मिलती है और न योग की क्योकि शैव शाक्त सम्प्रदायो मे ज्ञान के बाद भी ब्रह्मभाव की स्थिति स्वीकार की गई है। ब्रह्म के सत् चित् और आनन्द-इन तीन रूपो मे सत् और चित् तत्व के साथ आनन्दस्वरूप की अनुभूति ज्ञान के पश्चात् भी हो सकती है ऐसा शैवो का विश्वास था अतः उनके यहाँ भक्ति की प्रशंसा और ज्ञान की निन्दा नही है। पाचरात्र आगम मे भी योग, भक्ति और ज्ञान मे अविरोध स्थापित किया गया है, किन्तु मध्यकाल के सगुण भक्तो में यह एक विशेष प्रवृत्ति विकसित हुई थी कि वे ज्ञान और योग की निन्दा करते है। इसके स्थान पर कबीर मे भक्ति और योग दोनो स्वीकृत है, यहाँ दोनो मे अन्तर है। सन्तो की निर्गुण भक्ति वस्तुतः सच्चिदानन्द ब्रह्म की भक्ति है। जिसमे देवता के रूप, वेष, अस्त्र, शस्त्र आदि के ध्यान तथा देवता के साथ तादात्म्य की जगह सूक्ष्म सत्ता का ही ध्यान किया जाता है और इस ध्यान मे कुडलिनी योग स्वीकृत है। परवर्ती सन्तो मे लोगो का ध्यान अवश्य मिलने लगता है। सगुण भक्तो मे प्रक्रिया दूसरी है। यहाँ इष्ट देवता है, उसकी शक्ति है, शक्ति की सखियाँ हैं और देवता के सखा, भाई और अनुचर आदि है। शक्ति सहित क्रीडाशील देवता मे रमना सगुण भक्तो की विशेषता है। इसके विपरीत सन्तो मे नाद बिन्दु के रूप मे व्यक्त होने वाली रूपहीन मूर्तियो

का अनुसन्धान होता है और जैसे जैसे सूक्ष्मता बढ़ती है, तत्व का स्पर्श होता जाता है, वैसे वैसे सन्त आनन्द से खिल उठता है, एक मस्ती उस पर छा जाती है, जो लय की स्थिति कहलाती है, अतः सन्तों की भक्ति "ज्ञानयोगलक्षणा भक्ति" है और सगुणों की भक्ति भावरूपा तथा रसरूपा है। इसलिए कबीर की भक्ति के आदि स्रोत के लिए नारायणीय भागवत धर्म के अतिरिक्त आगम की अन्य शाखाओं को भी देखना चाहिए।

वस्तुतः सगुण भक्ति व निर्गुण भक्ति ये दो धाराएं आगम से ही निःसृत हुई हैं किन्तु साधना की प्रक्रिया मे, दोनो मे उपर्युक्त अन्तर अवश्य है। सगुण भक्तों पर पांचरात्र आगम का विशेष प्रभाव है और सन्तो की भक्ति पर शैवागमों का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है क्योंकि कबीर मे योग और ज्ञान भक्ति के साथ स्वीकृत है। जहाँ सगुण भक्तों ने आगमो के शक्तिवाद को 'सृष्टि' की व्याख्या के लिए अपनाया है वहाँ सन्तों ने शक्तिवाद को शक्ति-साधना के रूप मे अपनाया है जिसमे कुंडलिनी शक्ति का जागरण मुख्य है। उधर शक्तिवादी सगुण भक्त शक्ति सहित देवताओ का ध्यान करते हैं। जहाँ आगमो मे रति क्रीडा को एक साधनात्मक प्रक्रिया के रूप मे अपनाया है, वहाँ सगुणभक्तो ने राम और कृष्ण की विलास क्रीडाओ का "मानसी ध्यान" ही अपने लिए पर्याप्त समझा है, किन्तु सन्तों मे इस प्रकार का मानसीध्यान स्वीकृत नहीं है। परवर्ती सन्तो मे अनेक लोकों और लोकपतियों का ध्यान किया जाता है, उनमे सगुणभक्तो जैसा मानसी ध्यान पुनः प्रवेश पाता है।

यह स्मरणीय है कि यद्यपि तुलसीदास ने विरति, विवेक, योग तथा भक्ति मे अविरोध स्थापित किया है परन्तु वहाँ योग मे सन्तो जैसा योग स्वीकृत नही और ज्ञान की जगह भगवान की कृपा को विशेष महत्व दिया गया है।

कबीर, सुन्दरदास, आदि सन्त शंकराचार्य के मायावाद को मानते हैं, अर्थात ब्रह्म और आत्मा मे अन्तर नही मानते और जगत को मायात्मक कहते है, जबकि सगुण भक्तो की प्रवृत्ति ईश्वरवाद की ओर अधिक है। यह स्मरणीय है कि जगत् के सम्बन्ध मे शंकराचार्य से दृष्टिकोण ही कबीर आदि ने लिया है। क्योंकि पिंड स्थित शक्ति के जागरण मे सन्तकवि शुद्ध तान्त्रिक परम्परा मे आते हैं।

सन्त कवियों मे 'प्रपत्तिवाद' अहिंसा, आचार की शुद्धता और ब्रह्म की जगह राम शब्द का प्रयोग, ये तत्व उन्हे वैष्णव रामानन्द मे प्राप्त हुए थे,

इसीलिए कबीर वैष्णव भक्तों के प्रति अत्यधिक आदर प्रकट करते हैं और शाक्तों की निन्दा करते हैं। यद्यपि वह स्वयं शाक्तयोग के प्रचारक है।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि कबीर ने रामानन्द से रामनाम की दीक्षा ली किन्तु 'राम' का अर्थ ही बदल डाला। रामानन्दी वैष्णव मूर्तिपूजक और सगुणउपासक थे, कबीर मूर्तिविरोधी और निर्गुण उपासक। वैष्णव भगवान से प्रेम करते हैं किन्तु भगवान के बनाये हुए मनुष्यों में भक्ति के क्षेत्र को छोड़कर अनावश्यक वर्णवाद व जातिवाद को मानते हैं किन्तु कबीर, सुन्दरदास आदि सन्तकवि वैष्णवों की संकीर्णताओं में से एक को भी नहीं मानते। किन्तु कबीर वैष्णवों के भगवान प्रेम, अहिंसा और सात्विक जीवन को मानते हैं परन्तु वैष्णवों के विराट बाह्याचार को वे हानिकर समझते हैं, इस प्रकार तान्त्रिक परम्पराओं के कारण कबीर आदि सन्तों ने सभी वैष्णव तत्व ग्रहण नहीं किये।

कबीर के पूर्व हठयोग का प्रभाव बहुत अधिक था किन्तु कबीर ने, 'योग और भक्ति दोनों को स्वीकार किया और सूफियों से भगवान के विरह में छटपटाहट की प्रवृत्ति ग्रहण की। सन्यासियों के सत्संग से उन्होंने तत्त्वमसि और माया सम्बन्धी दृष्टिकोण भी लिए जो शून्यवाद के अनुकूल पड़ने के कारण ग्रहण किये गये। यह स्मरणीय है कि कबीर ने ऐसा कुछ भी ग्रहण नहीं किया जो उनकी अपनी योग परम्परा के विपरीत जाता, अतः सन्तमत के निर्माण में सबसे अधिक श्रेय तान्त्रिक परम्पराओं को है। तान्त्रिक परम्पराओं का प्रभाव अधिक होने से सन्तकवि योगमूलक रहस्यवादी, समाज के कठोर आलोचक और अपने विशिष्ट मार्ग के आविष्कर्ता हैं।

सन्तमत एक वृक्ष के समान है, जिसका मूल बौद्ध तथा शैव तंत्रों में अवस्थित है। इस वृक्ष का तना नाथसिद्धमत है जो बौद्ध शैव योग परम्पराओं में पुष्ट हुआ है। इस तने के ऊपर सन्तमत की अनेक शाखाएँ हैं, अनेक पल्लव और पुष्प हैं। इस वृक्ष पर ऊपर से भक्ति की वर्षा होने से उसे एक नया जीवन मिला है, अतः इस वृक्ष के फल के स्वाद में और तान्त्रिक सम्प्रदायों को सधाना के आस्वादन में अन्तर आना स्वाभाविक ही है, परन्तु इस स्वाद में अन्तर होने पर भी सादृश्य इतना अधिक है कि सन्तमत को मूलतः तान्त्रिक मत ही मानना पड़ता है। सन्तमत में अन्य साधनाओं और धारणाओं की अन्तर्भुक्ति का स्वरूप उक्त रूपक से समझा जा सकता है।

निश्चित रूप से राधास्वामी सम्प्रदाय के 'शिवदयाल' जैसे सन्तों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनका सम्प्रदाय सर्वथा मौलिक है, किन्तु इस प्रयत्न में उनको सफलता नहीं मिली है, क्योंकि उन्होंने जो नवीन उद्भावनाएँ की हैं वे भी मूलतः तांत्रिक ही हैं।

सन्तकवि और साहित्य का कालक्रमानुसार संक्षिप्त विवरण

१ नामदेव—जन्म १२७० ई०, मृत्यु १३५० ई०, सतारा (महाराष्ट्र), जाति-छीपा या दर्जी, ज्ञानदेव[1] के शिष्य, रचनाएँ-स्फुट अभंग।

२ त्रिलोचन—जन्म १२६७ ई०, पंढरपुर (महाराष्ट्र), जाति-वैश्य, ज्ञानदेव के शिष्य, रचनाएँ—स्फुट पद

३ सदन—नामदेव के समकालीन, जाति कसाई, रचनाएँ स्फुट पद।

४ वेनी—नामदेव का समय, स्थान-उत्तर भारत।

५ धना—जन्म १४१५ ई०, देवली (राजपूताना), जाति—जाट, रचनाएँ—स्फुट पद।

६ पीपा—जन्म १४२५ ई०, स्थान - गगरौनगढ़, जाति-क्षत्रिय, गुरु - रामानन्द, रचनाएँ - स्फुट पद।

७ सेन—१५ वीं शताब्दी, जाति-नाई, बाधोगढ़, रीवा, रचनाएँ - स्फुट।

८ रैदास—कबीर के समकालीन, जाति-चमार, गुरु-रामानन्द, रचनाएँ—रविदास की बानी और रविदास के पद, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

९ कबीरदास—१५ वीं शताब्दी-जन्म संवत् १४५५ वि० अथवा १३९७-९८ ई० तथा मृत्युतिथि १५१२-१३ ई०, जाति जुलाहा, काशी, गुरु-रामानन्द, रचनाएँ—६१ रचनाओं का विवरण डा० रामकुमार वर्मा के इतिहास में दिया गया है।[2]
कबीर ग्रंथावली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९२८ ई०, बीजक, रामनारायण लाल प्रयाग, २ संस्करण, १९२८ ई०, अनुराग सागर—वेलवेडियर प्रेस, १९२७ ई०

---

१ ज्ञानेश्वरी का रचना-समय, १२९० ई० हिन्दी सा० का आलो० इतिहास पृ० १९८

२ वही पृ०, २४६

बीजक कबीर साहब - विश्वनाथसिंहजूदेव, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, संवत् १९६१ वि०

१० धरमदास—जन्म लगभग १४०० ई०, मृत्यु - १५४२ ई०, रचनाएँ—स्फुट पद, धरमदास की शब्दावली—वेल० प्रेस० प्रयाग, १९४७ ई० तृतीय संस्करण। स्थान बाधोगढ, जाति-महाजन, गुरु-कबीरदास

११ नानक—जन्म १४६९ ई० रचनाएँ—स्फुट पद व साखिया, गुरुग्रंथ-साहब मे संकलित, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबधक कमेटी द्वारा प्रकाशित, १९५१ ई० स्थान-पंजाब, जाति-खत्री

१२ मलूकदास—जन्म १५७४, स्थान-कडा (इलाहाबाद), जाति-खत्री, मृत्यु-१६८२ ई०, सम्प्रदाय केन्द्र—कडा, रचनाएँ—ज्ञानबोध, रामावतार लीला।

मलूकदास की बानी—वेल० प्रेस, प्रयाग।

१३ सुथरादास—जन्म-१५८३ ई०, स्थान-प्रयाग, गुरु-मलूकदास रचनाएँ—स्फुट पद।

१४ दादू—१६०१-१७०३ ई०। जाति-धुनिया, कुछ ब्राह्मण मानते हैं। जन्मस्थान-गुजरात। निवास, नराना, मराना (राजस्थान) रचनाएँ-स्फुट पद।

दादूदयाल की बानी—चद्रिका प्रसाद त्रिपाठी, अजमेर, १९०७ई०

१५ वीरभान—१५४३ ई०, स्थान-नारनौल-पंजाब

रचनाएँ—स्फुट पद, "पोथी" नामक सतनामी धर्म के पूज्य ग्रंथ मे संकलित।

१६ लालदास—जन्म-१६४३ ई०। स्थान-अलवर, लालदासी पंथ की स्थापना। रचनाएँ-स्फुट-"बानी"।

१७ *बाबालाल—जन्म-१६४३ ई०। जाति-क्षत्रिय। स्थान-मालवा।*
(दाराशिकोह के गुरु)
रचनाएँ-स्फुट।

१८ हरिदास—जन्म-१६४३ ई० डा० रामकुमार वर्मा ने इन्हे नारायणी सम्प्रदाय का प्रवर्तक कहा है।
रचनाएँ-स्फुट पद।

१६ स्वामी प्राणनाथ—जन्म-१६१८ ई० (मृत्यु १७१४ ई०) स्थान-बुंदेलखण्ड। प्रनामी व धामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक।
रचना-बानी।

२० रज्जब—१६५३ ई० के आसपास प्रसिद्ध। दादू के शिष्य।
रचनाएँ-स्फुट (बानी-बम्बई, १६१८ ई०)

२१ सुन्दरदास जन्म-१६५३ ई०, मृत्यु-१६८६ ई०। जाति-खंडेलवाल वैश्य। कार्यक्षेत्र—राजस्थान।
रचनाएँ-सुन्दरदास का बानी-विलास सुन्दरविलास, २ जिल्द, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्ता, १६३६ ई० सम्पा० पुरोहित हरनारायण।

२२ धरनीदास—जन्म-१६५६ ई० स्थान-मामलीगाव (छपरा), जाति-श्रीवास्तव कायस्थ, रचनाएँ—स्फुट (बानी-बेल० प्रेस, प्रयाग।

२३ यारीसाहब—प्रसिद्धितिथि-१६६८ ई०, गुरु-बीरू साहब, शिष्य बुल्लादास जाति-मुसलमान, स्थान-दिल्ली, रचना-स्फुट यारी साहब की रत्नावली—प्रकाशित, बेल० प्रेस, प्रयाग।

२४ दरिया साहब—(बिहार वाले)—१६७४ ई० प्रसिद्धि काल (स्थान आरा) जाति, मुसलमान, ग्रन्थ, दरियासागर, ज्ञान दीपक।

२५ दरिया साहब—(मारवाड़ वाले)—जन्म १६७६ ई०। (जाति-धुनियाँ)
रचनाएँ-स्फुट, दरिया साहब की बानी, बेल० प्रेस, प्रयाग।

२६ बुल्ला साहब—१७०० ई० के आसपास प्रसिद्धि। जाति-कुनबी।
स्थान भुरकुडा (गाजीपुर)।
रचनाएँ—स्फुट, बुल्लासाहब का शब्दसागर, बेल० प्रेस, प्रयाग, १६४६ ई० २ य संस्करण।

२७ गुलाल—१७०० ई० के लगभग, जाति-क्षत्रिय, स्थान, बसहरि (गाजीपुर), गुरु-बुल्लासाहब।
रचनाएँ—स्फुट, गुलाल साहब की बानी, बेल० प्रेस०, प्रयाग, २य संस्करण।

२८ केशवदास—१७०० ई० लगभग प्रसिद्धि (जाति-वैश्य) गुरु-यारी साहब।
रचनाएँ—अमीघूँट, बेल० प्रेस, १६५१

२९ चरनदास—१७०० ई० लगभग—प्रसिद्धिकाल, जाति-वैश्य, स्थान—अलवर। शिष्य—दयाबाई, सहजोबाई।
ग्रन्थ—अमरलोक, अखंडधाम, भक्तिपदारथ, ज्ञान सरोदय तथा शब्द।

३० बालकृष्णनायक—१७००ई० के लगभग प्रसिद्धि। चरणदास के शिष्य।
रचनाएं—ध्यानमंजरी, नेहप्रकाशिका, निर्गुणपंथी होकर भी सीताराम के उपासक।

३१ अक्षर अनन्य—१७१० ई० प्रसिद्धि काल, जाति-कायस्थ, स्थान-दतिया,
ग्रन्थ—राजयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग सिद्धान्तबोध, विवेक दीपिका तथा अनन्य प्रकाश।

३२ भीखासाहब—१७१३ ई० के लगभग—प्रसिद्धि काल, स्थान—बोहना, आजमगढ़ जाति—ब्राह्मण, ग्रन्थ—रामजहाज।
भीखा साहब की बानी—वेल० प्रे० प्रयाग, १९११ ई०

३३ गरीबदास—१७१७ में जन्म (स्थान-छुडानी-रोहतक)।
रचनाएँ—स्फुट पद (वेल० प्रेस०, प्रयाग)।

३४ जगजीवनदास—१७१८ ई० प्रसिद्धि काल (सतनामी पंथ के पुनर्गठन-कर्त्ता) जाति-चंदेल ठाकुर। स्थान-कोटवा। बाराबंकी व लखनऊ के बीच।
ग्रन्थ—ज्ञानप्रकाश, महाप्रलय, प्रथम ग्रन्थ।
जगजीवन साहब की बानी, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, वेल० प्रेस, प्रयाग, १९२२ ई०।
जगजीवन साहब की बानी, द्वितीय भाग, वेल० प्रेस, प्रयाग।

३५ रामचरण—१७१८ ई० लगभग-प्रसिद्धि काल। स्थान-जयपुर, मत-रामसनेही मत के प्रवर्तक।
रचनाएँ—स्फुट पद।

३६ दूलनदास—१७१८ ई० लगभग, प्रसिद्धि काल। जन्मस्थान-समैसी, लखनऊ कार्यक्षेत्र-रायबरेली,
रचनाएँ—स्फुट। बानी-वेल० प्रेस, प्रयाग।

३७ नारायणसिंह—१७२४ ई० लगभग, प्रसिद्धि काल। जाति-राजपूत, मत-शिवनारायणीमत के प्रवर्तक (रामकुमार वर्मा) मुगल सम्राट मुहम्मदशाह इनका शिष्य।

३८ दयाबाई तथा सहजोबाई—१७४३ ई०, स्थान-मेवात जाति-वैश्य ।
रचनाएँ—साखियां ।
सहजोबाई की बानी-सप्तम संस्करण, बे० प्रेस० प्रयाग १९४६ ई०, दयाबाई की बानी-बेल० प्रेस, प्रयाग ।

३९ रामरूप—१७५० ई० चरणदास के शिष्य ।
ग्रन्थ—बारहमासा ।

४० सहजानन्द—१७८० ई० में जन्म । स्वामी नारायणी पंथ के प्रवर्तक । स्थान-अयोध्या, कार्य क्षेत्र-गुजरात (वल्लभ-मत के भ्रष्टाचार का विरोध किया ।
रचनाएँ—स्फुट-सहज प्रकाश- बेल० प्रेस०, प्रयाग ।

४१ तुलसीसाहब (हाथरस वाले)—१७८८ ई० मे जन्म, जाति-ब्राह्मण, ग्रन्थ—घटरामायण, शब्दावली, रत्नसागर, बेल०प्रेस-प्रयाग ।

४२ पलटूदास—१७६३ ई० लगभग जाति-वैश्य स्थान अयोध्या (कार्यक्षेत्र)
रचनाएँ—पलटू साहब की बानी-बेल० प्रेस, प्रयाग ।

४३ गाजीदास—१८२० ई० जाति-चमार
/ रचनाएँ—स्फुट ।

४४ दीनदरवेश—विक्रम की १८ वी शताब्दी का मध्य भाग । स्थान-पाटन-गुजरात ।
रचनाएँ—स्फुट ।

४५ शिवनारायण—विक्रम की अठारहवी शताब्दी, स्थान-चन्दवनगाँव, गाजीपुर । जाति-क्षत्रिय ।
रचनाएँ—लवग्रन्थ, सतविलास, भजनग्रन्थ आदि ।

४६ शिवदयाल—जन्म-संवत् १८८५, आगरा, जाति-महाजन, राधास्वामी सम्प्रदाय प्रवर्तक, इस सम्प्रदाय की रचनाएँ-सारवचन, गद्यसार, प्रेमबानी ।

अध्याय ४

सन्त काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ

१

सन्त काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियां

दर्शन—बौद्ध तांत्रिक सिद्ध तथा शैव आध्यात्मिक सत्य को अनिर्वचनीय बताते हैं, वैसे ही कबीर भी उसे "वह जैसा है वैसा ही है, वही अपने को जानता है दूसरा नहीं," ऐसा कहते हैं।[1] कबीर परमतत्व को सगुण-निर्गुण से परे बतलाते हैं अतः नाथपंथियो की तरह उसे उन्होने अलग ही कहा है।[2] परमतत्व के प्रति यह दृष्टि कबीर को बौद्ध व शैव परम्पराओ से प्राप्त हुई थी। अश्वघोष ने 'तथता' (देटनेस) के सिद्धान्त द्वारा परमतत्व के अनिर्वचनीयत्व का प्रतिपादन किया था। शैव भी परमशिव की यही स्थिति स्वीकार करते हैं। नाथपंथी भी उसे सगुण-निर्गुण से ऊपर उठाकर अलग ही कहना चाहते है। यही दृष्टि कबीर की है। परशुराम चतुर्वेदी ने सगुण ब्रह्म व विराट रूप के विषय मे कबीर के अनेक उदाहरण एकत्र किये हैं, परन्तु उन्हे भी यह मानना पडा है कि कबीर न तो निर्गुणवादी कहे जा सकते हैं, न सगुणवादी।[3]

---

१ जो है जैसा वो ही जानै, ओही आहि-आहि नहिं जानै।
कबीर ग्रन्थावली, छठा संस्करण, सवत् २०१३, काशी, पृ० २४२

२ सन्तो धोखा कासूं कहिए, अजरा-अमरा कहै सबै कोई, अलख न कथणां जाई— वही, पृ० १४६

३ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा - संवत् २०८, प्रयाग पृ० १६४, ६५

आदि सत्य के स्वरूप के विषय में तो कबीर बौद्ध तान्त्रिकों की ही कथन-पद्धति अपनाते हैं, परन्तु शैवों व वेदान्तियों के ब्रह्म के समान वह ब्रह्म के सर्व-व्यापकत्व पर भी बल देते हैं। यहीं वह बौद्ध तान्त्रिकों तथा इस्लाम के एकेश्वर-वाद से भिन्न हो जाते हैं।[1] सर्व व्यापकत्व, सर्वशक्तिमता आदि को भी कबीर मानते प्रतीत होते हैं, परन्तु यह 'सर्व' क्या है, जिसमें परमतत्व व्याप्त हो रहा है? कबीर निश्चित रूप से जगत् को शांकर वेदान्तियों की तरह मिथ्या कहते हैं। हम कह चुके हैं कि यह दृष्टि शंकर से भी पूर्व बौद्ध सिद्धों में मिलती है। 'जगत् भाव है'—इस भाव का "है" की सत्ता प्रतीयमान है, इसी तरह "नहीं है" यह भी एक प्रकार का भाव ही है और इसीलिए यह भी प्रतीयमान है अतःअस्ति और नास्ति के बीच की स्थिति ही स्वीकृत हो सकती है। इसी स्थिति को--तर्क की कोटियों से अतीत स्थिति को ही बौद्धों ने 'शून्य' कहा था। कबीर भी इसी स्थिति को स्वीकार करते हैं।[2] डा० बड़थ्वाल ने लिखा है कि कबीर ने झुँझलाकर कह दिया था कि परमात्मा कुछ है भी या नहीं।[3] परन्तु कबीर तो प्रश्न पूछते-पूछते उसके उत्तर में शून्यपद की ओर ही संकेत कर रहे हैं। वह प्रश्न पूछते हैं 'तहाँ किछु आहि कि सून्य'? अर्थात् जहाँ निरंजन बसता है वहाँ किसी का अस्तित्व है या वहाँ अस्तित्व हीन शून्य ही है? इसका उत्तर कबीर यह देते हैं कि वहाँ 'शून्य' की सत्ता है जो अनस्तित्व का बोधक नहीं है। निरंजन जहाँ रहता है वह शून्यपद है, वह भाव और अभाव से परे होने के कारण ही शून्य कहलाता है। अतः कबीर झुँझला-कर नहीं कहते बल्कि बड़ी सावधानी से वह उस अनिर्वचनीय तत्व की ओर संकेत कर देते हैं।

सुन्दरदास व सहजोबाई की भी यही मान्यता है। उनके अनुसार अस्ति का अर्थ 'है' है। अर्थात् अस्ति का अर्थ है सीमित होना,=किसी पर अपनी सत्ता के लिए निर्भर रहना, नास्ति का अर्थ अभाव है। इनके मध्य की स्थिति ही

---

१ खालिक खलक-खलक में खालिक, सब घट रह्या समाई -- कबीर ग्रन्था०, पृ० १०४

२ कहै कबीर जहं बसहु निरंजन, तहाँ किछु आहि कि सून्यं-कबीर ग्रन्था० पृ० १४३।

३ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, प्रथम सस्करण, लखनऊ, २००७ वि० पृ० १०३

ग्रहण करनी चाहिए जिसे हम सहज कह सकते हैं।[1] जो सीमित नहीं है वही 'सहज' है, जो सहज है वही शून्य है क्योंकि वह अपनी सत्ता के लिए किसी पर निर्भर नहीं है। इस प्रकार कबीर के अनुसार ब्रह्म सहज है, निस्संग है, शून्य है। बोधिचित् या चैतन्य भी ऐसा ही है अतः आत्मा व ब्रह्म का स्वरूप एक है। जगत् अस्ति है अतः माया है, प्रपंच है, उसकी सत्ता प्रतीयमान ही हो सकती है, पारमार्थिक नहीं। इसी तथ्य को गोरखनाथ ने "बसती न शून्य' शून्यं न बसती" कहकर प्रकट किया था।[2] किन्तु यहाँ गोरखनाथ 'शून्य' का अर्थ 'अभाव' लेते हैं, यह स्मरणीय है। यही कारण है कि सन्तकवि पारमार्थिक सत्ता को विशेषण देना पसन्द नहीं करते।

"वह जैसा है, वैसा ही है,'[3] यही प्रसिद्ध महायानी 'तथता' का सिद्धान्त है। सत्ता के विषय में यही कहा जा सकता है, अस्ति या नास्ति जैसे प्रयोग भ्रामक हैं। यह स्मरणीय है कि 'परमतत्त्व' का यह स्वरूप शांकर वेदान्त के भी अनुकूल पड़ता है, क्योंकि महायान की दृष्टि शंकर को मान्य है। शंकराचार्य शून्य की जगह ब्रह्मपद का प्रयोग करते हैं। वह उसे निर्गुण निराकार कहकर वस्तुत. सर्वातीतावस्था या 'नेति-नेति' की ओर संकेत करते हैं।

कबीर ने कहा है कि वह अनिर्वचनीय तत्व मूल प्रणव का भी स्रष्टा है और मूलप्रणव को वेद भी नहीं जानता। वेद तो स्थूल प्रणव को जानता है अत. मूलप्रणव के भी प्रकटकर्त्ता सत्य को कौन जान सकता है? वहाँ न तारागण हैं, न रवि है और न चन्द्र है, उसका न कोई पिता है, न वहाँ दिवस है न रात्रि, वह सर्वथा निरालम्ब तत्व है। सहज शून्य जो ब्रह्मता के मन के स्मरण से ज्योति प्रकट होती है, वह भी सालम्ब होती है, योगीजन उसी का

---

१ नाहीं-नाहीं कर कहै, है है कहै बखानि। नाहीं 'है' के मध्य में, सो अनुभव करि जानि। ज्ञानसमुद्र, पृ० ४४,
'है' 'नाहीं' सूं रहित है, सहजो यौं भगवंत

२ गोरखबानी, डा० बड़थ्वाल, प्रथम संस्करण, १६६६ वि०, पृ० १०

३ जस तूं तस, तोहि कोइ न जान, लोग, कहैं, सब आनहि आन।
कबीर ग्रन्था० पृ० १०३
जोइ कहू सोइ, है नहिं सुन्दर, है तो सही, पर जैसे को तैसो।
ज्ञानसमुद्र,

ध्यान ब्रह्मांड में करते हैं। 'जो अनुभव ब्रह्म है', यह भी सालम्ब ही कहा जाएगा, क्योंकि उसका भी अनुभव होता है, अतः कबीर के अनुसार यह दोनों सालम्ब हैं। पुरुष अर्थात् वास्तविक सत्ता, इन सबसे परे निरालम्ब है।[1] विश्वनाथ सिंह ने कबीर बीजक की टीका में अन्त में बीजक का सिद्धांतसार यह बताया है कि सत्य पुरुष सगुण-निर्गुण से परे है।[2]

नानक भी कबीर की ही स्थिति स्वीकार करते हैं।[3] डा० बड़थ्वाल ने कबीर, दादू, सुन्दरदास, जगजीवनदास, भीखा और मलूकदास को अद्वैतवेदान्ती माना है और इन पर बौद्ध प्रभाव स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त नानक व उनके शिष्यों को भेदाभेदवादी तथा शिवदयाल, प्राणनाथ, दरिया द्वय, दीनदरवेश तथा बुल्लेशाह इत्यादि को विशिष्टाद्वैतवादी माना है।[4] शिवदयाल आदि अनक लोकों की कल्पना करते हैं यह सही है, किन्तु तान्त्रिकों के अनुसार लोकादि की कल्पनाएँ समझने समझाने के लिए हैं। यदि इस तान्त्रिक सिद्धान्त को न भी स्वीकार किया जाय तो लोकादि साधनावस्था में स्फुरित रूप मात्र हैं, उनसे रहस्यवाद ही पुष्ट होता है। अतः केवल बाह्य दृष्टि से ही उक्त विभाजन को स्वीकार किया जा सकता है।

बुल्ला यदि विशिष्टाद्वैतवादी हैं तो अरध, उरध के मध्य में ज्योति है, ऐसा क्यों कहते हैं।[5]

नानक बार-बार ब्रह्म को बाजीगर और जगत् को स्वांग कहते हैं।[6]

---

१ कबीर बीजक विश्वनाथ सिंह, पृ० ४६, ४७

२ वही, पृ० ६५७

३ लेखा होइ लिखिये, लेखै होय विणास।
नानक वडा आखिये, आपै जाणै आप।

४ डा० बड़थ्वाल, पृ० ११५

५ अधर, उधर के मद्ध निरतर, जगमग-जगमग जोति जगावन।
बुल्ला की बानी, पृ० १५

६ बाजीगरि जैसे बाजी पाई, नाना रूप भेख दिखराई।
सांगु उतारि थम्हिओ पसारा, तब एको एककारा—गुरुग्रन्थ साहब, पृ० ७३६

दरिया (बिहार वाले) के अनुशीलनकर्ता धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी भी दरिया को अद्वैतवादी ही मानते है।[1] यह सत्य है कि प्राय प्रत्येक सिद्धान्त के समर्थकों को सन्त कवियो मे अपने समर्थन के लिए उद्धरण मिल जाते हैं तथापि समग्र दृष्टि से देखने पर सन्तकवि जगत् के सम्बन्ध मे बौद्ध सिद्धो और वेदान्तियो की तरह मायावाद को ही मान कर चले है। यद्यपि सृष्टि विज्ञान मे वह शैवो की ही तरह शक्तिवाद को अपनाते है। जगत् को स्वाग समझ कर, *भाव और अभाव की स्थिति से परे शून्य या ब्रह्म का स्थिति ही प्रायः सभी* सन्तो को मान्य है। कारण कि यह ज्ञान सन्तो को गुरु-शिष्य परम्परा से मिला था। इस्लाम के विश्वासी शासको के शासन मे सन्तकवियो ने इस परमोच्चावस्था को इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है कि वह ऐकेश्वरवाद के सदृश प्रतीत होती है, किन्तु सन्त कवि वस्तुतः सर्वातीत सत्ता के विश्वासी है।

यारी साहब उसे "सुन्न का मुकाम" कहते हैं। वह "हद बेहद" के बाहर है।[2] सहजोबाई तो स्पष्ट ही इस हद व बेहद अर्थात् जगत् और जगत् के अनुभवो को इन्द्रजाल कहती हैं।[3] भीखा साहब भी अरध, उरध के मध्य ही सत्य की सत्ता स्वीकार करते हैं[4] और धरमदास तो स्पष्ट ही कहते हैं कि अरध, उरध के बीच एक बाग है, वही सुरति लगाना चाहिए।[5]

"कबीर मन्सूर" नामक ग्रन्थ मे भी स्वामी परमानन्द ने सत्य को हदबेहद से परे बताया है। उनका कथन है कि ब्रह्म को या तो निराकार कहा जाता है *या साकार, यह दोनो स्थितियाँ गलत है। यदि ब्रह्म को* निर्विकल्प कहा जाय तो वह अन्तःकरण का विषय नही रह जाता और यदि उसे सविकल्प कहा जाय तो वह चित्त का *विषय बन जाता है। यदि ज्यो का त्यो माना जाय* तो बुद्धि का विषय बन जाता है। द्वैत मन का विषय है, देहाभिमान

---

१ सन्तकवि दरिया - पटना, १९५४, पृ० ७४

२ सुन्न के मुकाम मे बेचून की निसानी है।
हद बेहद के बाहर यारी, सतन को उत्तम ज्ञान। यारी की रत्नावली, पृ० ६,२

३ सहजो की बानी, पृ० ३८

४ भीखाबानी, पृ० ४

५ अरध उरध बिच बागिया, तह सुरति लगावो।
धरमदास की बानी - पृ० ३१

अहंकार का विषय है। यदि आनन्द आदि कहेगा तो वायु का विषय है। यदि उसे रूप, प्रकाश ठहराया जाए तो वह अग्नि का विषय है। यदि उसे रस, प्रेम आदि कहा जाय तो वह जल का विषय बन जाएगा। यदि इन सबको ब्रह्म बतलाएगा तो यह सब भूत तत्त्व आदि सुन्द हैं। अतः "न कहीं (हिन्दुओं का) ब्रह्म है, न कहीं ईश्वर है, यह सब जीवों के संकल्प हैं। जीव सत्य है और सब भूठ। जैसे-जैसे वह आगे को सकल्प करके बैठ गया, आगे खोज करना दोष न रहा, वहाँ ब्रह्म का संकल्प करके बैठ गया। इसी को ब्रह्म स्वरूप निश्चय करके अपने विचार, विवेक और खोज को पूरा कर दिया और उसी को अन्त पद समझ बैठा, इस प्रकार यह जीव चौरासी मे पडा।[1]

तात्पर्य यह है कि कबीर के पूर्व तक हिन्दू, मुसलमानो आदि ने 'ब्रह्म' तक ही दौड लगाई थी और ब्रह्म मन की कल्पना मात्र है, इससे परे की स्थिति कोई नही जानता केवल सत कबीर ही जानते हैं, उस स्थिति को हम 'पारख' कह सकते हैं जिसे न ब्रह्म कहा जा सकता है न अन्य कुछ, यह अनिर्वचनीय है और अनुभवैकगम्य है। इसकी सिद्धि के लिए कबीरमन्सूर मे बताया गया है कि "तत् त्व और असि" ये तीनो पद जो वेदान्त मे बताए जाते हैं, ये तीनों भ्रम हैं। इन तीनो से भिन्न चौथा पद "पारख" है। पारख ही गुरु है जो उक्त वेदान्तीभ्रम को दूर कर वास्तविक तत्व की पहचान कराता है। अतः पारखगुरु ही तत्व का प्रकाश कर सकता है, उसे कहा नही जा सकता। पारखतत्व व गुरुतत्व एक ही है।

हिन्दुओ के ब्रह्म या सच्चिदानन्द ब्रह्म से उत्कृष्टता दिखाने के लिए कहा गया है कि उस परम सत्य मे न इच्छा थी न विषय वासना का बधन, न पशुवृत्ति थी वरन् इसका बडा प्रभाव व प्रकाश था। जब इसने अपने प्रकाश को देखा तब यह सोचने लगा कि मेरे सामान कोई दूसरा नहीं, मेरा रूप व गुण अनुपम है। ऐसा सकल्प होते ही इसको परम आनन्द प्राप्त हुआ। उस आनन्द मे वह अचेत होगया, अपने आपकी उसे कुछ भी सुध न रही। इसी अचेत अवस्था का नाम लोगों ने ब्रह्म सच्चिदानन्द' रख दिया।[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि नाथपंथी जोगियों की तरह सतकवि उस

---

१ कबीरमन्सूर - स्वामी परमानन्द, बम्बई, १६०२, पृ० ११४८
२ कबीरमन्सूर, पृ० ११५२

परमसत्ता को कोई नाम नहीं देना चाहते[1], महायानी अश्वघोष, नागार्जुन तथा अन्य महायानी तान्त्रिक बौद्धों की भी यही स्थिति है, इसीलिए परवर्ती सन्तमत में भी "पारख" या सत्यपुरुष को "ब्रह्म" से एक डिगरी और ऊँच आसीन कर दिया गया है।

राम—सन्तों द्वारा प्रतिपादित परमार्थिक सत्ता के स्वरूप पर उनके द्वारा प्रयुक्त 'राम' शब्द से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कबीर कहते हैं कि सब जगत् जिसे दशरथ का पुत्र कहता है, उसका मर्म कुछ और ही है। तात्पर्य यह कि राम का वास्तविक तात्पर्य देश, काल से अतीत पारमार्थिक सत्ता है। अभिनवगुप्त कबीर से बहुत पूर्व ऐसी ही व्याख्या कर चुके थे। उनके अनुसार जड व अजड विश्ववैचित्र्य द्वारा क्रीडा करने वाला तत्व राम है।[2] स्पष्ट ही राम से परमशिव या परब्रह्म का तात्पर्य गृहण किया गया है। प्राण व अपान अथवा भाव व अभाव इन दोनों अवस्थाओं को छोड़कर 'मध्यदेशस्थ' होने से ही (सुषुम्ना-मार्ग द्वारा) साधक 'रामस्थ' होता है, यही स्थिति कबीर के 'राम' की है।

स्वयं कबीर के शिष्यों ने जो कबीर को सगुणपरक नाम दिए हैं, उनका अर्थ भी वस्तुतः सर्वातीत सत्ता या सत्यपुरुष ही है। कबीर के कुछ नाम कबीर मन्सूर से यहां दिये जाते हैं—ज्ञानी, अजर, अमर, अचिन्त्य, अम्बरपुरवासी, अदली, अमी, पुहुपपुराण, हसपति, प्राणनाथ, बन्दीछोड, परिचय, सहीछाप, विहगम, योगजीत, नौतम, जन्दा, अम्बूद्वीप, अनाजदराला, गगपुरुष आदि।[3] जिस प्रकार राम से 'दशरथसुत' का अभिप्राय नहीं लिया जा सकता, उसी प्रकार कबीर के पर्यायवाची शब्दों से सगुणपरक अर्थ नहीं लिया जा सकता। केवल साधना के लिए सगुणपरक शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

आत्मा—चेतना का वास्तविक रूप प्रपच से रहित है। प्रपच का अर्थ है, वृत्ति। वृत्ति-प्रवाह से रहित चेतना का नाम ही आत्मा है। बौद्ध तान्त्रिक तथा शैव-साधक भी इसे मानते हैं। बौद्ध इस चैतन्य के लिए विज्ञान या बोधिचित्त नाम देते हैं। शून्यवादी इस चैतन्य को निष्प्रपच ही मानते हैं किन्तु आत्मा नाम उन्हें स्वीकार्य नहीं है क्योंकि उससे एक स्थिर, अविनाशी सत्ता

---

१ जोई था सोई हुआ, देखा सुन्न मंझार-केशवदास - अमीघूट, पृ० १

२ तन्त्रालोक, आ० १, पृ० १२०

३ कबीर मन्सूर, पृ० ३८५

का बोध होता है। विज्ञानवादी तान्त्रिक बौद्ध प्रपंचरहित किन्तु क्षण-क्षण परिवर्तित चेतना को विज्ञान कहते हैं किन्तु आत्मा के विषय में सामान्य स्थिति यह है कि पदार्थों की सृष्टि उसी के द्वारा होती है, आत्मा से भिन्न पदार्थ नहीं, यह तान्त्रिक बौद्धों का मान्य सिद्धान्त है। कबीर की आत्मा शांकर वेदान्त के सदृश है, जो माया के अध्यास से जगत् की सृष्टि कर लेती है अतः प्रपंच रहित चेतना ही आत्मा है। बौद्ध तान्त्रिक इसे ही सहज कहते हैं। सम्पूर्ण धर्मों का अकृत्रिम लक्षण ही सहज है। धर्म या पदार्थ का लक्षण यह है कि वे निःस्वभाव हैं। ऐसा ज्ञान हो जाने ही चेतना शुद्ध रूप में प्रकट होती है अतः भाव-अभाव से परे, वेद्य-वेदक से परे वृत्तिरहित चेतना ही आत्मा है। शंकराचार्य व कश्मीरी शैव भी निष्प्रपंच चेतना को ही आत्मा मानते हैं भले ही वे तान्त्रिक बौद्धों की तरह उसे क्षण-क्षण परिवर्तनशील न मानते हों। अतः आत्मा का निष्प्रपंच रूप ही 'सहज' है, शुद्ध प्रज्ञा की स्थिति भी यही है।[1]

सहज—निष्प्रपंच चेतना का ही नाम सहज है, यह हम देख चुके हैं। हमने देखा है कि कश्मीरी शैव सहज शब्द का अर्थ शक्ति या चित्शक्ति का 'अप्रतिहतरूप से स्फुरण'-यह अर्थ करते हैं। वे सहज को ही स्वयंभू कहते हैं क्योंकि अव्यक्त परमसत्ता 'नाद' के रूप में निरन्तर रूपेण सकल पदार्थों में व्यक्त हो रही है—अतः निर्बीज रूप से व्यक्त होने के कारण ही इसे सहज कहा गया है। अव्यक्त सत्ता की यह नाद रूप में अभिव्यक्ति विकल्परहित होने पर ही अनुभव में आती है अतः सन्तकवि बार-बार सहज शब्द द्वारा विकल्परहित स्थिति के ही अनुभव पर बल देते हैं और इसी सहजावस्था की प्राप्ति के लिए वे नादानुसंधान भी करते हैं। सामान्यतः 'सहज' का अर्थ सरल होता है, इस अर्थ में भी सहज शब्द का प्रयोग सन्तकवि करते हैं क्योंकि वे उक्त विकल्प रहित चेतना के अनुभव के लिए सहजज्ञान या प्रातिभज्ञान को ही पर्याप्त मानने के कारण बाह्य कठोर साधना का विरोध करते हैं। प्रातिभ या सहजज्ञान पर आधारित होने से

१—मन में निर्गुन गति। निष्प्रपंच। जो आवे, हानि न होय जीव की कबहू।
गुलाल की बानी, पृ० २
मन ही सं मन पाइल, मोहहि परल भुलाय—वही, पृ०५०
सुन्न सहज मन सुमिरते, प्रगट भई एक जोति,
ताहि पुरुष बलिहार मैं, निरालंब जो होता। कबीर बीजक, रामनारायण लाल, प्रयाग पृ० ५६

कारण ही सन्तकवि अपनी साधना को दुष्कर नही सहज कहते हैं। स्पष्ट ही सहज की यह व्याख्या तान्त्रिक परम्परा से ही सन्तों को प्राप्त हुई है। सहजयानी भी सहज का अर्थ, प्रातिभज्ञान ही करते हैं, ज्ञानरहित सहज या सरल जीवन व्यतीत करने मे सन्तों द्वारा प्रयुक्त सहज शब्द का तात्पर्य नही है, ज्ञान हो जाने पर ही जीवन सहज हो सकता है।

सम्पूर्ण सन्त साधना चेतना को प्रपचरहित करने की साधना है ताकि स्वरूपस्थिति प्राप्त हो। यही स्थिति सहज की स्थिति है।

डा० बडथ्वाल सहज का अर्थ प्रातिभज्ञान ही स्वीकार करते हैं।[1] कबीर इस प्रातिभज्ञान द्वारा बिना किसी कठोर वाह्य साधना के ही विषय-वासना पर विजय को 'सहज' कहते हैं।[2] सहजज्ञान द्वारा ही सुत, वित, कामिनी और काम लुप्त हो जाते है और तत्व के साथ एकता स्थापित हो जाती है।[3] प्रातिभज्ञान उत्पन्न होने पर ही तत्व के साथ एकता के लिए प्रेरणा स्फुरित होती है अतः दादू सहज को सरोवर और प्रेम को तरग कहते हैं।[4] प्रातिभज्ञान उत्पन्न होजाने पर जब तत्व चेतना मे स्फुरित हो उठता है तब वैराग्य होता है। क्या इस स्थिति मे सन्यास अनिवार्य है ? कबीर तान्त्रिको की तरह ही कहते हैं कि नही, इन्द्रियो के विषयो का नाश सहजज्ञान द्वारा हो यह अनिवार्य नही है और न आवश्यक हो। सहजज्ञान तो वही है जिससे इन्द्रियो का स्पर्श होता रहे, परन्तु ऐन्द्रिय रस ज्ञान म बाधक न बने। प्रातिभज्ञान उदित होन पर ऐन्द्रिक जगत् तत्वज्ञान म सहायक हो जाता है, यह शुद्ध तान्त्रिक दृष्टिकोण है।[5] सुन्दरदास भी सहज को शून्य का मेल कहते हैं क्योंकि प्रातिभज्ञान का उदय होते ही विकल्प नष्ट होने लगते हैं।[6]

---

१ हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १४६

२ सहज, सहज सबको कहै, सहज न चीन्हे कोइ।
जिन्ह सहजें विषिया तजी, सहज, कहीजै सोइ—कबीर ग्रन्था० पृ० ४१

३ सहजै सहजै सब गए, सुत वित कामिणि काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा राम ॥—वही, पृ० ४२

४ दादू सरवर सहज का तामे प्रेम तरग—डा० बडथ्वाल, पृ० १४६

५ सहज सहज सब कोउ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
पांचो राखै परसती, सहज कही जै सोइ ॥—कबीर ग्रन्था० पृ० ४२

६ सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ६२६, कलकत्ता, सवत् १९९३, सम्पा० हरनारायण

प्रातिभज्ञान उदित हो जाने पर कष्ट सहने की आवश्यकता नहीं रह जाती, फिर तो प्रत्येक कार्य उस प्रातिभज्ञान को सीख ही करता है अतः सुन्दरदास सुख से सोते हुए सहज समाधि लगाने में विश्वास करते हैं, विविध उपाय करने की आवश्यकता वह नहीं अनुभव करते।[1] सहजज्ञान होने के बाद ज्ञानी व अज्ञानी की क्रिया एक हो सकती है परन्तु अज्ञानी विकल्पपीड़ित रहता है जबकि ज्ञानी आशा और निराशा से परे रहता है।[2]

जगजीवनदास भी संयोगी व योगी में आन्तरिक चित्त की सहज अवस्था का ही भेद मानते हैं, क्रिया का नहीं। चित्त लक्ष्य पर रहने से उसके अनुसार बाह्य क्रिया कुछ भी हो सकती है।[3] तांत्रिक भी इसी स्थिति को 'अन्तर्लक्ष्ये बहिर्दृष्टि' कहते हैं। कबीर भी यही कहते हैं कि सहज ज्ञान द्वारा योग व भोग का विरोध मिट जाता है किन्तु भोग में यदि चित्त ज्ञानहीन होगया तो नाश निश्चित है।[4] गुलाल साहब भी सुरति और अविनाशी की एकता के लिए 'सहज सुभाव' को आवश्यक मानते हैं।[5]

इस प्रकार सन्त ज्ञान को महत्व देते हैं क्रिया को नहीं। प्रत्यभिज्ञान या 'परचा' हो जाने के बाद सन्यास लेने या गृहस्थ जीवन व्यतीत करने में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। सहजज्ञान द्वारा ही सन्तकवि तांत्रिकों की पद्धति पर ही मनोवैज्ञानिक गति से क्रमशः ऐन्द्रिक अनुभव को पारमार्थिक अनुभव का सहायक बना लेते हैं। इसके लिए वैराग्यमूलक चित्त की अवस्था आवश्यक है। राग को परमार्थ का साधक बनाने के लिए सन्त इसीलिए वैराग्य का उपदेश देते हैं। शैव-तांत्रिकों में इसके विपरीत वैराग्य-

---

१ विविध उपाय करि जागत जगत् सब, सोवे सुखसुन्दर सहज की समाधि में—वही, पृ० ६१०

२ वही, पृ० ६३७

३ सहज सुभाव रहै कौनउ विधि, अन्तर बिसरै नाहि।
जस जोगी, तस अहै सजोगी, भक्त सोई जग माहिं ।। जगजीवनबानी, प्रथम भाग, पृ० ११५

४ कबीर का बीजक, रामनारायण लाल, पृ० ३०३

५ सहज सुभाव को खेल बन्यो है, फगुआ बरनि न जाय।
सुरति सुहागिनि उठि उठि लागहि, अविनासी के गात।—गुलालकी बानी, पृ० ४

निन्दा मिलती है अतः सहजज्ञान की परम्परा तो बौद्ध-शैव तथा शाक्तों में समान है परन्तु वैराग्यमूलकता बौद्ध तान्त्रिकों में विशेष मिलती है किन्तु यह वैराग्य राग को संयमित करने के लिए है, राग के नाश के लिए नहीं, यह स्मरणीय है। शैव-शाक्त वैराग्य से इतनी भी सहायता नहीं लेते क्योंकि उनके यहाँ प्रत्येक प्रकार का आनन्द ब्रह्मानन्द का ही एक रूप है अतः ऐन्द्रिक आनन्द का भोग प्रातिभज्ञान के जाग्रत हो जाने पर स्वतः सहायक बन जाता है।

जगत्—बौद्ध तान्त्रिकों ने जगत् को सांवृतिक सत्य अथवा पूर्व जन्म के संचित संस्कारों के कारण विज्ञान में स्थित विभिन्न रूपों का प्रक्षेपण कहा है। सन्तकवियों में अधिकांश जगत् को सांवृतिक सत्य या मायामय ही कहते हैं। तात्पर्य यह कि शैव-शाक्त व पांचरात्रों का जगत्-विषयक दृष्टिकोण सन्तों में नहीं मिलता। किन्तु सृष्टि-विज्ञान अथवा लोक-कल्पना के पीछे बौद्ध दृष्टिकोण के साथ-साथ शैव दृष्टिकोण भी मिलता है।

सन्तों द्वारा सृष्टि की जो कल्पनाएँ की गई हैं, वे साधना के समय स्वतः स्फुरित अनुभूतियाँ मात्र हैं। बौद्ध तान्त्रिकों ने तो स्पष्ट ही कहा था कि देवी देवताओं की कल्पनाएँ मानसिक स्थितियों का मानवीकरण मात्र हैं। शैव भी इसे 'विकल्प-परामर्श' ही कहते हैं। विकल्प परामर्श से विकल्प का नाश होता है और अन्त में चेतना स्वरूप में स्थित हो जाती है। आणव-उपाय में शैव-साधक प्राण, देह तथा अनेक लोकों की कल्पनाएं करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि भुवनादि का वर्णन चेतना के ज्ञान के लिए है।[1] अतः सन्तों द्वारा लोकों की कल्पनाओं को अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं है। तान्त्रिक बौद्ध भी इसी तरह देवतादि को भी कल्पित मानते हैं।[2]

कबीर जगत् को विवर्त मानकर भी उक्त परम्परा से प्राप्त दृष्टि के कारण सांख्य दर्शन के पच्चीस तत्वों को मानते हैं। सुन्दरदास भी सांख्य दर्शन द्वारा ही प्रपंच की व्याख्या करते हैं।[3]

---

१ द्रष्टव्य—कश्मीरी शैवमत—देशाध्वा

२ „ तान्त्रिक बौद्धमत साकार निराकार अंश (बोधिचित् तथा देवता शीर्षकों में।)

३ प्रकृति पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई, प्रकृति तें महत्तत्व अहंकार है।
ऐसे अनुक्रम से शिष्यन सों कहत सुन्दर, यह सकल मिथ्या संसार है—
—सुन्दरविलास :

आभासवादी शैव, विवर्तवादी शंकर, अनारम्भवादी तांत्रिक बौद्ध तथा पांचरात्र वैष्णव-सभी सृष्टि–प्रक्रिया में नाद व बिन्दु की धारणाओं को स्वीकार करते हैं। कबीरदास नाद व बिन्दु को नाव तथा रामनाम को कर्णधार कहते हैं।[1] नादानुसंधान की योग-साधना में सभी सन्तकवि स्वीकार करते ही हैं। अनाहत नाद की खोज सन्तकवियों का मुख्य विषय है।

नाद-बिन्दु के विश्वासी मानते हैं कि सत्ता सर्वप्रथम नाद के रूप में ही व्यक्त होती है जो सर्वप्रथम एक बिन्दु का रूप धारण करता है और तत्पश्चात् उस बिन्दु का विस्तार ही यह जगत् है। शैव तो नाद व बिन्दु को विवर्त न मानकर आभास ही कहते हैं। सन्तकवि मंत्र को नादमय मानते हैं अतः उनका जप नादानुसंधान में सहायक होता है। यह सिद्धान्त सन्तों में तान्त्रिकों से आया है। दादू कहते हैं कि प्रथम उत्पत्ति 'ओंकार' रूप में होती है—उससे पंचतत्व तथा उससे पिंड की उत्पत्ति होती है।[2] कबीर कहते हैं कि ओंकार से जग उत्पन्न होता है। अनहद की वर्षा बजाकर वह गगन-मठ में छा रहा है।[3]

शिवदयाल ने अनेक लोकों और लोकपतियों की कल्पना की है। शिवदयाल सृष्टि का कारण राधास्वामी की 'मौज' को मानते हैं। यह शैवों द्वारा प्रतिपादित परमशिव की स्वच्छन्द इच्छाशक्ति का ही दूसरा नाम है। जिस तरह परमशिव की सृष्टि-इच्छा से शिव या ईश्वर सृष्टि करते हैं, उसी तरह शिवदयाल के राधास्वामी की मौज से 'निरंजन' सृष्टि करता है जो राधास्वामी के पद से बहुत नीचे का 'धनी' कहलाता है। राधास्वामी अलखपुरुष तथा अगम नामक लोकों को शुद्ध लोक माना गया है, जो माया से परे बताये गये हैं। इनके बाद सत्यपुरुष का लोक है जिसमें शुद्धमाया रहती है। यह शुद्धमाया और अशुद्धमाया का सिद्धान्त पांचरात्र दर्शन तथा शैव दर्शन में हम देख चुके हैं। सत्यपुरुष के बाद माया का रूप सोहंगपुरुष, परब्रह्म, ब्रह्म आदि लोकों में स्थूल होता हुआ निरंजन लोक में आकर अत्यधिक स्थूल

---

१ नाद ब्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार।
कहै कबीर गुण गाइले, गुर गम उतरौ पार॥ कबीर ग्रन्था० पृ० ६४

२ पहली कीया आप थैं, उत्पत्ती ओंकार।
ओंकार थैं ऊपजैं, पंचतत्व आकार॥

३ कबीर ग्रन्था० पृ० १२६

हो जाता है।[1] निरंजन इस माया से जगत् की सृष्टि करता है। परवर्ती कबीरपन्थ मे भी निरंजन का यही रूप स्वीकृत हुआ है। इस मत मे निर्गुण ब्रह्म से सत्यपुरुष को दो लोक ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है। निर्गुण ब्रह्म के बाद सुन्नलोक तथा भ्रमर गुफा है, फिर उनके ऊपर सत्यपुरुष विराजते हैं।[2] नानक ने धर्मखण्ड, शरमखण्ड व करमखण्ड मान लिए हैं और इन सबके ऊपर 'सचखंड' को प्रतिष्ठित किया गया है।

स्पष्ट ही इन पुरुषो व लोकों की कल्पनाओं की व्याख्या उक्त तान्त्रिक सिद्धान्त के आधार पर ही की जा सकती है कि ये सब कल्पनाएं केवल शिष्य की चेतना जाग्रत करने के लिए ही हैं। साधक को इन विचित्र और विविध लोकों व पुरुषो का 'अनुभव' हो सकता है और उस अनुभव का परिणाम है प्रातिभज्ञान की जागृति। अधिकारीभेद से जन सामान्य की साधना में क्रमसिद्धि के लिए नाना कल्पनाएं अवश्य करनी चाहिए, यह सच्चाई अभिनवगुप्त तंत्रालोक मे बार-बार दुहराते हैं। साधना के लिए अभिनवगुप्त भुवन, विग्रह ज्योति, ख (आकाश), शब्द और मन्त्र-इन छः के ध्यान को आवश्यक मानते हैं। भुवन का अर्थ भोगाधार रूप, लोकादि है। सन्तकवि भुवनसाधना के लिए ही विभिन्न लोकों और लोकपुरुषो की कल्पना करते हैं। प्रातिभज्ञान उत्पन्न न होने पर, भुवनसाधना आवश्यक है।

परवर्ती कबीर पन्थ में भुवन-साधना के लिए लोकों की कल्पनाएं और निरंजन

परवर्ती कबीरपन्थ मे अन्य परवर्ती सन्त सम्प्रदायो की तरह सृष्टि के सम्बन्ध मे 'मौलिक' समझी जाने वाली जो कल्पनाएं की गई हैं उनका आधार पुराण और तंत्र हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने परवर्ती कबीर पन्थ की मौलिक कल्पनाओं के सम्बन्ध मे लिखा है—"यह सारा बखेडा असल मे एक बडी पुरानी परम्परा का विकास मालूम पडता है।"[3]

यह पुरानी परम्परा निश्चित रूप से "तान्त्रिक परम्परा" है। "कबीर मन्सूर" नामक परवर्ती कबीरपंथी ग्रंथ मे उसके लेखक ने कबीरपंथ की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए विश्व के सभी धर्मों का आदि धर्म कबीरपंथ को ही बताया

---

१ डा० बडथ्वाल, पृ० १४३
२ वही, पृ० १०६
३ कबीर, पृ० ६३

है। यहाँ कबीर मत को सूक्ष्मवेद और ऋग्वेद यजुर्वेद आदि को स्थूलवेद कहा गया है।

सूक्ष्मवेद का कर्ता अनिर्वचनीय या शुद्ध चैतन्य है। कबीर मन्सूर इसे सत्य-पुरुष संज्ञा देता है। जिस प्रकार महायान मत में गौतम बुद्ध को अनिर्वचनीय सत्ता के रूप में परिणत कर दिया था और जिस प्रकार अन्य तांत्रिकों ने सांख्य के पुरुष प्रकृति को शिव-शक्ति के रूप में कल्पित कर परमशिव को अनिर्वच-नीय सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया था वैसे ही कबीरमन्सूर में कबीर को ब्रह्म का पद दे दिया है। कहा गया है सत्यपुरुष ही संसार का उत्पन्नकर्ता है, वह पवित्र है, वह कभी गर्भ में नहीं आता ....वह अद्वितीय और अपरिवर्त-नीय है—वेद की तो सामर्थ्य ही क्या है—सूक्ष्मवेद भी उसकी प्रशंसा करते करते मौनावलम्बी हो जाता है।[1]

सृष्टि की इच्छा उस सत्यपुरुष में उत्पन्न होते ही, वह सत्यपुरुष कबीर को उत्पन्न करते हैं। इन्ही कबीर ने सूक्ष्मवेद को उत्पन्न किया है। कबीर और सत्यपुरुष एक और अभिन्न हैं। सर्वप्रथम सहज, अंकुर, इच्छा, सुहंग, अचिन्त और अक्षर नामक छः पुत्र उत्पन्न किये गए। इन छः पुत्रों में अंकुर, इच्छा, सोहम्, अचिन्त्य, तथा अक्षर भारतीय शास्त्रों से उधार ली गई शब्दावली है।

सत्यपुरुष ने एक सातवां कालपुरुष उधार लिया। इन सातों पुत्रों को अलग द्वीपों का राज्य दे दिया गया। यह ब्रह्म सृष्टि अर्थात् शुद्धसृष्टि है।

यह उपर्युक्त "बखेड़ा" पाचरात्र आगम के प्रभाव का परिणाम है क्योंकि पाचरात्र आगम में शुद्ध व अशुद्ध सृष्टि की कल्पना की गई है। सत्यपुरुष के छटे पुत्र 'अक्षर' के "शब्द" से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति बताई गई है। वह हिरण्यगर्भ जल पर तैरता रहता था। इस अंडे में कालपुरुष उत्पन्न हुआ। इस अंडे पर लिखा हुआ था कि काल पुरुष निरंजन दुनिया में असंख्य वर्षों तक राज्य करेगा। फिर कबीर की कृपा से सब मुक्त हो जाएंगे।

यहाँ पुराण, तंत्र तथा बौद्ध महायान मत से कल्पनाएं उधार ले ली हैं। हिरण्यगर्भ पुराणों से, तंत्रों से शब्द या नाद तथा सकल लोकों को कबीर द्वारा मुक्ति दिलाने के संकल्प की कल्पना बौद्ध तंत्रों से ली गई है।

कालपुरुष या निरंजन भगवान के काम में बाधक हैं, इस निरंजन के नाम मनोरंजक हैं— काल, केत, संसार, ओंकार, निरंकार, निर्गुण, ब्रह्म, ब्रह्मा,

---

1 कबीर मन्सूर, पृ० ३

धर्मराय, खुदा, अल्ला, करीम, ब्रह्म, अद्वैत, केशव, नारायण हरि, हरी, विश्वम्भर, वासुदेव, जगदीश, जगन्नाथ, जगत्पति, राजेश्वर, परमेश्वर, ईश, विश्वनाथ, खालिक, रब, रब्बिल, आलमी तथा हक। मतलब यह है कि अन्य सभी धर्मों मे प्राप्त सभी पवित्र दिव्य पुरुष 'निरंजन' हैं, सत्यपुरुष तो इनसे परे ही है।[1]

स्पष्ट ही निरंजन की इस सृष्टि पर 'शैतानवाद' का प्रभाव है। कबीर-मन्सूर के निरंजन ने कुछ तत्व तो इस्लाम से लिये गए है और कुछ भारतीय माया के सिद्धान्त से।

निरंजन ने ब्रह्माजी की तरह उग्र तप करके सत्यपुरुष से पूछ लिया कि सृष्टि की सामग्री कूर्मजी के पेट मे है जिसके १६ सिर और ६४ हाथ हैं। निरंजन ने कूर्मजी पर आक्रमण कर उनके ३ सिर काट डाले, सारी सामग्री कूर्मजी के पेट से बाहर निकल पडी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पंचतत्व, तीन गुण आदि सब बाहर आ गये।[2]

सृष्टि रचना के लिए यह पद्धति बडी ही अभद्र रही अत: पुन: तंत्रो का आधार लिया गया और साथ ही तंत्रो की निन्दा भी की गई।

आदिभवानी की उत्पत्ति—सत्यपुरुष ने एक बालिका बनाई, इसका विवरण सूक्ष्मवेद मे है। इसका नाम 'आद्या' भी है। निरंजन ने इस आद्या को मुंह मे रख कर निगल लिया। तब जोगजीतजी प्रकट हुए और उन्होने सुरति के तीर से कालपुरुष को मारा तब उसके मुंह से 'आद्या' सकुशल निकल पड़ी। इसी आद्य भवानी के अधीन ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। वह निरंजन के साथ रहती है अतः उसमे निरंजन की बातें समा गई हैं। क्योकि आद्या ही 'बीजखेत' है अत: वह महाकाली भी कहलाती है और निरंजन महाकाल। कबीरमन्सूर मे इस 'आद्या' के सौन्दर्य का वर्णन शाक्तागमों से यथावत् उधार ले लिया गया है।

निरंजन ने आद्या से मना कर दिया था कि वह अपने पुत्रों अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश को उनके पिता निरंजन का नाम न बताये, तभी बेचारे हिन्दुओ को पता नही कि उनके तीनो देवताओ का पिता 'निरंजन' यानी शैतान है !!

यही नही वेद भी निरंजन की श्वास से उत्पन्न हुए हैं, उनमे उसने अपने

---

१ कबीर मन्सूर, पृ० १०,११
२ कबीर मन्सूर, पृ०११

विचारों को भी संयुक्त कर दिया है अतः वेदों में कुछ उत्कृष्ट हैं और कुछ निकृष्ट हैं—

सूक्ष्मवेद से स्थूल वेदों का जन्म

सूक्ष्मवेद—कबीर की गुप्त वाणी—ऋग्वेद (स्थूलवेद)
टकसारवाणी — यजुर्वेद (स्थूलवेद)
मूल ज्ञानवाणी — सामवेद ,,
बीजक — अथर्ववेद ,,

यह स्मरणीय है कि अभिनवगुप्त ने भी वेदादि शास्त्रों को स्थूल ही कहा है, क्योंकि उनमें सूक्ष्मतम् तत्वज्ञान नहीं है। गूढ़ अनुभूतियों पर आधारित सभी अवैदिक मत वैदिक मार्ग के विधि-निषेध तथा भेदभावयुक्त मार्ग की निन्दा के लिए जो तर्क अपनाते थे, वही तर्क यहाँ भी अपनाया गया है।

जिस प्रकार शाक्तों ने सारे देश को आम्नायों में विभाजित किया है, उसी के अनुकरण पर 'कबीर मन्सूर' में भी देश को विभाजित किया गया है—

ऋग्वेद प्रचारक — धर्मदास — भारतखंड (गढ बांधो)
यजुर्वेद प्रचारक — चतुर्भुजदास — दक्षिणदेश (कर्नाटक)
सामवेद प्रचारक — राय बंकेजी — पूर्वदेश (दरभंगा)
अथर्व० प्रचारक — हिरमीराम — पश्चिमप्रदेश (शाल्मली द्वीप)

यह जो निरंजन द्वारा सृष्टि रचना का उपक्रम कराया गया है, इसकी तान्त्रिकों की तरह ही सूक्ष्म व्याख्या भी की गई है—

"वेद का पिता ओउम् है। ओउम् की माता कुंडलिनीशक्ति है और यह कुंडलिनी महामाया जो नाभि के नीचे रहती है, सो यह साँप के सूरत की है और उसके मुँह से सर्प के फुफकार के सदृश जो शब्द निकलता है, उसी से हृदय स्वच्छ होता है और उसका फुफकार ही ओंकार है। यह नागिनी जो कुंडलिनी मारकर बैठी है, यही हृदय की स्वच्छता तथा निर्मलता का कारण है और यह हृदय ही काल पुरुष निरंजन है और इसी को बड़ा ब्रह्म कहा गया है। सो इस हृदय की माता कुंडलिनी शक्ति है और कुंडलिनी का पिता वह है जिसका वर्णन सीमा के बाहर है। सो कुंडलिनी प्रत्यक्ष दिखाई देती है कि यह सापिन है और सापिन का विष वासना है ..." यह विषय जिस हृदय में स्थिर होता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है तथा उसका आवागमन कदापि बन्द नहीं होता। जो विष घातक कुंडलिनी में है वही हलाहल प्राणनाशक ओउम् में है। ओउम् तथा कुंडलिनी केवल कहने को दो हैं पर वस्तुतः यह एक ही हैं और जो विष

ओउम् मे है वही वेदो में भी है""""जब वेद की उत्पत्ति विष से है तब फिर वेद विष से पृथक किसी प्रकार नही हो सकता है" ""कुंडलिनी तथा विष से जो उत्पन्न हो वह सब विषैला है—इस कुंडलिनी ने स्त्री और पुरुष होकर समस्त संसार को उत्पन्न किया है।[1]

इस बखेडे को जो शुद्ध तान्त्रिक है, कबीर की इन पंक्तियो से कबीर मन्सूर मे पुष्ट किया गया है—

अन्तरजोत शब्द इक नारी, हर ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी।

ताहि तिया भग लिंग अनन्ता, तेउ न जाने आदि व अन्ता।[2]

कबीर मन्सूर से यह भी पता चलता है कि कबीर पन्थियो ने अपनी सृष्टि रचना के विधान मे ब्रह्मा व शिव के सम्प्रदायो के आचारो आदि की निन्दा की है। विष्णु को अपेक्षाकृत कबीरपथियो ने विशेष महत्व दिया है। यद्यपि कबीर-पंथ मे शाक्तयोग को स्वीकार किया गया है तथापि वामाचार के कारण शैव सम्प्रदायो की निन्दा है।[3]

मायासृष्टि की कल्पना मे 'कबीर मन्सूर' आद्या-निरंजन के साथ ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश से भी काम लेते है और उनके बैकुंठो को भी स्वीकार किया गया है। ब्रह्मपुरी, कैलास, अमरावती, बैकुंठ आदि का वर्णन कबीर मन्सूर मे किया गया है परन्तु साथ ही सारी सृष्टि को 'भानमती का पिटारा' भी कहा गया है।[4] अर्थात् सारा जगत् कल्पित है वस्तुत. एक ही शुद्ध चैतन्य की सत्ता है।

इन उपर्युक्त लोको से 'सत्यलोक' को ऊपर रखा गया है। इसे सत्यपुरुष का स्थान कहा गया है। यही से कबीर साहब सत्यपुरुष का समाचार लेकर आया करते हैं। सूफी धर्म से श्रेष्ठता दिखाने के लिए इसका विवरण इस प्रकार दिया गया है—

१	सत्यलोक	सत्यपुरुष	जाहूत, आहूत से उच्चतर
२	सहजद्वीप	सहजपुरुष	आहूत, राहूत से ,,
२	अंकुर द्वीप	अंकुरपुरुष	राहू, बाहूत से ,,

---

१ कबीर मन्सूर, पृ० २०,२१

२ वही

३ वही, पृ० ३५ से ३७

४ कबीर मन्सूर, पृ० ३६

३	इच्छाद्वीप	इच्छापुरुष	गाहूत, बाहूत में	,,
४	सोहंगद्वीप	सोहंगपुरुष	बाहूत, हाहूत में	,,
५	अचिन्त्यद्वीप	अचिन्त्यपुरुष	हाहूत लाहूत में	,,
६	अक्षरद्वीप	अक्षरस्थान	लाहूत, मलकूत में	,,
७	भामरीद्वीप	निरंजन	जबरूत, मलकूत में	,,
८	बैकुंठ	विष्णु	मलकूत में	,,
९	दस अंशका स्थान	—	नासूत में	,,
१०	पृथ्वी व नासूत के मध्य यह पृथ्वी	—	देवताओं की पुरियाँ और सिद्धादि।	

इन लोकों में प्रथम लोकस्थित सत्यपुरुष उच्चतम लोकाधीश है। शेष सब उसके नीचे वाले लोकों में हैं। बेचारे विष्णु को आठवाँ स्थान मिला है और शेष देवताओं को सबसे नीचे डाल दिया गया है।

किन्तु यह स्मरणीय है कि लोकों की यह कल्पना धर्म की उत्कृष्टता दिखाने के लिए ही नहीं है अपितु साधना का भी यह एक आवश्यक अंग है। विभिन्न लोकों में पहले साधक का ध्यान केन्द्रित कराया जाता है और अन्त में साधक को बताया जाता है कि ये सब लोक मिथ्या हैं।

इन लोकों के अतिरिक्त दस स्थान और हैं —

१ सत्यपुरुष सोहंग
२ सहज सोहंग
३ अंकुर सोहंग
४ इच्छा सोहंग
५ सोहंग सोहंग
६ अचिन्त्य सोहंग
७ अक्षर सोहंग
८ निरंजन और माया सोहंग
९ ब्रह्मा–विष्णु–शिव सोहंग
१० समस्त जीव सोहंग

इनके विषय में कहा गया है कि गुरु उक्त स्थानों में जिस स्थान की सूचना देगा, उसी स्थान को शिष्य पहुँचेगा।

उक्त दस स्थानो के निमित्त दस प्रकार की विद्याएं हैं—

१ शरीअत
२ तरीकत
३ हकीकत
४ मारफत
५ मरीवहत
६ ध्यान दोरहियत
७ जुलकार चन्द्रगी
८ हुस्न मरतिद
९ दएनाका
१० शब्दसार

इन दस विद्याओ से उपर्युक्त दस स्थान प्राप्त होते हैं। वेद और पुस्तको द्वारा केवल चार ही प्रकार की विद्याए प्राप्त की जा सकती हैं। कर्म की पहुँच नासूत तक, उपासना मलकूत तक और योग जिवरत तक शिष्य को पहुँचा सकता है।[1] जिबरूतस्थान म सहस्रार चक्र है। यही अलखनिरजन ज्योतिस्वरूप रहता है। निर्विकल्पसमाधि द्वारा यहाँ पहुँचा जा सकता है। इसके पश्चात मारफत की स्थिति है, वहाँ 'उरफान' विद्या द्वारा लाहूत तक पहुँचा जा सकता है।

किन्तु वेद इसके आगे नही जाता। यहाँ सूफी धर्म के स्थानो और ज्ञान के प्रकारो को भी 'वेद' ही कहा गया है क्योकि रहस्यवादी कबीरपन्थ अन्य सभी धर्मों को 'स्थूलवेद' की ही अभिव्यक्ति मानता है। परन्तु उक्त चार स्थानो के ऊपर वही जा सकता है जो वेद-मार्ग को छोडकर सत्य-पुरुष कबीर की शरण मे जाता है।

महाप्रलय—जिस प्रकार तान्त्रिको की तरह इस पथ में ध्यान की सुविधा के लिए लोको की कल्पना की गई है उसी प्रकार महाप्रलय की भी कल्पना की गई है। "प्रलय के समय जगत् कालपुरुष म सिमिट जाएगा और निरजन के मस्तक मे एक अर्ध गोलाकार जो प्रासाद शृग के समान एक स्थान है, उसमें समस्त रचना सूक्ष्म वेष मे होकर प्रविष्ट हो जायगी। निरजन सारी सृष्टि अपने मस्तक के गुम्बद मे समेटकर सत्तर युग पर्यन्त बराबर शून्य मे फिरता

---

१ कबीर मन्सूर, पृ० १२४, १२६

रहेगा। तत्पश्चात् कूर्मजी की पीठ पर सत्यपुरुष की इच्छा से पुनः सृष्टि होती है। प्रलय में केवल सत्यलोक विलुप्त नहीं होता और सब विलुप्त हो जाते हैं।''[१]

यदि ध्यान से देखा जाय तो यह सत्यलोक भी वैष्णवों के वैकुंठ व शैवों के कैलास की तरह एक लोक विशेष ही है क्योंकि इसमें मुक्त जीवों की स्थिति स्वीकार की गई है, इन्हें हंस कहा गया है। सत्यलोक के सब हंस, प्रलय के समय भी सुरक्षित रहते हैं, ऐसा विश्वास प्रकट किया है, उसी प्रकार जिस प्रकार 'गोलोक' में मुक्त जीव सुरक्षित रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि ध्यान के लिए ही नाना लोकों व लोकपतियों की कल्पनाएं की गई हैं क्योंकि अन्त में कहा गया है कि शब्द से जगत् की सृष्टि हुई है और शब्द माया है। कबीर के मुख से उक्त सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए कहलाया गया है—

झूठ ही नाद है, झूठ ही बुंद है, झूठ ही झूठ को खेल सारा।
झूठ सूरत बनी झूठ सुरत बनी, झूठ ही झूठ को स्वांग धारा॥
झूठ दर्शन कहे, झूठ परसन कहे, झूठ निराकार और शब्द सोहे।
झूठ अंधकार है, झूठ ओंकार है, झूठ ही झूठ को चित्त मोहे॥
झूठ ही योग है, झूठ ही भोग है, झूठ के फंद में झूठ परता।
झूठ और सत्य दोऊ मिला, यह जगत में, भगत है सोई जो आन सक्ता॥[२]

इस प्रकार सारी सृष्टि को मिथ्या कह कर भी परवर्ती कबीरपंथ नाद और बिन्दु के तान्त्रिक सिद्धान्त द्वारा सृष्टि का विकास समझाता है, जैसा कि हम देख चुके हैं कि सृष्टि का मूल कारण शब्द या नाद को ही माना गया है। बिन्दु की दिलचस्प व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"जब सत्यपुरुष की इच्छा हुई और सूक्ष्म से स्थूल हुआ तब शून्य में एक भाई पड़ी और वह भाई एक बिन्दी के आकार में खड़ी हुई। इस बिन्दी से ही सर्वसृष्टि उत्पन्न हुई है। 'गयासुल्लोगात' नामक ग्रन्थ का उद्धरण दे कर कबीर मन्सूर के लेखक ने बताया है कि उक्त ग्रन्थ में कहा गया है कि 'समस्त संसार में यह नुक्ता फैल गया' इस बिन्दी को अनुस्वार कहते हैं, इसका दूसरा नाम मकार भी है। इसी को 'माया' (शक्ति) भी कहा गया है। यह बिन्दी ही

१　कबीर मन्सूर, पृ० १३८
२　वही, पृ० ३७३

'हिरण्यगर्भ' कहलाती है। इसके फूटने पर एक माया और दूसरा ब्रह्म कहलाया। एक से दो होने पर शब्द ओंकार की उत्पत्ति हुई। सृष्टि को द्वन्द्वज माना गया है अर्थात् ओंकार माया व ब्रह्म (शिव-शक्ति) के संयोग से उत्पन्न होता है।[1]

किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जिस प्रकार नागार्जुन व शंकराचार्य इस सृष्टि को असत् कहते है, उसी तरह सन्तकवि भी इसे 'बाजीगर का खेल' कहते हैं।[2] जगत् गंधर्वनगरवत् है, इसका सबसे मनोरंजक उदाहरण कबीर मंसूर मे यह दिया गया है कि कोलम्बस जब नई दुनिया की खोज मे निकला तो उसने जैसा संकल्प किया था, वैसा ही अमेरिका देश उसे मिल गया। वस्तुतः कोलम्बस के पूर्व अमेरिका का अस्तित्व था ही नही, कोलम्बस के संकल्प ही से वह उत्पन्न हुआ।[3]

पिंड-ब्रह्मांड की सृष्टि करने वाली माया शक्ति को कबीर मन्सूर ने शंकराचार्य की तरह अचेत और जड कहा गया है। माया और ब्रह्म का सम्बन्ध मनुष्य और छाया का सम्बन्ध माना गया है। इस प्रकार कबीरपंथी सिद्धान्ततः मायावादी भी हैं और पिंड मे शक्ति के जागरण को मानने तथा ब्रह्म व माया के मिथुन से सृष्टि को सम्भव बनने से शक्तिवादी भी हैं। माया के पाच नाम दिए गए है—शून्य, शक्ति, माया, आकाश और प्रकृति। स्पष्ट ही सन्तो ने सारग्राही बुद्धि से शक्तिवादी व विवर्तवादी परम्पराओं को अपने मे समेट लिया है। अतः दरियासाहब कोरे शून्यवादियो को डांटते हुए कहते है—

सुन्न सुन्न सब करैं पुकारा।
सुन्न न होवहि हंस उबारा।
सब महं देखिए सब्द का पूरा।
चिन्हे बिना जम देत है सूरा।[4]

अर्थात् केवल जगत् को मायात्मक ही मत समझो, यह जगत् शब्द शक्ति से निर्मित है, उस अव्यक्त शब्द को पहचानने का प्रयत्न करो।

विश्वनाथसिंहजू की कबीर के बीजक की टीका तथा कबीर मंसूर मे प्राप्त

---

१ कबीर मन्सूर पृ० १०४१ तथा १०४३
२ वही पृ० ११७१
३ वही पृ० ११७६
४ दरियासागर। बिहारवाले दरियासाहब कृत : पृ० ५७, प्रयाग, १६१६

अचिन्त्य' का अर्थ शाक्तों की पद्धति पर किया है कि रामनाम अचिन्त्य है, उसकी 'रेफ' अर्धमात्रा ही 'आद्याशक्ति' है, उसी ने सृष्टि की है। उसी ने ज्योति से नीचे के ब्रह्मांडों की सृष्टि की है, तभी योगी लोग ब्रह्मांड में प्राण चढ़ाकर उसी ब्रह्म-ज्योति का ध्यान करते हैं और उसी में जीव को मिला देते हैं।[1]

इस प्रकार सन्तकवि सृष्टि-विज्ञान में शब्द का महत्व स्वीकार करते हैं। तभी उनकी साधना में शब्दानुसंधान पर इतना बल दिया गया है। यहाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि निरंजन को शब्दरूप ही माना गया है और शब्द को भ्रम मानने के कारण अर्थात् सत्य को शब्द से भी अतीत मानने के कारण निरंजन को शैतान का रूप दिया गया है।

कश्मीरी शैवों ने निरंजन का अर्थ शक्तितत्व किया है। इसके अतिरिक्त निरंजन का एक अर्थ 'शिव' भी किया गया है। इसी तरह क्रिया व योगी को भी यहाँ निरंजन कहा गया है, किन्तु जिस प्रकार परवर्ती कबीरपंथ में निरंजन की दुर्दशा की गई है वैसी तंत्रों में नहीं मिलता। कबीर निरंजन का अर्थ पारमार्थिक सत्ता ही करते हैं, अतः जहाँ निरजन को शैतान के रूप में चित्रित किया गया है वे पद परवर्ती प्रतीत होते हैं। स्वामी रामानन्द के 'योग-चिन्तामणि' में भी निरंजन को परब्रह्म के अर्थ में ही ग्रहण किया गया है।[2] और इसी परम्परा के अनुसार कबीर को निरजन का अर्थ 'परब्रह्म' ज्ञात था। सुन्दरदास भी निरंजन का अर्थ परब्रह्म ग्रहण करते हैं।[3]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि परवर्ती कबीरपंथ में मौलिक कल्पनाएं दिखाई पड़ती हैं किन्तु कबीर और सुन्दरदास तक बौद्धसिद्धों[4] और शैवों की परम्परा के अनुसार निरंजन का अर्थ परब्रह्म ही प्रचलित था, बाद में उसे शैतान

---

१ विश्वनाथसिंह जू की टीका पृ० ९, १०, विशेष—आदिमंगल कबीरमन्सूर के अतिरिक्त विश्वनाथ सिंह की टीका तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी के कबीर नामकग्रन्थ में भी उद्धृत किया गया है। विस्तार के लिए वहीं द्रष्टव्य है।

२ रामानन्द की हिन्दी रचनाएं पृ० ६

३ सहजं नाम निरंजन लीजै, और उपाय कछू नहिं कीजै। सुन्दर ग्रंथा० खंड १ पृ० ३०४

४ सरहपा ने निरंजन का अर्थ परमपद किया है—दोहाकोशगीत राहुल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पृ० ३६

के रूप में चित्रित किया गया।[1] यद्यपि इस परवर्ती निरंजन के विकास पर भी शक्तिवाद अथवा शब्द के सिद्धान्त का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

सन्तसाधना पर तांत्रिक प्रभाव—तांत्रिक साधना में जिस प्रकार 'आशु-सिद्धि' या 'शाम्भव अवस्था' तथा 'क्रमसिद्धि' स्वीकृत है, उसी प्रकार सन्त साधना में भी स्वीकृत है। शाम्भव अवस्था[2] में जागतिक परिमित अनुभव गुरु से ज्ञानदान के पश्चात् सहसा ही लुप्त हो जाता है और राख हटा देने पर अग्नि की तरह साधक की चेतना—ज्वाला सहसा धधक उठती है, उसमें सारे संस्कार स्वतः ही जल जाते हैं। यह शाम्भव उपाय एक प्रकार का आन्तरिक ध्यान है जिसमें बाह्य क्रिया अनावश्यक है। सन्तकवि इस उपाय की ओर यत्रतत्र संकेत करते हैं। बौद्ध तांत्रिक जागतिक पदार्थों की निःस्वभावता का प्रतिपादन वस्तुतः इसी आभ्यंतर ध्यान की जागृति के लिए करते हैं क्योंकि बाह्य पदार्थों में मग्न मन अन्तर्मुखी हो ही नहीं सकता। बौद्ध तांत्रिक इसे अभिसम्बोधि कहते हैं।[3] इसे सहजकाया कहा गया है, इसमें अनवरत और सहसा प्रकाश की प्राप्ति होती है।

सुन्दरदास कहते हैं कि पूर्ण ब्रह्म के प्रकाश की उत्पत्ति होते ही वाद-विवाद छूट जाता है।[4] उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं और सम्पूर्ण शास्त्रों का सार स्वतः स्फुरित हो जाता है।[5] कबीर कहते हैं कि जीव में आंतरिक ज्योति प्रकाशित हो जाती है।[6] यह ज्योति सुन्न अथवा सहज के स्मरण मात्र से प्रकट हो जाती है।[7]

क्रमसाधना—सहसा दिव्य प्रकाश की प्राप्ति सबके लिए सम्भव नहीं है अतः संत योग व भक्ति का उपदेश करते हैं।

क्रमसाधना में अर्थात् योग और भक्ति द्वारा अस्फुट रूप में विद्यमान

---

१ विस्तार के लिए द्रष्टव्य—कबीर—हृ० प्र० द्विवेदी पृ० ५०-६८

२ कश्मीरी तांत्रिक शैवमत—द्रष्टव्य शाम्भवउपाय शीर्षक विवरण

३ द्रष्टव्य तांत्रिक बौद्धमत – अभिसम्बोधि सिद्धान्त

४ पूरन ब्रह्म प्रकाशि कियो, पुनि छूटि गयो, यह वाद-विवाद—सुन्दर ग्रंथा० खंड २

५ वही पृ० १६५

६ जीव रूप एक अन्तर बासा, अन्तर जोति कीन्ह परगासा—बीजक—रामनारायणलाल पृ० १९—२०

७ सुन्न सहज मन सुमिरते, प्रगट भई इक ज्योति—वही पृ० २६

तात्विक सत्ता को स्फुट किया जाता है।[1] इसके लिए शैवतान्त्रिक 'तर्क' को आवश्यक समझते है, तर्क का अर्थ आत्म-साक्षात्कार की ओर उन्मुखता है। इसके लिए वाद-विवाद मे रुचि न लेने वाले अनुभूतिवान् गुरु की आवश्यकता है। तंत्रो मे गम्भीर 'गुरुतत्व' की तरह सन्तो का गुरुतत्व भी गम्भीर है।

गुरु—महात्म्य—साधना रहस्यमय है अतः पोथी नही, गुरु का ही महत्व संत मत मे मान्य है। तथागतगुह्यक मे बुद्ध का गुरु रूप मे गायन बार बार किया गया है। गुरु शैष्य साधकों। जिन्हे क्रमसाधना करनी पडती है। को पोपधदान देता है। सम्प्रदाय, धर्म व गुरु (बुद्ध) की शरण मे जाने से पोपध दान मिलता है। गुर कृपा के बिना साधक का चित्त विकल्प को जीत नही सकता अत. गुरु के महात्म्य के विषय मे सतो ने अनेक पद कहे है और परवर्ती. कबीरपंथ मे कबीर या सत्यपुरुष को परब्रह्म से भी अधिक उच्चतर पद दे दिया गया है। गुरु बाह्य व आतरिक दो प्रकारका होता है आन्तरिक गुरु अर्थात् आत्मा के ज्ञान के बिना बाह्य गुरु की सहायता निष्फल ही रहती है, अतः आतरिक गुरु का महत्व अधिक है। इसी आतरिक गुरु को कबीर 'सदगुरु' कहते है।[2]

सतमत मे गुरु को परमात्मा से भी बडा माना गया है। कबीर तो गुरु और गोविन्द मे गुरु को ही अधिक महत्व देते है। गु० को प्रकाशदाता कहा गया है।[3] कबीर के अनुसार सतगुरु सिकलीगर के समान 'शब्द' द्वारा साधक के शरीर को दर्पण के समान चमकाता है।[4] लोक और वेद से अर्थात् बाह्याचार से पथभ्रष्ट साधक को गुरु ही आतरिक पथ दिखाता है।[5] गुरु की कृपा के बिना 'पूर्ण' का परिचय नही होता, पोथियो से अपूर्ण ज्ञान ही रहता है अत. गुरु की कृपा के बिना ससार से उद्धार असम्भव है।[6]

---

१ द्रष्टव्य कश्मीरी शैवमत—शाक्त-उपाय, शीर्षक विवरण
२ गुरु ज्ञान देने वाला है और सद्गुरु जिसका ज्ञान दिया जाता है, वह परमात्मा—रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ पृ० — १०
३ गुरु आये घन गरजि कर, सबद किया परगास-डा० बडथ्वाल, पृ० २०७
४ कबीर ग्रंथावली, पृ० ६३
५ वही, पृ० २
६ वही, पृ० ४

दरिया सतगुरु शब्द सों, मिट गई खेंचातान ।
भरम अंधेरा मिट गया, परसा पद निरवान ।[1]
वक्ता स्रोता बहु मिले, करते खेंचातान ।
दरिया ऐसा न मिला, जो सम्मुख झेलै बान ।[2]

इस प्रकार सन्तकवियो में गुरुतत्व और गुरु-महात्म्य पर तन्त्रा का प्रभाव दिखाई पड़ता है। तन्त्रमत भी गुरुमत है और सन्त मत भी गुरुमत है।

दीक्षा—तन्त्रो मे दीक्षा का महत्व सर्वोपरि है। परवर्ती सन्त सम्प्रदायो मे 'दीक्षा' उसी प्रकार रहस्यमय हो गई है जिस प्रकार तान्त्रिका म प्रचलित थी। कबीर को नामजप की दीक्षा ही उनके गुरु रामानन्द म मिली थी और कबीर भी अपने शिष्यो को गुरुमन्त्र दिया करन थे।[3] क्योंकि सन्त बाह्याचार विरोधी है अत उनकी दीक्षा भी आन्तरिक है। सन्त जब बाह्यपूजा, उपासना आदि की निन्दा करते है तो वे आन्तरिक दीक्षा का ही पथ अनुसरण करते हैं। चेतना का सतत परामर्श ही दीक्षा का मुख्य उद्देश्य है और इस पर सन्त कवि बराबर बल देते हैं।[4]

दीक्षा का एक तान्त्रिक अर्थ है, दिव्य सत्ता के शक्तिपात से प्राप्त पवित्रता। दीक्षित गुरु वह है जो दूसरा म आध्यात्मिक शक्ति जाग्रत कर सके। गुरु की इसी योग्यता के कारण सन्तों म गुरुसेवा पर बहुत बल दिया गया है। परवर्ती सन्तमत म गुरु के पेशाब क पान को धान स लेकर गुरु के पीकदान की पीक भी शिष्य को पा जाना चाहिए, यहाँ तक कहा गया है।[5] क्योंकि गुरु सिद्धान्तत केवल साधना म पथ-प्रदर्शक मात्र ही नही है अपितु गुरु व ब्रह्म के साथ तादात्म्य भी शिष्य को स्थापित करना पड़ता है। यही कारण है कि परवर्ती सन्तकवियो ने गुरु का वर्णन ब्रह्मवत् किया है।[6] सहजोबाई ने तो

---

१ दरिया (मारवाडो) की बानी पृ० १, प्रयाग १९०९
२ वही, पृ० १२
३ कानि लागि गुरुदिच्छा दीन्हीं, जन्म जन्म को मोल लई-
धरमदास की बानी, पृ० १५
४ जगजीवन बानी, प्रथम भाग, पृ० १०७, १०८
५ डा० बड़थ्वाल, पृ० २१०
६ सतगुरु ब्रह्मस्वरूप हैं, मनुष मान मत जान दयाबाई की बानी, पृ० २

आलोचना की है। नानक ने कहा है कि सहज-ध्यान में ही हृदय-कमल विकसित होता है।[1]

ध्यान व मन्त्र जप—शक्ति जागरण में ध्यान की तरह नाम या मन्त्रजप की परम्परा भी सन्तों को तान्त्रिकों से ही मिली। साधना के लिए भुवन, विग्रह, ज्योति, ख, शब्द व मन्त्र में एक मार्ग मन्त्र का भी है। भुवन की चर्चा हो चुकी है। विग्रह या अवतार की जगह संत कवि गुरुओं या सत्य-पुरुषों का ध्यान करते हैं। अन्तिम चार साधनाएं प्रकाश, शून्य, शब्द व मन्त्र-सतकवियों में यथावत् स्वीकृत है।

भाव व अभाव से रहित परमतत्व का परामर्श ही जप है। केवल बाह्य रूप से माला पर अगुलिप्रहार और जिह्वासंचालन जप नहीं है। तान्त्रिकों के इसी अर्थ को ग्रहण करने के कारण कबीर आदि सन्त बाहरी छापा, तिलक मालादि का उपहास करते हैं। नामजप से तभी रस उत्पन्न होता है जब आंतरिक चित्तवृत्ति के साथ तत्व का स्पर्श होता रहे—इसीलिए कबीर राम शब्द के रस का विभोर होकर वर्णन करते हैं। तत्वपरामर्श होते रहने से आत्मस्पन्दन रूप प्राण स्वतः वश में होने लगता है।

जगजीवन साहब उपवास छोड़कर नामरस को ही चखना चाहते हैं।[2] वह राम के दो अक्षरों में मन को रमाते हैं तब वह इधर-उधर नहीं जाता।[3] इस नाम को चुपचाप स्मरण करने की आवश्यकता है।[4] तांत्रिक साधक नाना मन्त्रों का जाप करते थे, इनकी जगह एक राम के ही जप को जगजीवन साहब पर्याप्त समझते हैं।[5] जगजीवन इस नाम साधना को 'जिकिर साधना' कहते हैं।[6] नानक को भी इसी नाम की ही भूख है, इससे सभी दुःख दूर हो

---

१ हिरदै कमल प्रगासिया, लागा सहज धियानु-गुरुग्रन्थ साहब, पृ० २६

२ अब उपवास न एको मानौं, चाखि नाम रस घोर-जगजीवन बानी - प्रथम भाग, पृ० १२

३ मन तें नाहिं इत उत धाव। रहत रहु दुर अच्छर अन्तर, अपय गैल न जाव। वही, पृ० ४७

४ वही, पृ० ७०

५ और कुछ मन्त्र नाम नाहिं,
चलै न जिह्वा मुख नहिं बोलै, रहत रहै मन माहिं—जगजीवन बानी, पृ० ११४

६ मनुआ रहहु जिकिर लगाय—वही, पृ० १२०

ध्यानबिन्दुपनिषद् में अजपाजाप के विषय में कहा गया है कि प्रश्वास के समय 'ह' ध्वनि स्वतः निकलती है और श्वास के समय 'स' ध्वनि का आगम होता है, इस प्रकार श्वास, प्रश्वास के समय बिना किसी यत्न के ब्रह्म के साथ तादात्म्य के कारण 'हंस हंसः' सोऽहम्, सोऽहम् की ध्वनि निकलती रहती है, यही अजपा जाप है।[1] सन्त कवि अजपा की चर्चा बहुत करते हैं।

कुछ विद्वान उक्त जप को जिसमें श्वास व नाम का आश्रय रहता है 'मीनमार्ग' का अजपा जाप कहते हैं और चक्रसाधना में जो जप किया जाता है उसे 'पिपीलिकामार्ग' कहते हैं क्योंकि चक्रसाधना में साधक के चित्त की गति ऊर्ध्व अवस्था की ओर बहुत धीमी होती है, और अनेक आकर्षणों के उत्पन्न हो जाने से चित्र शर्करा से युक्त मार्ग में पिपीलिका की तरह उन आकर्षणों में निमग्न हो जाता है अतः इस पिपीलिकामार्ग कहते हैं। एक विहंगममार्ग और है, जिसमें 'सुरतिसाधना' होती है, कबीर सुरतिजापी थे, विहंगममार्गी। पिपीलिका व मीनमार्ग को वे नहीं मानते थे, क्योंकि इन विद्वानों के अनुसार स्वयं कबीर ने लिखा है कि जपा और अजपा और अनहद मार्ग के साधकों को काल से भय रहता है परन्तु सुरति जब 'शब्द' में समा जाती है (विहंगममार्ग) तब काल पर विजय हो जाती है।[2] अतः कबीर का अजपा 'सुरतिशब्द' का अजपा जाप है, उपर्युक्त उपनिषद् के अजपाजाप को कबीर नहीं मानते।

इसके उत्तर में डा० बड़थ्वाल ने उपर्युक्त दोहे का भिन्न अर्थ किया है। उनके अनुसार सन्तों का सुमिरन तीन प्रकार का होता है—१, जाप, जो कि बाह्य क्रिया होती है, २, अजपा जाप, जिसके अनुसार साधक बाहरी जीवन का परित्याग कर आभ्यन्तरिक जीवन में प्रवेश करता है, ३, अनाहत, जिसके द्वारा साधक आत्मा के गूढ़तम अंश में प्रवेश करता है '''''' इन क्रमों की ओर कबीर ने इस प्रकार संकेत किया है कि जाप मर जाता है,

---

१ हकारेण बहिर्याति, सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्र, जीवो जपति सर्वदा।
ध्यानबिन्दूपनिषद्

२ जपा मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
सुरति समानी शब्द में, ताहि काल नाहि खाय।

ध्यानबिन्दूपनिषद् म अजपाजाप के विषय मे कहा गया है कि प्रश्वास क समय 'ह' ध्वनि स्वत निकलती है और श्वास के समय 'स' ध्वनि का आगम होता है, इस प्रकार श्वास, प्रश्वास के समय बिना किसी यत्न के ब्रह्म के साथ तादात्म्य के कारण 'हस हस:' सोऽहम्, सोऽहम की ध्वनि निकलती रहती है, यही अजपा जाप है।[1] सन्त कवि अजपा की चर्चा बहुत करते है।

कुछ विद्वान उक्त जप को जिसमे श्वास व नाम का आश्रय रहता है 'मीनमार्ग' या अजपा जाप कहते है और चक्रसाधना म जो जप किया जाता है उसे 'पिपीलिकामार्ग' कहते है क्योकि चक्रसाधना म साधक के चित्त की गति ऊर्ध्व अवस्था की ओर बहुत धीमी होती है, और अनेक आकर्षणो क उत्पन्न हो जाने से चित्त शर्करा स युक्त मार्ग म पिपालिका की तरह उन आकर्षणा म निमग्न हो जाता है अत इस पिपालिकामार्ग कहते है। एक विहगममार्ग और है, जिसम 'सुरतिसाधना' होती है, कबीर सुरतिजापी थे, विहगममार्गी। पिपीलिका व मीनमार्ग को वे नहीं मानते थे, क्योकि इन विद्वानो के अनुसार स्वयं कबीर ने लिखा है कि जपा और अजपा और अनहद मार्ग के साधको को काल से भय रहता है परन्तु सुरति जब 'शब्द' म समा जाती है (विहगममार्ग) तब काल पर विजय हो जाती है।[2] अत: कबीर का अजपा 'सुरतिशब्द' का अजपा जाप है, उपर्युक्त उपनिषद के अजपाजाप को कबीर नही मानते।

इसके उत्तर म डा० बडथ्वाल ने उपर्युक्त दोहे का भिन्न अर्थ किया है। उनके अनुसार सन्तो का सुमिरन तीन प्रकार का होता है—१, जाप, जो कि बाह्य क्रिया होती है, २, अजपा जाप, जिसके अनुसार साधक बाहरी जीवन का परित्याग कर आभ्यतरिक जीवन म प्रवेश करता है, ३, अनाहत, जिसके द्वारा साधक आत्मा के गूढतम मर्म म प्रवेश करता है ... 'इन क्रमो की ओर कबीर ने इस प्रकार सकेत किया है कि जाप मर जाता है,

---

१ हकारेण बहिर्याति, सकारेण विशेत्पुन ।
हस हसेत्यमु मन्त्र जीवो जपति सर्वदा।
ध्यानबिन्दूपनिषद

२ जपा मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
सुरति समानी शब्द में, ताहि काल नाहि खाय।

अज्ञानान्धकार भी नष्ट हो जाता है और अहंकार भी नहीं रह जाता, तब सुरति शब्द में लीन हो जाती है तब उसका जन्म-मरण के चक्कर का भय छूट जाता है ।[1] डा० बड़थ्वाल के अनुसार सन्तों का नाम सुमिरन, जिसे मन्त्र-योग भी कह सकते हैं, सुरति शब्दयोग का ही दूसरा नाम है और इस प्रकार यह सारे योगों का भी योग है । भक्तियोग, राजयोग, मन्त्रयोग, कर्मयोग, लययोग, हठयोग एवं ज्ञानयोग भी उसी के विविध रूपान्तर कहे जा सकते हैं, सभी के आधारभूत सिद्धान्त इसके भीतर आ जाते हैं ।[2]

निश्चित रूप से कबीर के यहाँ से तान्त्रिक नादयोग या अनाहत नादयोग यथावत् स्वीकृत हुआ है, और इस नादयोग से सभी मार्ग स्वतः ही स्वीकृत हैं, पिपीलिका, मीन और विहंगम मार्ग क्रमशः सूक्ष्मतर मार्ग हैं । जिसे सुरति-शब्दयोग कहा जाता है, उसका परवर्ती कबीरपन्थ तथा शिवदयाल के राधास्वामी सम्प्रदाय में अधिक सम्मान है । सुरति-शब्दयोग में प्राण-अनुशासन की जगह नेत्रानुशासन किया जाता है । सुरति (दृष्टि) नेत्र के अष्टदलकमलस्थित सूचिद्वार होकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर त्रिवेणी में मज्जन करते हुए, सहस्रदलकमल में विचरण करते हुए बंकनाली अथवा बंकनाल होकर ऊपर चढ़ती है और भँवरगुफा में प्रविष्ट होती है । इस गुफा में शब्द गुंजायमान रहता है । इसमें अनोखे दृश्य और अनोखी सुगन्धि भरपूर रहती है । फिर सुरति निराकार ईश्वर के निवासस्थान या सत्यलोक में जाती है और तत्पश्चात् अवर्णनीय 'अलखलोक' और उससे फिर अगमनगरी या अमरलोक जा पहुँचती है, यह अद्भुत लोक है ।[3]

सुरति की इस यात्रा को विहंगम मार्ग कहा गया है क्योंकि इसमें पिपीलिका की तरह ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर नहीं जाना होता । इसमें सुरति ब्रह्माण्ड को वेध कर अगम लोक तक जा पहुँचती है । इसमें सुरति निरालम्ब और निर्विकल्प रहती है । नामादि जप का आश्रय लेकर नहीं चलती । पक्षी जैसे आकाश में उड़ान भरता चला जाता है, पीछे लौटता नहीं, वैसे ही सुरति चलती जाती है । दरियासाहब (बिहार वाले) भी विहंगममार्ग को पिपीलिकामार्ग से श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि पिपीलिका हठयोग का मार्ग है ।

---

१ डा० बड़थ्वाल, पृ० २२५
२ वही, पृ० २२८
३ सन्तकवि दरिया पृ० १०३, १०४-डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी

केवल प्राण को वश मे कर लेने मे निर्विकल्पता प्राप्त नही होती। विहंगममार्ग मे आत्म परिचय हो जाता है।[1]

सुरति शब्द योग मे परवर्ती दरिया, शिवदयाल आदि सन्त क्या तात्पर्य लेते हैं, यह उपर्युक्त पंक्तियो से स्पष्ट है किन्तु निश्चित रूप से कबीर, नानक, दादू आदि पूर्ववर्ती सन्तो मे ऐसे अनेक पद है जिनमे प्राचीन कुंडलिनीयोग द्वारा स्वीकृत प्राणानुशासन, नाडीयोग अथवा नाद योग भी स्वीकृत हुआ है। डा० बड़थ्वाल नेत्रानुशासन पर आधारित सुरति शब्दयोग को इसीलिए परवर्ती मानते है। उनके अनुसार परवर्ती कबीरपंथियो ने कबीर के नाम से प्रचलित पदो मे ऐसे पद भर दिये है जिनमे नेत्र को आध्यात्मिक अभ्यास के प्रस्थान बिन्दु का महत्व दिया गया है। गरीबदास, जग-जीवनदास द्वितीय आदि ने भी नेत्रो को उलटकर देखने पर बल दिया है। तुलसी साहब तथा शिवदयाल भी प्राचीन प्राणयोग की उपेक्षा कर दृष्टिवाले अंश पर ही बल देते है।[2]

डा० बड़थ्वाल कहते हैं "अपनी महत्ता की भावना से अभिभूत होने के कारण ये अतिशयवादी योग के उस अंश को महत्व नही देना चाहते जिससे पता चल जाय कि उनकी भी साधना-पद्धति उन्ही के सिद्धान्तो पर आश्रित है जो प्राचीनयोगमत के आधार स्वरूप है।"[3]

इस प्रकार डा० बड़थ्वाल "जापमरै, अजपामरै" का अर्थ सुरतिशब्दयोग के पक्ष मे न कर प्राचीन नादयोग के पक्ष मे ही करते है। जाँच करने पर कबीर मे "नादयोग" व प्राणयोग के समर्थन मे बहुत से उद्धरण मिलते हैं। यदि कबीर दृष्टिवाले अंश को ही साधना मे स्वीकार करते तो हठयोग द्वारा स्वीकृत कुंडलिनीयोग को वह क्यो स्वीकार करते? फिर दरिया साहब की बानी मे ही प्राचीन नादयोग के समर्थन मे बहुत से उद्धरण दिये जा सकते है।[4]

यह समझना गलत है कि हठयोग व तत्वपरामर्श या ब्रह्म के साथ तादात्म्य मे विरोध है। यदि गोरखयोग शारीरिक व्यायाम होता तो

---

१ सन्त कवि दरिया पृ० १०४

२ डा० बड़थ्वाल, पृ० २४२, २४८, २४९

३ वही, पृ० वही

४ षष्ट कंवल दल रग है सोई, मधि बिच तोंहि बोलना होई।
अजपा जपै सूर घर आनी, दरिया गगन बरीसै पानी। दरियासागर पृ० ४

के प्रसंग में मनवाले अवधूतों को ही कबीर पहचानते हैं। अवधूतों में प्राणानुगमन, नादानुसंधान की ही चर्चा मिलती है, सुरतिशब्दयोग की नहीं, जिसमें दृष्टिवाले अंश पर बल दिया गया है।

कबीर ने अन्यत्र 'अजपाजाप' का मिलन को निर्विकल्प ही माना है। जब शेष अशेष में और सुरति निरति में समा जाय और जाप अजपा में समा जाय तभी स्वरूपस्थिति होती है।[1] कबीर अनाहतनाद को ब्रह्मज्ञान के लिए आवश्यक मानते हैं।[2] वह ध्यान व नादानुसंधान की गुरुता स्वीकार करते हैं।[3] वह पिपीलिका मार्ग को सोपान के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु वह यह स्वीकार करते हैं कि एक स्थिति ऐसी आवश्यक आती है, जहाँ मन व ध्यान रुद्ध हो जाते हैं, तान्त्रिकयोग भी यही कहता है किन्तु वहाँ भी नेत्रानुगमन की चर्चा नहीं है।[4] कबीर बंकनाल, भंवरगुफा, त्रिवेणी आदि की स्थिति इस पिंड के भीतर ही स्वीकार करते हैं।[5] बंकनाल का अर्थ सुषुम्णा ही लिया जा सकता है, शिवदयाल द्वारा गृहीत सुरतिशब्दयोगानुकूल अर्थ नहीं।

कबीर विहंगममार्ग का तात्पर्य भी बताते हैं कि यह तत्त्व अवगत, अकल और अनुपम है, उसे कहा नहीं जा सकता। वह अनुभव में आजाने पर गूंगे का गुड़ बन जाता है। उसका साक्षात्कार होने पर काच का शरीर कंचन हो जाता है। जैसे पक्षी उड़कर अनन्त आकाश में समा जाता है, या जल जल में समा जाता है, वही स्थिति ब्रह्म में लय होकर आत्मा की हो जाती है।[6]

---

१ सुरति समाणी निरति में, अजपा माहैं जाप।
   लेख समाणी अलेख मे, यूं आपा माहैं आप।—कबीर ग्रन्था० पृ० १४

२ अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
   अवगति अन्तरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान।—वही पृ० १६

३ वही

४ जन कबीर का सिखर घर, बाट सलैली सैल।
   पाव न टिकै पिपीलिका, लोगनि लादे बैल।
   जहां न चींटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराइ। -वही, पृ० ३१

५ कबीर ग्रन्था० पृ० ८८

६ अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई।
   सैन करै मनही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई।
   देखत काच भया तन कंचन, बिन बानी मन मानां।
   उड़्या बिहंगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहि समानां।—कबीर ग्रन्था० पृ० ९०

कबीर अतीत शब्द या नाद मे विश्वास प्रकट करते है, वह केवल पिंड मुक्ति को अर्थात् प्राणानुशासन द्वारा नादानुसंधान को पर्याप्त नही मानते, वह अतीत शब्द की खोज करते है।[1] तान्त्रिक इसी अतीत शब्द को परावाक् की स्थिति कहा करते थे, दोनो मे कोई अन्तर नही है।

कबीर बार-बार अनहदनाद और कु डलिनीयोग की चर्चा करते हैं।[2] अत: यह कहना सही नही है कि वह योग के दृष्टि वाले अश को ही स्वीकार करते थे। वे ज्योति की भी चर्चा करते हैं, परन्तु वह ज्योति-साधना कु ड-लिनी योग के साथ सम्बद्ध है अत: जाप मरै अजाप मरै आदि से स्थूल साधनाओ के द्वारा कबीर अन्तिम स्थिति की ओर ही सकेत करते हैं। जब अनाहत-नाद भी शान्त हो जाता है तब विकल्पो का पूर्णत: नाश होकर साधक स्वरूप स्थिति प्राप्त करता है।

अजपाजाप, वंकनाल का रस (सुपुम्णायोग) अमृत-निर्झर या ब्रह्मप्रकाश इन सबकी स्थिति कबीर एक साथ स्वीकार करते है—

अवधू ऐसा ज्ञान बिचारी, ज्यू बहुरि न ह्वै संसारी।
अजपा जपत सु नि अभि-अन्तरि, यहु तत जानै सोई।
कहै कबीर स्वाद जब पाया, बकनालि रस खाया।
अमृत झरै ब्रह्म परगासे, तबही मिलै राम राया।[3]

विश्वनाथ सिंह ने बीजक की टीका म षटचक्र निरूपण मे सम्बन्धित जो पद उद्धत किया है, उसे हम आगे दे रहे हैं। उसकी टीका करते हुए उन्होने बताया है कि २१६०० श्वासों के साथ रामनाम का स्वत: चलन वाला जप ही अजपाजप है और उन्होंने कुछ पाठान्तर करके उपर्युक्त ध्यानबिन्दूपनिषद के श्लोक को भी उद्धत किया है—

रकारेण बहिर्याति मकारेण विशेत्पुन.
रामरामेति वै मत्र जीवो जपति सर्वदा।

---

१ सबद अतीत का मरम न जानै, भ्रमि भूली दुनियाई।
प्यड मुकति कहाँ ले कीजै, जो पद मुकति न होई।
प्यडे मुकति कहत हैं मुनि जन सबद अतीत था सोई। —वही, पृ० २००
२ कबीर ग्रन्था० पृ० १०६, १०६, ११०, १२६, १३७, १३६, १४५, १५४, १५७, १५८, १६१, १६८, १६६, २१३
३ कबीर ग्रन्था० पृ० २४६

के प्रदर्शन में समझाने अवधूतों को ही कबीर फटकारते हैं। अवधूतों से प्राणानुगमन, नादानुसंधान की ही चर्चा मिलती है, सुरतिनिरतयोग की नहीं, जिसमें दृष्टियोग के अंश पर बल दिया गया है।

कबीर ने अन्यत्र 'अजपाजाप' की स्थिति को निर्विकल्प ही माना है। जब लेख अलेख में और सुरति निरति में समा जाय और जाप अजपा में समा जाय तभी स्वरूपस्थिति होती है।[1] कबीर अनाहतनाद को ब्रह्मज्ञान के लिए आवश्यक मानते हैं।[2] वह ध्यान व नादानुसंधान की एकता स्वीकार करते हैं।[3] वह पिपीलिका मार्ग को सोपान के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु वह यह स्वीकार करते हैं कि एक स्थिति ऐसी आवश्यक आती है, जहाँ मन व प्राण रुद्ध हो जाते हैं, तांत्रिकयोग भी यही कहता है किन्तु यहाँ भी नेत्रानुशासन की चर्चा नहीं है।[4] कबीर बंकनाल, भंवरगुफा, त्रिवेणी आदि की स्थिति इस पिंड के भीतर ही स्वीकार करते हैं।[5] बंकनाल का अर्थ सुषुम्णा ही लिया जा सकता है, शिवदयाल द्वारा गृहीत सुरतिशब्दयोगानुकूल अर्थ नहीं।

कबीर विहंगममार्ग का तात्पर्य भी बताते हैं कि यह तत्व अवगत, अकल और अनुपम है, उसे कहा नहीं जा सकता। वह अनुभव में आजाने पर गूंगे का गुड़ बन जाता है। उसका साक्षात्कार होने पर साधक का शरीर कंचन हो जाता है। जैसे पक्षी उड़कर अनन्त आकाश में समा जाता है, या जल जल में समा जाता है, वही स्थिति ब्रह्म में लय होकर आत्मा की हो जाती है।[6]

---

१ सुरति समाणी निरति मैं, अजपा माहैं जाप।
लेख समाणी अलेख मैं, यूं आपा माहैं आप।—कबीर ग्रन्था० पृ० १४

२ अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
अवगति अन्तरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान।—वही पृ० १६

३ वही

४ जन कबीर का सिखर घर, बाट सलैली सैल।
पाव न टिकै पिपीलिका, लोगनि लादे बैल।
जहाँ न चींटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराइ। -वही, पृ० ११

५ कबीर ग्रन्था० पृ० ८८

६ अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मनही मन रहसै, गूंगे जांनि मिठाई।
देखत कांच भया तन कंचन, बिन बानी मन माना।
उड़या बिहंगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहि समानां।—कबीर ग्रन्था० पृ० ६०

कबीर अतीत शब्द या नाद मे विश्वास प्रकट करते हैं, वह केवल पिंड मुक्ति को अर्थात् प्राणानुशासन द्वारा नादानुसंधान को पर्याप्त नही मानते, वह अतीत शब्द की खोज करते है।[1] तान्त्रिक इसी अतीत शब्द को परावाक् की स्थिति कहा करते थे, दोनो मे कोई अन्तर नहीं है।

कबीर बार-बार अनहदनाद और कुंडलिनीयोग की चर्चा करते हैं।[2] अतः यह कहना सही नही है कि वह योग के दृष्टि वाले अश को ही स्वीकार करते थे। वे ज्योति की भी चर्चा करते है, परन्तु वह ज्योति-साधना कुंडलिनी योग के साथ सम्बद्ध है अतः जाप मरै अजाप मरै आदि से स्थूल साधनाओ के द्वारा कबीर अन्तिम स्थिति की ओर ही सकेत करत हैं। जब अनाहतनाद भी शान्त हो जाता है तब विकल्पो का पूर्णतः नाश होकर साधक स्वरूप स्थिति प्राप्त करता है।

अजपाजाप, वकनाल का रस (सुषुम्णायोग) अमृत-निर्भर या ब्रह्मप्रकाश इन सबकी स्थिति कबीर एक साथ स्वीकार करते हैं—

अवधू ऐसा ज्ञान विचारी, ज्यू बहुरि न ह्वै संसारी।
अजपा जपन सुंनि अभि-अन्तरि, यहु तत जानै सोई।
कहै कबीर स्वाद जब पाया, वकनालि रस खाया।
अमृत झरै ब्रह्म परगासे, तबही मिलै राम राया।[3]

विश्वनाथ सिंह ने बीजक की टीका मे पटचक्र निरूपण मे सम्बन्धित जो पद उद्धत किया है, उसे हम आगे दे रहे हैं। उसकी टीका करते हुए उन्होने बताया है कि २१६०० श्वासा के साथ रामनाम का स्वतः चलने वाला जप ही अजपाजप है और उन्होंने कुछ पाठान्तर करके उपर्युक्त ध्यानबिन्दूपनिषद के श्लोक को भी उद्धत किया है—

रकारेण बहिर्याति मकारेण विशेत्पुन.
रामरामेति वै मत्र जीवो जपति सर्वदा।

---

१ सबद अतीत का मरम न जानै, भ्रमि भूली दुनियाई।
प्यंड मुकति कहाँ ले कीजै, जो पद मुकति न होई।
प्यंडे मुकति कहत हैं मुनि जन सबद अतीत था सोई। —वही, पृ० २००

२ कबीर ग्रन्था० पृ० १०६, १०६, ११०, १२६, १३०, १३१, १४४, १५४, १५७, १५८, १६१, १६८, १६६, २१३

३ कबीर ग्रन्था० पृ० २५६

इसका अर्थ यों किया गया है—'रकार करि कै अग्नि औ पवन को संयोग होइ है, तहां ते उठै है अउ अकार करिकै शब्द होइ है औ मकार करिकै थापय होइ है, यहि मे सुरति लगाइ राखै, यही परम अजपा है'। इसके लिए एक और प्रमाण दिया गया है—

रकाराज्जायतेवायू रकाराच्छब्द उच्यते।
थापय तत्वां च मकारेण, राम एवेति वै श्रुतिः[1]

ये सब प्रमाण निम्नपद के सन्दर्भ में दिए गए हैं जिसमें अजपाजाप में कबीर ने अपना दृढ़ विश्वास प्रकट किया है—

एकै ब्रह्म सकल घट व्यापै, द्वितिया और न कोई।
प्रथम कमल जहं ज्ञान चारि दल, देव गणेश को बासा।
रिधि सिधि जाकी शक्ति उपासी जपते होत प्रकासा।
षटदल कमल ब्रह्म को बासा, सावित्री संग सेवा।
षट सहस जह जाप जपत हैं, इन्द्र सहित सब देवा।
षोडस कमल मे जीव को बासा, शक्ति अविधा जानै।
एक सहस जह जाप जपत हैं, ऐसा भेद बखानै।
भंवर गुफा जहं दुइ दल कमला, परमहंस कर बासा।
एक सहस जाके जप जपत हैं, करम भरम को नासा।
सहस कमल मे भिलमिल दरशो आपहि बसत अपारा।
ज्योति सरूप सकल जग व्यापी, अक्षय पुरुष है प्यारा।
सुरति कमल परसत गुरु बोले, सहज जाप जप सोई।
छार्स इकइस सहसहि जपिले, बूझै अजपा कोई।
यही ज्ञान को कोई बूझै, भेद अगोचर भाई।
जो बूझै सो मनका पेखै, कह कबीर समुझाई।[2]

अर्थात् एक ही ब्रह्म सारे शरीर मे व्याप्त है। इस शरीर में जो प्रथम चक्र है, वह चारदल का है और उसका देवता गणेश है। इस स्थान पर जप करने से तत्व का प्रकाश होता है, अर्थात् साधक की सुप्त चेतना जाग्रत हो जाता है। उसके पश्चात छः कमलदल वाला चक्र है, जिसका देवता ब्रह्मा और शक्ति सावित्री है। इन्द्र आदि सभी देवताओं का इस चक्र में निवास है,

---

१ बीजक—विश्वनाथसिंह, पृ० ४५०
२ कबीर बीजक की टीका, विश्वनाथसिंह, पृ० ४४६

योगी छः हजार बार यहाँ जप करते हैं। सोलहकमलदल वाला एक और चक्र है जिसमें जीव का निवास है। यहाँ एक हजार बार जप किया जाता है।

यहाँ यह लक्ष्य करने योग्य है कि इस षोडषकमलदलचक्र में ही 'भ्रमरगुफा' की स्थिति मानी गई है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि परवर्ती कबीरपन्थ में भी प्राचीन पिंड-ब्रह्माडयोग को ही स्वीकार किया गया है, जबकि राधास्वामी-सम्प्रदाय में ब्रह्माड से परे नाना स्थानों की कल्पना की गई है। कबीर के परवर्ती शिष्यों ने इस 'भ्रमरगुफा' के बाद भी सहस्रार की स्थिति मानी है, क्योंकि भ्रमरगुफा में दो दल वाला चक्र माना गया है, जो भृकुटी स्थान की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है

भवरगुफा जह दुइ दल कमला, परमहंस कर वासा।

सहस्रदलकमलचक्र का वर्णन भी तान्त्रिकपरम्परा के अनुकूल ही है। इसी में तत्व की स्थिति मानी गई है। सहजजाप भी इसी से सम्बन्धित है, क्योंकि जब तक साधक चक्रों को वेध कर सहस्रार तक नहीं पहुँचता तब तक उसका चित्त शान्त नहीं होता। चक्रों को वेधते समय ही साधक के चित्त की परीक्षा होती है, क्योंकि अनेक प्रकार के आकर्षण उसकी भावना में स्वतः अवतरित होने लगते हैं। इन आकर्षणों की उपेक्षा करते हुए साधक सहस्रार तक पहुँचता है। इसके बाद भी, किन्तु पिंड के भीतर ही सुरति कमल की चर्चा उक्त पद में की गई है, इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि सहस्रारचक्र में सुरति को लीन करना चाहिए। इस स्थिति के बाद अजपाजाप की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार सन्त कवियों पर तान्त्रिकयोग का प्रभाव स्पष्ट है। उन्हें केवल सुरतियोगी ठहराने का प्रयत्न व्यर्थ है। शिवदयाल, तुलसी साहब आदि ने नाना नये चक्रों और लोकों की कल्पनाएं की हैं और योग में दृष्टिवाले अंश पर ही बल दिया है। यदि यह, कि लोकादि का वर्णन केवल उपलक्षण है, तब तो तान्त्रिकों का यह सिद्धान्त भी पुष्ट होता है कि लोकादि की कल्पनाएं केवल साधक या आध्यात्मिकता को जाग्रत करने के लिए ही हैं। इसके साथ यह भी स्मरणीय है कि 'जाप मरे अजपा मरे' शब्द का पाठ भी अभी निश्चित नहीं हो पाया है। क्योंकि डा० ह० प्र० द्विवेदी ने निम्नलिखित पाठ दिया है—

शून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय ।
राम-सनेही ना मरै, कहै कबीर समुझाय ।[1]

इस प्रकार किसी भी तर्क से सन्त काव्य की पृष्ठभूमि में जो विराट तान्त्रिक योग परम्परा थी, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

नादयोग—ब्रह्माड नाद का ही स्थूल रूप है और पिंड उस ब्रह्माड का संक्षिप्त रूप है । अतः पिंड-ब्रह्माड की एकता तन्त्रों की तरह सन्तकवि मानते हैं ।[2] परवर्ती सन्त तुलसी भी 'घटरामायण' में शरीर को ऐसी मस्जिद बताते हैं जिसमें १४ तबक विद्यमान हैं, इनमें निचले और ऊपर वाले सभी लोक हैं । ऊपर वाले आठ लोक भी पिंड में ही हैं, इन्हीं में सन्त विलास करते हैं । नीचे के तीन लोक निर्गुण के निवासस्थान हैं ।[3]

चक्र-स्थिति—कबीर तान्त्रिकों द्वारा वर्णित मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, हृदय, विशुद्ध, आज्ञा तथा सहस्रार—इन सात चक्रों को यथावत् मानते हैं । किन्तु परवर्ती शिवदयाल ने इसमें तिगुने चक्र माने हैं और प्रत्येक में तीन तीन सूक्ष्मतर चक्र भी माने गये हैं ।[4] परवर्ती सन्तों की मौलिकता का दावा यहाँ तक है कि प्राचीन योगियों को केवल छः सात चक्रों का धूमिल ज्ञान था । केवल शिवदयाल साहब को ही आगे के अनेक चक्रों का ज्ञान हुआ था । डा० बड़थ्वाल का स्पष्ट मत है कि कबीर प्राचीन सप्तचक्रों को ही मानते थे । वह भवरगुफा को अनाहत चक्र में तथा त्रिकुटी को आज्ञाचक्र में ही मानते थे, शिवदयाल की तरह परम्पराप्राप्त सात चक्रों से 'सूक्ष्मतर' चक्रों में नहीं ।[5] अतः पूर्ववर्ती सन्तकवि निश्चित रूप से तान्त्रिक कुंडलिनी योग के ही अभ्यासी थे ।

चक्रों का क्रमशः अतिक्रमण और सहस्रार तक कुंडलिनी शक्ति की यात्रा, अनाहतनाद श्रवण, अमृतनाडी का श्रवण, खेचरी मुद्रा, उन्मनावस्था, और उससे भी परे सर्वथा विकल्परहित स्थिति की प्राप्ति आदि पर हम तान्त्रिकों की विचारधारा पर प्रकाश डाल चुके हैं । यद्यपि सन्त साहित्य में

---

१ कबीर, पृ० ३६२
२ कबीर ग्रन्था० पृ० १९९ तथा कबीर-ह० प्र० द्विवेदी, पृ० २७५
३ डा० बड़थ्वाल, पृ० २३१
४ वही, पृ० २३३
५ डा० बड़थ्वाल, पृ० २३४

तान्त्रिकों की तरह पूर्ण प्रक्रिया का स्पष्टीकरण नहीं मिलता तथापि संकेत रूप में कुंडलिनीयोग से सम्बन्धित बहुत से पद सन्त कवियों ने कहे हैं। कबीर कहते हैं—

१ हे अवधू गगन में निवास करो।
२ अमृत नाडी से अमृत झरता है।
३ बंकनालि में रस भर गया।
४ मूलाधार चक्र को बांध लेने पर प्राणवायु गगन में समा गया, अथवा त्रिकुटी तक पहुँच गया।
५ कुंडलिनी जाग्रत होगई।
६ संशय मिट गया, अनाहत नाद सुनाई पड़ने लगा।[1]

उक्त एक ही पद से 'जपा मरै अजपा मरै अनहद हू मरि जाय' की व्याख्या के सम्बन्ध में भ्रम फैलाने वाला की वास्तविकता प्रकट हो जाती है। यदि कबीर अनाहतनाद की निंदा करते हैं तो उक्तपद की क्या व्याख्या होगी, कबीर स्पष्ट कहते हैं कि जिस शब्द से सब प्रकट हुए है, उस अव्यक्त शब्द को पकडना ही साधना का मर्म है।[2]

सुन्दरदास रवि और शशि की एकता को हठयोग कहकर उसके अभ्यास पर बल देते हैं।[3] सुन्दरदास तो शास्त्रनिष्ठ साधक थे, अतः उन्होंने कुंडलिनी

---

१ अवधू गगन मंडल घर कीजै।
मूल बांधि सर गगन समाना, सुखमन पोतन लागी।
काम क्रोध माया पलीता, तहं जोगण जागी।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजै।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं, सबद अनाहद बागा।- कबीर ग्रन्था० पृ० ११०

२ साधो शब्द साधना कीजै।
जेही शब्द तें प्रकट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै।
शब्दै काया जग उत्पानी, शब्दै केरि पसारा।—कबीर, ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० २६८

३ सुन्दरग्रन्थावली, प्रथमखंड पृ० १०२

योग का विधिपूर्वक वर्णन किया है।[1] वह वाम नाडी को इडा, दक्षिण नाडी को पिंगला अथवा क्रमशः चन्द्र और सूर्य नाडी कहते हैं। सुषुम्णा अग्निरूपिणी है। जब इडा, पिंगला की गति रोक दी जाती है तब सुषुम्णा उलट कर चलती है, अर्थात पवन सुषुम्णा मार्ग से ऊपर को चलता है, इसी से सुख प्राप्त होता है।[2] तांत्रिकों की तरह सुन्दरदास बीजमन्त्र से युक्त १६ पूरक, ६४ कुम्भक तथा ३२ रेचन प्राणायामों का उपदेश करते हैं।[3] तब अनाहतनाद जाग्रत होता है। सर्व प्रथम भ्रमर जैसी गूँज सुनाई पड़ती है। पुनः सर्प जैसा सीत्कार, पुन मृदंग और फिर ताल ध्वनि सुनाई पड़ती है।[4]

सुन्दरदास 'पदस्थ' पिंडस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत आदि कई प्रकार के ध्यानों का इस योग के लिए विधान करते हैं।[5] रूपातीत ध्यान को ही शून्य ध्यान कहा गया है। यह ध्यान रूप, रेख विहीन है। इसमें आठ पहर तक ध्यानलीन रहना चाहिए।[6]

सुन्दरदास इस प्रकार तन्त्रों में वर्णित कुंडलिनीयोग का विस्तार से वर्णन करते हैं और बौद्धतान्त्रिकयोग में वर्णित अनेक वस्तुओं तथा रूपों के ध्यान को भी स्वीकार करते हैं। यही नहीं वह 'नाद' के परा, पश्यन्ती मध्यमा, व वैखरी को भी स्वीकार करते हैं और 'मन्त्र' शक्तिमय है, शक्ति जागरण में नाम रूपी मन्त्र सक्षम है, यह भी स्वीकार करते हैं।[7] वह कहते हैं कि इस ब्रह्माण्ड का आदि रूप नाद या ओंकार ही है, यह योगी को नहीं भूलना चाहिए।[8] वह स्पष्ट कहते हैं कि हठयोग करो, नहीं तो शरीर जा रहा है, बिना नाम जप के मुख में धूल पड़ेगी।[9] तत्व के परामर्श के साथ उस उक्त हठयोग द्वारा बधिर भी अनाहतनाद सुन सकता है और सहस्रार में पवन को

---

१ सुन्दर ग्रंथावली, प्रथम खंड पृ० ४२
२ वही, पृ० ४४
३ वही, पृ० ४७
४ वही पृ० ४६
५ वही, पृ० ५३
६ वही, पृ० ५४
७ परा पश्यन्ति मध्यमा, हृदये होइ विचार-वही, खंड २, पृ० ७८६
८ वही, पृ० ६२२
९ वही, पृ० ४०७

स्थिर कर 'अतिगति प्राप्त कर चैन' पा सकता है, सुन्दरदास इसे बारबार दुहराते है।[1]

कबीर कहते हैं कि शून्य सहज मन द्वारा स्मरण करने से ज्योति प्रकट होती है। जिससे निरालम्बन प्राप्त होता है।[2] शून्य मे जब सुरति समा जाती है, अकथनीय अवस्था प्राप्त होती है।[3]

दयाबाई भी श्वास को बांस बनाकर सुरति रूपी नटिनी को पाताल से आकाश तक पहुँचाने को ही वास्तविक साधना मानती है।[4] भीखासाहब कहते है कि सुरति निरति। विकल्प रहित स्थिति। मे ठहर कर, अर्ध, ऊर्ध्व के बीच अनाहत नाद का श्रवण करती है।[5] उनके अनुसार मन तभी मरता है जब चन्द्र व रवि को एकाग्र कर प्राणवायु को लौट कर, सुषुम्णा—मार्ग से ऊर्ध्व संचारण कराया जाता है और जब गगन मे नाद, विन्दु का साक्षात्कार किया जाता है।[6] जिस प्रकार यह अनाहतनाद 'धुधुक' उठे, उसी प्रकार सुरति को लगाना चाहिए। जागृत अनाहतनाद "धुधुक-धुधुक" शब्द करता है। तार पर अंगुली फेरते समय सातो तारो से जो ध्वनि निकलती है, वह अनाहतध्वनि मे भी सुनाई पडती है, तननन, घ्रिता, घ्रिता, तायेह, थेह आदि ध्वनिया अनाहतनाद की ही गतिया है। इस 'लौ' मे योगी लीन हो जाता है।[7] नाद और विन्दु एक सम इसी अवस्था मे होता है और तब जीवात्मा (सुरति) विकल्परहित (निरति) हो जाती है।[8]

सहजो स्पष्टत: कहती है भंवरगुफा ब्रह्माड के परे नही है, पिंड ही मे है। गंगा, यमुना या इडा पिंगला के बीच आसन मारने से उस गुफा मे प्रवेश मिलता है और तब 'प्रकाश' प्राप्त होता है।[9] बुल्लासाहब 'त्रिकुटि' (आज्ञा

१ परा पश्यंति मध्यमा, हृदये होइ विचार वही पृ० ७४७-७६१
२ कबीर का बीजक-रामनारायण लाल, पृ० २६
३ वही, पृ० ५५
४ दयाबाई की बानी, पृ० ११
५ भीखा-बानी, पृ० ४
६ वही, पृ० ७
७ वही, पृ० १५-१६
८ वही पृ० ३४
९ गंग जमुन बिच आसन मारयो, चमक चमक चमकारा।
भंवरगुफा मे बुद्ध ह्वै बैठे देख्यो अधिक उजारा।।

चक्र) की गंगा-यमुना (नाड़ियों) की त्रिवेणी कहते है और कुम्भक, पूरक, रेचक द्वारा 'नाटकमुद्रा' में राम-नाम का जाप करते है ।[1] उनके अनुसार इस योग से 'परमज्योति' प्राप्त होती है, ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी इसकी याचना करते हैं ।[2] इस परमज्योति की अवस्था में 'उन्मनावस्था' प्राप्त होती है ।[3] इस अवस्था को चाचरि, भूचरि, अगोचरि और 'खेचर' मुद्राओं द्वारा प्राप्त किया जाता है ।[4] मेरुवदण्ड (अमीघूंट में) प्राण और अपान को समान में थिर होने पर ही शून्य के शिखर पर जाकर 'त्रिविर' की स्थिति प्राप्त करते है ।[5].

गुलाल साहब गगन-मंडल पर ही घर बनाने पर यह दावा करते हैं कि अब मन की गति 'निर्गुण' हो गई है । निर्गुण सम्प्रदाय में निर्गुण शब्द की सार्थकता स्पष्ट है ।[6]

मन की इस निर्विकल्प अवस्था को संकेतित करने के लिए शून्य शिखर, सरोज, बंकनाल आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है, इनमें निर्विकल्पता की ओर गति में क्रमशः उन्नति-सोपानों को ही बंकनाल, सरोज आदि द्वारा संकेतित किया गया है । निश्चित रूप से इस अंतिम अवस्था में मन विकल्प-रहित होता है, मन की इस निरालम्ब या निर्विकल्प स्थिति को 'विहंगममार्ग' का गतव्य ठीक ही कहा गया है क्योंकि इस अंतिम अवस्था में श्वास, नाम आदि का सहारा नही रह जाता किन्तु तंत्रों व उपनिषदों में वर्णित 'सोऽहं' अवस्था भी यही है, इससे भिन्न नहीं क्योंकि विकल्प रहने पर स्वतः सोऽहं सोऽहं 'या "हंसः हंस." की ध्वनि निकल ही नही सकता । साधना के आरम्भ में सचेष्ट होकर इस स्वत सोऽहं ध्वनि की ओर बढ़ना पड़ता है, ये ही पिपीलिका व मीनमार्ग है । इन अवस्थाओं में द्वैत और अद्वैत दोनो स्थितिया रहती हैं किन्तु अन्त मे अनंत आकाश मे उड्डीयमान विहंगम की

---

१ बुल्ला-वाणी, पृ० १०३
२ बुल्ला-वाणी, पृ० ४
३ वही, पृ० ४
४ वही, पृ० १४
५ अमीघूट, पृ० ८
६ मन मे निर्गुन गति जो भावे, हानि न होय जीव को कबहीं,
गगन मंडल घर छावै—गुलाल— वाणी, पृ० २

तरह विकल्परहित विराट ब्रह्म में जीवात्मा की लीन होने की स्थिति में स्वत सोऽहं ध्वनि निकलने लगती है अतः यह कहना गलत है कि कबीर का सुरति-शब्द-योग प्राचीन तान्त्रिक उपनिषद कुंडलिनीयोग से भिन्न है। दरिया साहब (मारवाडी) भी इसे पुष्ट करते है।[1] सुरतिशब्दयोग शैवो द्वारा वर्णित 'नाद-योग' ही है, उसमे शिवदयाल आदि ने कुछ नवीन कल्पनाएँ अवश्य जोड दी है।

संतमत पूर्ण अद्वैतस्थिति को प्राप्त करने के लिए चक्रसाधना या नादानुसधान को आवश्यक मानता है। यह नादानुसधान तान्त्रिक मतो मे पंचमकार की सहायता से भी होता था, केवल यही तान्त्रिको व सतो मे अन्तर है, शेष योग की प्रक्रिया सतो म यथावत् मिलती है। साधना के क्षणो मे विचित्र अनुभवो की जैसी व्याख्या तत्र करते हैं, उतनी स्पष्टता के साथ सत नही करते अतः तान्त्रिक कुंडलिनीयोग से सतमत के व्याख्याकार मूलस्रोत से सतयोग को भिन्न करके देखना चाहते हैं। व्यजना को न समझ कर केवल लोकादि के नामो को वास्तविक मान लेने के कारण ही यह भ्रम होता है। धरमदास जी कहते है—

सात सुन के ऊपर साहब, सेतै सेत निवासा।
सदा अनद रहं वा देसा, कबहुँ न लागै आसा।
सूरज चंद दिवस नहिं सजनी, नाहीं धरनि प्रकासा।
ऐसा अमर लोक है अवधू केवला फरैं बारामासा।

अथवा

सात सुन्न दोह बेसुन कहिये, दसवा ध्यान अपडा हो।
समरथ सब्द हमरो अस्थाना, और सकल ब्रह्मांडा हो।
भवर गुहा से उठत बुलबुला, सो अजन पिय नैन लगाओ।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनद होइ साध नहाय।
अजपा लागि पागि रही डोरी, निरखो सुरति सुंदरिया।
धरमदास के साहेब कबीरा, ले पहुँचायो सत नगरिया।[2]

यह जो 'सात' सुन्न के ऊपर वाला साहब' है, यही ब्रह्म है, उससे साथ तादात्म्य स ही 'अमरस' अर्थात ब्रह्मानन्द बरसने लगना है। इसे ही बौद्ध 'महासुख' कहते हैं किन्तु शाब्दिक अर्थ करने पर 'सातसुन्न' अलग-अलग मानने

---

१ दरियासाहब की बानी, पृ० १६
२ धरमदास की बानी, पृ०, ३०, ३१, ३२, ३४

पड़ेंगे और साम्प्रदायिक परम्परा इनके अलग अलग नाम भी बना देगी, प्रत्येक सम्प्रदाय में इनके अलग अलग नाम भी मिलेंगे, परिणाम यह होगा कि तान्त्रिक अर्थ करने पर यह घोषित करना होगा कि 'कबीर' का सम्बन्ध किसी प्रकार के परम्परागत योग से न था और उपर्युक्त नाद-बिन्दु और चक्रस्थापना के उद्धरणों के मनमाने अर्थ करने पड़ेंगे अतः पूर्ववर्ती व परवर्ती सन्तों के नाड़ी योग को परम्परागत नाड़ीयोग से भिन्न समझना गलत है। इसी प्रकार पूर्ववर्ती 'सुरति शब्दयोग' शैवों के नादयोग से भिन्न नहीं है। ऐसा नहीं है जैसा कि दावा किया जाता है कि संतों का योग सूक्ष्मतर है और तान्त्रिकों का योग स्थूल था वस्तुतः तान्त्रिकों के योग के हमारे विवरण स्पष्ट है कि तान्त्रिक परम्परा की पहुँच सन्तों से गम्भीर या कम 'पहुँची' हुई नहीं थी।

शाब्दिक अर्थ लेने पर सन्तों द्वारा राम, कृष्ण, गोकुल, मथुरा, कृष्ण की बांसुरी आदि के भी स्थूल-सगुणपरक अर्थ लेने पड़ेंगे।[1]

ज्ञान उत्पन्न हो जाने के पश्चात् अथवा क्रमसाधना पूर्ण हो जाने के पश्चात् तो मीन व विहंगममार्ग भी भारी पड़ते हैं, व्यर्थ कष्ट कर प्रमाणित होते हैं अतः सहजसमाधि के पश्चात् तो प्रत्येक साधना व्यर्थ ही हो जाती है—

पछिम खोज, मीन को मारग, यहँहि कबिर दोऊ भारी।
अपरम्पार पार परसोतिम, मूरति की बलिहारी॥[2]

"जपा मरे, अजपा मरे, अनहद हू मरि जाय" का केवल विहंगम-मार्ग के पक्ष में अर्थ करने वाले विद्वान उक्त उद्धरण को पढ़कर भ्रम में पड़ेंगे कि अब क्या किया जाय, यहाँ तो कबीर 'विहंगममार्ग' को भी 'भारी' बता रहे हैं। इसीलिए साधना-मार्ग में कबीर सभी मार्गों और सभी प्रकार के

---

१ अ　इत गोकुल उत मथुरा नगरी, बीच डगर पिय मिलि गयो हो—वही, पृ० ६०

ब　सखि, बांसुरी बजाय कहां गयो प्यारो।
घर की गैल बिसरि गै मोहिं तें, अंग न वस्तु सम्हारो।
चलत पाव, डगमगत धरनिपर, जैसे चलत मतवारो।
घर आंगन मोहिं नीक न लागै शब्द बान हिये मारो।
—जगजीवनदास, दूसरा भाग, पृ० ४५

२　कबीर का बीजक—रामनारायण लाल, पृ० १४५

अजपाजापा को मानते है परन्तु वृत्तिनाश हो जाने के पश्चात् तो वे 'भारी' प्रतीत होगे ही।

नादानुसधान व उन्मनावस्था—सतमत मे भी तान्त्रिक–नादानुसंधान भी विकल्पो के नाश के लिए ही है, केवल वाह्यसिद्धि–प्राप्ति इसका उद्देश्य नही है। अत तंत्र व संतमतो मे चक्रभेदन या कुण्डलिनीयोग की इतनी महत्ता है। यह केवल तनयोग नही है। केवल शरीर को अनुशासन मे लाने की क्रिया को 'हठयोग' कहा जाता है परन्तु 'हठयोग' मे तनयोग व मनयोग दोनो की एकता मानी गई है। कबीर कोरे'तनयोगियो' जिन्हे वह 'अवधू' कहते है, निन्दा करते है, इसका अर्थ यह नही कि वे चक्रसाधना के भी निंदक है या योगपरम्परा से प्राप्त अनुभवो को नही मानते।

नादयोग से अत मे प्राप्त विकल्परहित स्थिति के दो सोपान तान्त्रिकयोग व शैव—शाक्तयोग मे वर्णित है— (१) उन्मनावस्था, (२) खसमावस्था। विकल्प की पूर्णशाति उन्मन- अवस्था मे होती है। इसके कुछ पूर्व की स्थिति 'समना-वस्था' कहलाती है। उन्मनावस्था के बाद भी 'खसमावस्था' है। बौद्ध तान्त्रिकयोग मे उष्णीशचक्र को भेदकर यह अवस्था प्राप्त होती है। 'गगनवत्' चेतना स्वरूप मे स्थित हो जाती है। यही खसमावस्था है। इस अवस्था मे सारा ब्रह्माण्डज्ञान कर-स्थित आमलक के समान स्पष्ट हो जाता है। सकल्पमात्र से सृष्टि करने की शक्ति स्वत: प्राप्त हो जाती है। अत: ताथागतज्ञान या सर्वातीत ज्ञान की स्थिति ही खसमावस्था है। शैवागमो मे समना और उन्मना का प्राप्त विवरण हम पीछे दे चुके हैं। शैव उन्मनावस्था मे द्वन्द्वो के नाश के बाद भी वृत्तियो की सृष्टि व सहार को मानते हैं। विशेषता यह है कि इस अवस्था मे चेतना उन वृत्तियो के सृष्टि व सहार से प्रभावित नही होती। इसीलिए अभिनवगुप्त ने इस अवस्था की उपमा "मूत्रविसर्जनान्तकाल" मे रासभी की योनि से दी है। इस उन्मनावस्था के परे जो खसमावस्था है उसमे भी शैवों के अनुसार निर्द्वन्द्वता प्राप्त हो जाने पर भी योगी को सृष्टि का आभास बना रहता है। शाक्तागमो के अनुसार समनावस्था मे मन स्पन्दनहीन हो जाता है, और उन्मनावस्था मे 'चित्‌रूपा' एक कला को छोड कर शेष कलाएं शान्त हो जाती हैं। उन्मनावस्था के बाद बिन्दु भी लय हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मरन्ध्र मे नाद के लय हो जाने के पश्चात् भी 'बिन्दु' उन्मनावस्था तक चलता है। बिन्दु के लय के बाद की अवस्था समावस्था और तत्पश्चात् पूर्णप्रकाश की अवस्था 'पूर्णिमा' कहलाती है।

कबीर, सुन्दरदास आदि सन्त उक्त स्थितियों की चर्चा बार-बार करते हैं, किन्तु तंत्रों की तरह उनका विवरण नहीं देते। शाक्त जिस प्रकाश या ज्योति को उन्मनाभूमि के पश्चात् उत्पन्न होता मानते हैं, उसकी ओर सन्तों ने संकेत किये हैं। दयाबाई के अनुसार सूर्य के प्रगट होते ही अद्भुत ज्योति प्रकट होती है, चकाचौंध सी लगती है और मन शीतल हो जाता है।[1] भीखा साहब इसे "कातिक मास का उजास" कहते हैं।[2] गुलाल इसे ही आनन्दज्योति कहते हैं, जो "सुन्न" भवन में प्राप्त होती है। गुलाल तो शैव शाक्तों द्वारा प्रतिपादित शक्ति व शिव की एकता को पूर्णतः स्पष्ट कर देते हैं।[3] नाद व बिन्दु की एकता अगम शब्द तथा शक्ति का ऊर्ध्व-गमन भी गुलाल साहब को ज्ञात है।[4] इसे ही वह नूर कहते हैं जो झलमलाता और झलकता है तथा अनहदनाद रूपी तूर्य से भी गुलाल साहब परिचित हैं।[5] वह स्पष्ट 'उनमुनि' दशा का उल्लेख करते हैं।[6] कबीर दास 'उन्मनि' के आरोहण द्वारा ही गगनरस' या 'समरसावस्था' के रसपान और प्रकाश-प्राप्ति को सम्भव बताते हैं।[7] डा० ह० प्र० द्विवेदी ने कबीर में 'खसम' शब्द पर इस्लाम के प्रभाव को स्वीकार कर उसका अर्थ निकृष्टपति

---

१ उयत भान उजियार तह, प्रगटी अदभुत ज्योति।
चकाचौंध सी लगत है, मनसा शीतल होत।—दयाबानी, पृ० १२

२ कातिक मास उदासित, सुरति चलति परदेस—भीखाबानी, पृ० २७

३ अ भयो अघोर निसिबासर नाहीं, सुन भवन दरसायो।
जन गुलाल पिय मिलो सुहागिन, आनंद ज्योति समायो।—गुलाल
—बानी, पृ० ४७

ब सुन्नहि सक्ति समाइल, सिव घर सक्ति निवास—वही, पृ० ४६

४ अगम शब्द सुन गावल, नादहिं बिन्दु मिलाप—वही पृ० ५०

५ वही, पृ० ६५

६ उनमुनि लागो बंद, थकित भइ नौ दस नारी—वही, पृ० १२२

७ अ उन्मनि चढ़या गगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उज्यारा—कबीर
ग्रंथा० पृ० ११०

ब मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहूचा जाइ।
देख्या चंद बिहूंणा चांदिणा, तह अलख निरंजन राइ—वही, पृ० १३

स बाहरि खोजत जनम गवाया, उन्मनीं ध्यान घट भीतर लाया। पृ० ६४
अन्य द्रष्टव्य पद—कबीर ग्रंथा० पृ० ६६, १०३, १०६, ११०, १५८

भी किया है। यद्यपि वह यह भी मानते हैं कि यह शब्द कबीर को हठयोगियो के भी माध्यम से प्राप्त हुआ था और वहाँ उसका अर्थ गगनोपम अवस्था ही है।[1]

उन्मम अवस्था और खसमावस्था की उपलब्धि के आनन्द का संत मस्त होकर वर्णन करते है। इस आनन्द को संत 'निरति' का आनन्द कहते हैं, जो सम्भवत. 'नृत्य' का अपभ्रंश है। विकल्पो के नाश के बाद यह नृत्य या निरति साधक की स्थायी स्थिति बन जाती है और वह जागतिक कार्यो मे रत रहकर भी इस आतरिक आनन्द मे मग्न रहता है, इसे ही संत कबीर 'सहजसमाधि' कहते है।[2] वाममार्गी इसे ही 'कौलावस्था' कहते है क्योकि इस अवस्था मे बाह्य इन्द्रियाँ स्व स्व कर्म मे निरत रहकर आतरिक आध्यात्मिक आनन्द की सहायक बनती हैं, इन्द्रियाँ अपने-अपने आनन्द की आहुति उस आतरिक आनन्द में देती रहती हैं जिससे आतरिक आनन्द और भी बढता है। विवेक के अभाव मे यही ऐन्द्रिक आनन्द नाशक होता है। इस तथ्य को स्वीकार कर सुन्दरदास मुक्ति के लिए किसी भी उपाय को स्वीकार न कर, प्रत्येक सामान्य जीवन की चेष्टा को ही उपाय मान लेते हैं।[3] 'महासुख' की अवस्था भी यही है।[4]

किन्तु तान्त्रिकों की तरह सन्तकवि सहज जीवन का अर्थ वाममार्ग नही

---

१ कबीर—ह० प्र० द्विवेदी, पृ० ७७

२ साधो सहज समाधि भलो।
जहं जह डोलौं सो, परिकरिमा, जो कुछ करौं सो सेवा।—डा० बड़थ्वाल, पृ० २७३

३ सहज नाम निरंजन लीजे, और उपाइ कछु नहिं कीजे।
ना मोहि योग यज्ञ की आसा, ना मैं करौं पवन अभ्यासा।
ना मैं कोई आसन साधौं, ना मैं सूती शक्त्याराधौं।—सुन्दरग्रंथा० खंड १, पृ० ३०४

४ महासुक्ख मगन ह्वै नाचै, उपजै अंग तरग।
मन और तन थिर न रहत है, महासुक्ख के सग।
सब चेतन सब आनन्द सब हैं दु.ख गहन्त।
यहां आदि कह अन्त आप सुघर थिच परंत।—कबी—ह० प्र० द्विवेदी पृ० २५४

देते। वाममार्ग में वासना के रूपान्तरण के लिए वासना का भोग किया जाता है। यह साहजिक मार्ग है, जिसे सन्त नहीं अपनाते। वे सात्विक गार्हस्थिक जीवन को ही पर्याप्त मानते हैं।

नानक ईश्वर को इसके लिए धन्यवाद देते हैं कि गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी वह मुक्त होगए।[1] चरणदास जल में कमलवत् जीवन बिताने पर ही बल देते हैं।[2]

तान्त्रिक क्योंकि जगत् को महानन्द का ही एक रूप मानते हैं अतः उनके लिए जगत् में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो सूक्ष्म आनन्द में बाधक हो, जब तक द्वैतभाव है, तभी तक शुचि व अशुचि के भाव रहते हैं।

जहाँ तक चक्रभेदन या नादानुसंधान द्वारा नाद-बिन्दु के लय, उन्मनावस्था की प्राप्ति तथा चेतना को गगनोपम बनाकर आनन्दमग्न हो जाने की प्रक्रिया है, वह तान्त्रिकों व सन्तों में यथावत् मिलती है। सन्तों का शब्दयोग या सहजयोग तथा तान्त्रिकों का नादयोग पर्यायमात्र हैं।

उन्मनावस्था या खसमावस्था के सिवा सन्तमत में खेचरीमुद्रा तथा त्रिकुटी ध्यान की भी चर्चा मिलती है। बौद्ध तान्त्रिक खसमावस्था को ही खेचरत्व कहते हैं। हठयोग में जीभ को क्रमशः काट कर तालु में किये गये छेद में उसे प्रविष्ट कर चन्द्रनाडी से स्रवित अमृतरस के पान की क्रिया मिलती है। सन्तमत में ऐसी कठिन क्रियाओं की आवश्यकता नहीं है किन्तु चन्द्रनाडी से स्रवित अमृतपान की चर्चा मिलती है। इस अमृतपान के समय भी द्वैत रहता है, पूर्ण अद्वैत की स्थिति को बौद्ध तान्त्रिक सहजानन्द व कबीर राम रस कहते हैं।

तान्त्रिक आनन्द की जागृति के लिए शरीर में नाना प्रकार के तनाव उत्पन्न करते थे, अंगुलियों की नाना आकृतियां बनाते थे परन्तु उनका स्पष्ट कथन था कि प्रातिभ ज्ञान के उदय से मुद्राएँ स्वतःप्रकट हो जाती हैं। इसी अर्थ में सन्तमत में भी मुद्राएं स्वीकृत हैं। आनन्द के उदगम होते ही शरीर में जो परिवर्तन दिखाई पड़ते है, वे सन्तों को भी स्वीकृत हैं।

---

१ सतिगुरु की अति बडाई, पुत्र कलत्र बिचै गति पाई- डा० बडथ्वाल, पृ० १६१

२ जग माहा ऐसे रहो, ज्यों अम्बुज सर मांहि- वही, पृ० १६१

नादानुसन्धान मे त्रिकुटि मे ध्यान लगाने पर सन्त बहुत बल देते है। दयाबाई कहती हैं कि त्रिकुटी मे ध्यान लगाने से परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं।[1] दरिया कहते हैं कि वास्तविक योगी त्रिकुटी के कोट मे ध्यान लगाता है।[2] गोरखयोग मे 'त्राटकमुद्रा' प्रसिद्ध है। नासिका के शीर्ष भाग पर ध्यान लगाने तथा नेत्रो की पुतलियो को भ्रकुटियो की ओर खीचकर लाने से त्राटक मुद्रा बनाती है। सन्तो ने यह प्रक्रिया योगियो से ही ग्रहण की थी। यारी साहब ने अनेक मुद्राओ का उल्लेख किया है।[3]

डा० बडथ्वाल का मत है कि कबीर, दादू आदि त्रिकुटी को ही गगन कहते हैं।[4] अर्थात् त्रिकुटी मे ध्यान लगाकर प्राणायाम द्वारा श्वासारोधन कर वे नादानुसन्धान करके अन्त मे उन्मनावस्था को प्राप्त करते है और विकल्प नाश के पश्चात् अक्षय आनन्द या अमृत का पान कर मस्त रहते है। दरिया साहब ने लिखा है कि त्रिकुटी से दूध टपकता है और बिना बादल के ही वर्षा होती है।[5]

परवर्ती सन्त सम्प्रदाय में चक्र साधना—ऊपर के विवेचन से पूर्ववर्ती सन्तकवियो की साधना पर तान्त्रिक प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। परवर्ती सन्त-कवियो ने अपनी चक्र साधना को मौलिक साधना कहा है किन्तु परवर्ती सन्तो मे भी तान्त्रिक तत्व मिलते हैं। गरीबदास ने चक्रो के विवरण मे पूर्णत: तान्त्रिक पद्धति अपनाई है। चक्रो के देवताओ, वर्णो और बीजमन्त्रो को यथावत् तन्त्रों से लिया गया है। गरीबदास के मूलचक्र के देवता गणेश हैं। इस चक्र का वर्ण रक्त है और बीज मन्त्र 'क्ली' है।[6] स्पष्ट ही यह पद्धति तान्त्रिक है।

---

१ स्वास उसास विचारि कर, राखे सुरति लगाय।
दया ध्यान त्रिकुटी धरे, परमातम दरसाय।-डा० बड़थ्वाल, पृ० २४०

२ दरिया देखे दोह पख, त्रिकुटी संधि मंझार।
निराकार एकै दिसा एकै दिसा अकार।-वही, पृ० २४५

३ चाचरि मुद्रा से प्रीति लगावो भूचरि मुद्रा से प्रेम बढ़ावो।
अगोचरि मुद्रा से ध्यान भुगावो, खेचरि मुद्रा से दरस दिखावो।
—यारी साहब की रत्नावली, पृ० १४

४ डा० बड़थ्वाल, पृ० २४४

५ त्रिकुटी सुखमन चुवत छीर, बिन बादल बरसै मुक्ति नीर।
—मारवाड़ी दरियासाहब की बानी, पृ० ४६

६ डा० बड़थ्वाल, पृ० २५६

शिवदयाल व तुलसीसाहब ने यद्यपि आत्मा को नेत्रों के तिल में से आने का प्रयत्न किया है और योग में दृष्टि का प्रयोग अधिक किया है, तथापि उनके चक्र-विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तान्त्रिकों के विवरण के आधार पर ही उन्होंने अपनी मौलिकता का भवन खड़ा किया है।

शिवदयाल के राधास्वामी सम्प्रदाय में चक्रों का विवरण इस प्रकार है—

१ मूलाधार—स्थान-गुदा-लिंग के मध्य, कमलदलसंख्या-चार, देवता या धनी-गणेश, शक्ति-ऋद्धि व सिद्धि, शब्द-क्लीं, तथा वर्ण लाल।

२ स्वाधिष्ठान—स्थान-मूलाधार से कुछ ऊपर, कमलदल संख्या-छ, धनी-ब्रह्मा, शक्ति-सावित्री तथा शब्द-ओउम्।

३ मणिपूर—स्थान-नाभि, देवता-विष्णु, शक्ति-लक्ष्मी, शब्द हूँ, कमलदलसंख्या-आठ, तथा वर्ण श्वेत।

४ अनाहत—स्थान-हृदय, कमलदलसंख्या-१२, देवता-शिव, शक्ति-गौरी तथा शब्द-प्रणव।

५ विशुद्ध—स्थान—कंठ, दल सख्या—दो, 'देवता—मन शक्ति—अविद्या, शब्द—"श्रृं" तथा वर्ण—नील। इस चक्र का भेदन करने से बकनाल को पार करके त्रिवेणी के गर्त में उतरना पड़ता है और फिर उसे पार करना पड़ता है।

६ सहस्रकमल—इसका कमल सौ दलवाला है। धनी निरंजन है। ध्वनि शंख या घंटिका जैसी होती है। यहाँ पहुँचने पर शाकिनी डाकिनी तथा कालदूत भय दिखलाते हैं। किन्तु संतनाम का उच्चारण उन्हें भगा देता है।

७ त्रिकुटी—इसके कमलदल सात हैं धनी महाकाल हैं। शब्द ओंकार है। मृदंगध्वनि या मेघगर्जनध्वनि होती रहती है। वर्ण सूर्य-प्रकाशवत् है यहीं पर अमृत का उलटा कुआ विद्यमान है।

८ सुन्नचक्र—इसमें छः कमलदल हैं। धनी-अक्षर ब्रह्म, शब्द ररकार, ध्वनि-वीणा या सारंगी तथा वर्ण द्वादशसूर्य प्रकाशवत् है। यहाँ पर दशमद्वार में प्रवेश होता है जिसे योग में 'ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं।

९ महासुन्न—इसमे आठ दल है। धनी परब्रह्म है। यहाँ पांच अंड व पाच अक्षर ब्रह्म रहते हैं। चार गुप्त स्थान है। जहाँ पर पुरुष के दरबार की शासित आत्माएं बन्दी रूप मे रहती हैं।

१० भंवरगुफा—इसका धनी सोहं पुरुष है। शब्द सोहम् है। ध्वनि मुरली जैसी है। यहा अट्ठासी द्वीप है। बहुमूल्य हीरे है।

११ सत्यलोक—इसमे सत्यपुरुष रहते हैं। सत्यनाम की ध्वनि गूंजती है, वीणा की ध्वनि होती है। यहाँ आत्मा सोलह सूर्यों का प्रकाश करती है।

१२ अलखलोक—इसका धनी अलखपुरुष है। इसमे इतना तेज है कि करोडो सूर्य इसकी बराबरी नही कर सकते।

१३ अगमलोक—इसका धनी अगमपुरुष है।

१४ अकहलोक—इसका धनी अनामी पुरुष है। इस स्थान को वही जानता है जो यहाँ पहुँच पाता है।

डा० बड़थ्वाल की इन चक्रों या लोका की कल्पनाओं पर टिप्पणी है—'इधर के निर्गुणी जिन पर योग एवं तंत्र के अनेक मतो का पूरा प्रभाव रहा है, इन अनुभवा की विस्तृत व्याख्या करते हैं, उनमे बतलाई गई स्थितियों की संख्या प्रत्येक प्रचारक के अनुसार बदलती हुई दीखती है और सब मे एक निश्चित शब्द, निश्चित आकार, निश्चित वर्ण तथा एक निश्चित सूक्ष्म शब्द भी पृथक-पृथक लक्षित होता है, जिसके कम्पनों के कारण यह सभी उत्पन्न हुआ करते हैं। इनका सम्बन्ध भिन्न-भिन्न चक्रों से होता है और सबका एक न एक देवता व अपना धनी होता है जिसको कभी कभी एक शक्ति या देवी बतलाई जाती है।'[1]

परवर्ती कबीरपंथ में चक्रस्थिति—राधास्वामी सम्प्रदाय की तरह कबीर-पंथ मे भी तान्त्रिक प्रभाव को परवर्ती साधको ने अधिकाधिक मात्रा मे स्वीकार किया है यद्यपि वे उसकी घोषणा नही करते। कबीर मन्सूर में चक्रों का जो निम्नलिखित विवरण मिलता है, उससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है—

१ आधार चक्र—स्थान—गुदा, वर्ण—लाल, देवता—गणेश, शक्ति—सिद्धि बुद्धि, ऋषि—कूर्म, बंध—मूल, कमल—चार पत्ते.

---

१ डा० बड़थ्वाल, पृ० २५८

वाला, चार मात्रा—वं शं षं सं, ये भीतरी चार मात्राएं हैं तथा आनन्द, योगानन्द वीरानन्द और परमानन्द ये चार बाहरी मात्राएं हैं। चार घडी तथा बत्तीस पल तथा चार अक्षर दल चक्र में है। इसकी पूजा मानसी है। सोऽहम् भाव करके इसकी पूजा की जाती है।[1]

२ स्वाधिष्ठान चक्र—स्थान—लिंग, रंग—पीला, देवता ब्रह्मा, शक्ति—सावित्री, ऋषि—वरुण, वाणी—वैखरी वेद—ऋग्वेद, मोक्ष—सायुज्य, वाहन—हंस, अक्षर—व भ मं यं रं ल। इस चक्र की भी पूजा सोऽहं भाव से की जाती है।

इसी पद्धति पर कबीरमन्सूर में कुंडलिनी चक्र, मणिपूरकचक्र, मनोचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, बलवान चक्र, आज्ञाचक्र, पूर्णगिरिचक्र तथा सहस्रदलचक्र का वर्णन किया गया है। सहस्रचक्र के पश्चात् भी ब्रह्मरन्ध्रदेह चक्र तथा अक्षरभगवान चक्रों का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार तंत्रों के छः या सात चक्रों के स्थान पर परवर्ती कबीरपंथ में चक्रों की संख्या १३ कर दी गई है।

चक्रों की तरह ही तान्त्रिकों की पद्धति पर कुंडलिनी को शक्ति या महामाया कहा गया है। 'उसके मुह से फुफकार की आवाज आया करती है, यही ओंकार नाद है जो सब पिंड ब्रह्मांड का कारण है ... इसी शक्ति की फुफकार से मन चैतन्य होता है, मन के चेतन्य होते ही समस्त संसार की उत्पत्ति होती है। भांति भांति की सांसारिक वासनाएं ही कुंडलिनी का विष है। जब उस कुंडलिनी में 'फुनी' अर्थात् स्फुरण' होती है, तब मन निश्चय होने पर बुद्धि अहम् भाव प्रगट होने पर अहंकार और चिन्तन होने पर चित्त प्रगट होता हैं।[2]

कबीर बीजक से उद्धरण देकर कबीर मन्सूर के लेखक ने यह सिद्ध किया है कि कबीर कुंडलिनी योगी थे ....

इच्छा रूप नारि औतरी, तासु नाम गायत्री धरो।
ता तिय भग लिंग अनता, ते उन जानेउ आदि व अन्ता।
तीन पुत्र ता तिय के भयेउ, ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नाऊं।

कबीर मन्सूर के अनुसार यहाँ नारि का अर्थ कुंडलिनी ही है।

---

१ कबीरमन्सूर, पृ० ३१७

२ विस्तार के लिये द्रष्टव्य—कबीर मन्सूर, पृ० ३१० से ३१८

इस प्रकार परवर्ती कबीर-पन्थ पर भी तान्त्रिक साधना का प्रभाव दिखाई पडता है।

काया-सिद्धान्त—तान्त्रिक बौद्धमत मे रूपकाया, सम्भोगकाया, धर्मकाया, सहजकाया आदि का वर्णन मिलता है। इसी तरह कबीर की काया को भी अनेक रूपो मे देखने की प्रवृत्ति परवर्ती सन्तमत मे दिखाई पडती है। धर्मदास कबीर को सूक्ष्म प्रियतम के रूप मे मानते हैं। दयाबाई या सहजोबाई मे गुरु, प्रभु या प्रीतम मे कोई अन्तर नही दिखाई पडता। कबीर को उनके शिष्यो ने सत्पुरुष अर्थात् परब्रह्म के रूप मे उसी प्रकार बदल दिया है जिस प्रकार गौतम बुद्ध को परम सत्ता के रूप मे परिणत कर दिया गया था। सन्त गुरुओ का अवतार भी स्वीकार किया गया है।

कबीरमंसूर मे छ: प्रकार के शरीर माने गये हैं। इनका वर्णन तान्त्रिक पद्धति पर किया गया है—

१. स्थूलशरीर—स्थूलदेह, लम्बाई-साढतीन हाथ, वर्ण रक्त, ब्रह्मा देवता, गुण-राजस, मात्रिका-ओकार अवस्था जाग्रत, वाचा वेखरी मुद्रा-खेचरि, आदि।

२ लिंगदेह—अगूठी के बराबर आकार, मात्रिका-ओकार, वर्ण-शुक्ल, देवता-विष्णु, वाचा-मध्यमा, मुद्रा-भूचरि, मार्ग-विहगम।[1]

इसी प्रकार ३–कारणशरीर, ४–महाकारणदेह, ५–ज्ञानदेह, ६–विज्ञान का वर्णन भी इसी प्रकार किया गया है। ज्ञानदेह के विषय मे कहा गया है कि इसकी वाणी 'उन्मुनी' है और विज्ञानदेह के विषय मे कहा गया है कि न इसका रूप है और न रेख। इसमे द्वन्द्वो का पूर्ण नाश हो जाता है। इस काया मे ऐसा विचार होता है कि न मैं हूँ न तू है, न कर्त्ता हूँ न भोक्ता, न इच्छा है न अनिच्छा,।

कबीर मन्सूर मे कहा गया है कि ये छ प्रकार के शरीर साधना द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं,परन्तु इसके बाद एक काया और है। उसे प्राप्त कर लेने पर साधक यथार्थ मे लय हो जाता है। मनन स्वरूप से पतित होकर उक्त छ शरीर प्राप्त होते हैं किन्तु 'स्वसम्वेद' अर्थात् कबीर की वाणी उस अन्तिम देह को भी बताती है। 'कबीर की वास्तविक काया' वही सप्तम काया है जो

१ कबीर मन्सूर, पृ० ११३४ से ११३६ तक

उक्त षट्शरीरों से परे है, उसका स्वरूप केवल 'गुरु' ही बता सकता है। तात्पर्य यह है कि तन्त्रों का कायासिद्धान्त परवर्ती सन्तमत में भी स्वीकृत है। स्वयं कबीर ने षट्प्रकार के शरीर का वर्णन किया है, ऐसा भी कबीर-मन्सूर में कबीर-वाणी को उद्धृत करके प्रमाणित किया गया है। इन उद्धरणों में उक्त कायाओं के नाम यों हैं —१. स्थूलदेह, २. सूक्ष्मदेह, ३ कारणदेह, ४ महाकारण, ५ केवल्य देह, ६. हंसदेह। हंसदेह के उद्धरण इस प्रकार हैं।[1] कबीर की काया इन सबके परे थी[2] कबीर मन्सूर में अन्यत्र 'हंसदेह' को उपर्युक्त छह देहों से भिन्न माना गया है। इस 'हंसदेह' में पाँच पक्के तत्व होते हैं और पाँच कच्चे तत्व होते हैं। पाच पक्के तत्व—धैर्य, दया, शील, विचार और सत्य हैं।

उक्त पाँच पक्के तत्वों में प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद होते हैं।[3] हंसदेह इन्हीं पांच पक्के तत्वों से बनती है और हीनतर कायाओं में कच्चे तत्वों की प्रधानता रहती है। कच्चे तत्वों में-काम क्रोध, मोह, लोभ, आलस्य, निद्रा, रक्त, मूत्र, अस्थि आदि हैं।

योग 'युक्तियों' यज्ञ, तप, भजन, भक्ति आदि से केवल ब्रह्म सच्चिदानन्द

---

१ अवरण वरण रूप नहिं रेखा, ज्ञान रहित विज्ञाना।
नहिं उपजै नहिं विनशै, कबहूँ, नहीं आवै नहिं जाही।
इच्छा अनिच्छा न वृष्टि अवृष्टी, नहिं बाहर नहिं माही।
तत्वरहित रवि चन्द्र न तारा, नहिं देवी नहिं देवा।
स्वय सिद्धि प्रकाशक कह्यो है, नहिं स्वामी नहिं सेवा।
हंस देह विज्ञान भाव यह सकल वासना त्यागे।
नहिं आगे नहिं पीछे कोई, निज प्रकाश में पागे।
निज प्रकाश में आप अपन पौ, भूलि भए विज्ञानी।
उन्मत्त बाल पिशाच मूक जड, दशा पंच यह सानी।
कहैं कबीर सुनों हो सन्तो, खोज करो गुरु ऐसा।
जेहि आप अपुनैपा जानो, मेटी खटका रैसा।
कबीर मन्सूर, पृ० ११४१

२ स्थूल सूक्ष्म कारण यह कारण केवल पुनि विज्ञाना।
भये नष्ट यदि हेर फेर में, कतहुँ नहिं कल्याना।- वही

३ वही, पृ० ११५०-११५२

पद की प्राप्ति ही सम्भव बताई गई है। परन्तु इन विधियो से हंस देह नही प्राप्त हो सकती। संसार के सभी सिद्ध, ऋषि, मुनि, पीर और पैगम्बर इस हंसदेह को नही पा सके। केवल कबीर ही हंसदेह को पा सके हैं। 'पारख-गुरु' ही इस हंसदेह को प्राप्त करा सकता है।[1]

चमत्कार—सन्तगुरुओ के चमत्कार प्रसिद्ध ही है। कबीर नानक आदि गुरु ही नही, परवर्ती सिक्खगुरु तो चमत्कारी पुरुष माने गए हैं। गुरु अर्जुन-देव व हरगोविन्दसिंह इलहाम–शक्ति से युक्त थे, वे थोड़े से सैनिकों के द्वारा लाखो की सेना को परास्त कर सकते थे। औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर से चमत्कार दिखाने का दुराग्रह किया था। रहस्यवादी सन्त ही नही, सगुण भक्तो के साथ भी उनकी महिमा वृद्धि के लिए ऐसे चमत्कार चल पड़ते हैं परन्तु सम्प्रदायिक विश्वास इसे महिमावृद्धि का प्रयत्न न मानकर इसे सैद्धान्तिक रूप देता है। मन्त्र, चित्त, प्राण तथा देवता की एकता से नाना शक्तियाँ प्राप्त होती है। तान्त्रिको का यह अटूट विश्वास है। शक्ति-प्राप्ति का उपाय मन्त्र व देवता का ध्यान है। चक्र-साधना भी वस्तुतः ध्यान की ही एक प्रक्रिया है। ध्यान से शरीरस्थित सुप्त शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। सन्तों मे ध्यान, जप, आदि स्वीकृत हैं, अतः सन्तमत के गुरुओ के साथ चमत्कार स्वय ही जुड़ गये।

सन्तमत और जादू—हमने अथर्ववेद मे देखा है कि धर्म व जादू किस प्रकार साथ-साथ चलते हैं और किस प्रकार जादू या माया से परवर्ती दार्शनिको ने जगत् की व्याख्या करने मे सहायता ली है। वेदान्त ने तो जगत् को माया ही कहा, और लीलावादियो ने भी जगत को जादू ही कहा है, उसका अर्थ भले ही बदल दिया हो। सन्तमत मे ब्रह्म जादूगर या बाजीगर के ही रूप मे स्वीकृत है।

किन्तु क्रिया के क्षेत्र मे जिस प्रकार अथर्ववेद व तांत्रिको की क्रियाओ मे जादू के सम्पर्क व सादृश्य सिद्धान्त दिखाई पड़ते हैं, उस प्रकार बाह्याचारों के अभाव मे सन्तमत मे नही दिखाई पड़ते। परवर्ती सन्तमत मे अवश्य जादू का पुनः प्रवेश होता है।

गुरु का यथावत् अनुकरण, वेष-भूषा तथा चेष्टादि के अनुकरण से प्रत्येक

---

१ स्थूल सूक्ष्म कारण यह कारण पुनि विनाना।
भये नष्ट महि हेर फेर में मतहु नाहि कल्याणा।
कबीर मंसूर। वही, पृ० ११५६-११६३

साधक गुरु के समान 'पहुँचा हुआ' बनने का प्रयत्न करता है। इसमें जादू का सादृश्य सिद्धान्त ही काम करता है। धार्मिक क्रियाओं में बहुत कुछ ऐसा होता है जिसमें प्रयोक्ता बाह्य परिस्थिति को अनुकूल बनाने के लिए व्यर्थ प्रतीत होने वाली क्रियाएं करता है अथवा प्रार्थनाएं करता है। इससे वास्तविक परिस्थिति तो नहीं बदलती परन्तु प्रयोक्ता में आत्म-विश्वास अवश्य बढ़ जाता है और वह पहले से अधिक मनोबल से बाह्य परिस्थिति का सामना करता है। जादू का यही वास्तविक प्रतिफल है।

इस दृष्टि से समूचा सन्तमत बाह्य परिस्थिति को अनुकूल बनाने का ही रहस्यमय मार्ग है। सन्त साधक पूरी सच्चाई से यह समझते हैं कि केवल नाम-जप, ईश्वर-ध्यान, आदि से वे बाह्य परिस्थिति को बदल सकते हैं। वे एक सीमा तक अपनी आलोचना और प्रेम के सन्देश द्वारा सफल भी होते हैं। परन्तु सन्तों में जो गुह्य साधना है उससे सन्त अपरिमित आत्म-विश्वास ग्रहण करते हैं। एक परमसत्ता की कल्पना कर, उसका ध्यान करते हैं। भाव व अभाव के मध्य में उसे खोजते हैं और उन्हें इससे जो आत्मबल मिलता है उससे पोथीपथियों के उस पांडित्य को, जो समाज को समान-स्तर पर खड़ा नहीं होने देता था, चुनौती देते हैं। तान्त्रिकों का भी ऐसा ही विश्वास था कि रहस्यमय ध्यान से एक ही साधक सारे ब्रह्मांड को बदल सकता है। योगी अरविन्द जैसे साधक इस विश्वास को नवीनयुग में दुहराते दिखाई पड़ते हैं।

यह जो परमज्योतिमय ब्रह्म में लय लगाना या लय हो जाना ही जीवन का उद्देश्य माना गया है, इस 'लौ' या 'लय' को डा० बड़थ्वाल जैसे आदर्शवादी विचारक भी 'आटोसजैशन' कहते हैं। वह कहते हैं कि सन्तों ने यह बार-बार कहा है कि वे न माला का प्रयोग करते हैं, न जीभ ही हिलाते हैं। उन्हें उनका मालिक स्वयं स्मरण करता है। ऐसा होने पर उनकी सुरति ईश्वरीय भावना में मग्न हो जाती है, यही 'लौ या लय' है। इस प्रक्रिया में उस "स्वतः निर्देश या "आटोसजैसन" का भी सिद्धान्त निहित है जिसको आधुनिक स्प्रिट-वादी बड़ी दृढ़ता के साथ प्रतिपादित करते हैं और जो लययोग का भी आधारस्वरूप है किन्तु जिसका व्याख्या बहुधा इसके प्रधानग्रन्थों में नहीं पाई जाती। परन्तु अध्यात्मवाद की पुस्तकें स्वतः निर्देश के महत्व को स्वीकार करती हैं। एक प्रसिद्ध शास्त्रीय कहावत है कि "जाकी रही भावना जैसी, ताकी तैसी सिद्धि"। इससे भी अधिक योगवाशिष्ठ में कहा गया है कि हे महाबाहो! अन्य बातों को भूलकर जिस प्रकार कोई अपने विषय में अनुभव करता है,

वैसा ही वह हो जाता है। नाम-सुमिरन (सन्तो का) भी उसी प्रकार प्रभावित करता है।[1]

स्पष्ट ही स्वत: निर्देश का सिद्धान्त जादू का ही एक सूक्ष्म सिद्धान्त है। सगुण-भक्तो मे भी यह यथावत मिलता है। वस्तुत: वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव मे बाह्य जगत् के परिवर्तन के उपायो मे 'धर्म' एक मुख्य उपाय रहा है और धर्म से जादू की प्रक्रियाओ को कभी भी अलग नही किया जा सकता। तान्त्रिको की स्थूल सिद्धियो के प्रयत्न मे तो वह स्पष्ट हो जाता है किन्तु सूक्ष्म धर्म-साधना मे भी वह सूक्ष्म रूप मे मिलता है। अत सन्तमत भी उस आदिम मानस की परम्परा की धरोहर को सहेजता हुआ ही आगे बढा है।

अभिचार—आजकल तो सन्तो ने कबीर की 'बिरहुली' शीर्षक शब्दावली को साप के विष उतारने के लिए 'मन्त्र' के रूप म प्रयुक्त करना शुरू कर दिया है। सर्प आषाढ मास मे निकल आते है और दीपावली की रात्रि मे पुन: भूगर्भ मे प्रविष्ट हो जाते हैं। विश्वास यह है कि दीपावली की रात्रि को कबीर की बिरहुली का पाठ करने से सर्प फिर नही निकलते। बिरहुली इस प्रकार है—

आदि अन्त नहि होत बिरहुली।
नहि जड पल्लव पेड बिरहुली।
निशिवासर नहि होत बिरहुली, पानी पवन न होत बिरहुली।
ब्रह्म आदि सनकादि बिरहुली, कथि गए जोग अपार बिरहुली।
मास असाढहि शीत बिरहुली, बो इन साती बीज बिरहुली।
नित गोडे निन सींच बिरहुली, नित नव पल्लव पेड बिरहुली।
छिछिल बिरहुली,छिछिल बिरहुली,छिछिल रही तिहुँलोक बिरहुली
फूल एक भ र फुलल बिरहुली, फूलि रहल ससार बिरहुली।
ते फुल बन्दे भक्त बिरहुली, बाँधिके राउर जाहि बिरहुली।
ते फुल लेहीं सन्त बिरहुली, डसि गो बतेल साप बरहुली।
विषहर मन्त्र न मान बिरहुली, गाडडीर बोले पार बिरहुली।
विष की क्यारी बोयो बिरहुली, लोडत का पछिताय बिरहुली।
जन्म जन्म अब तरे बिरहुली, फलयरदनयत्त डार बिरहुली।
कह कबीर सचु पाय बिरहुली, जो फल चाखो मोर बिरहुली।[2]

---

१ डा० बड्थ्वाल, पृ० २२३, २२४
२ कबीर बीजक की टीका-विश्वनाथसिंह, पृ० ५१७

सन्तों के पदों का इस प्रकार मंत्रों के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति वर्तमान काल में बहुत अधिक पाई जाती है। भक्त कवियों की रचनाओं का भी ऐसा ही प्रयोग जहाँ तहाँ मिलता है। यह आश्चर्य का विषय है कि जो कबीर प्रत्येक प्रकार के अन्धविश्वासों का विरोध करते थे उनका मत भी अभिचार जैसी क्रियाओं से बच नहीं सका। इस प्रवृत्ति में गुरु की वाणी को गौरव देने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। जिस तरह तुलसी की चौपाइयों का प्रभाव "अमोघ" माना जाता है, वैसे ही कबीर की कविता का प्रयोग मंत्र के रूप में भी चल पड़ा है।

योग, ज्ञान और भक्ति—कबीर के अध्ययनकर्ताओं ने बताया है कि यद्यपि कबीर और अन्य पूर्ववर्ती सन्तों की वाणियों में योग व ज्ञान का वर्णन है तथापि ये कवि भक्त ही थे। दूसरी ओर वैष्णव सगुण सम्प्रदाय के भक्त हैं, जो योग का उपहास करते हैं, ज्ञान को भक्ति में आवश्यक नहीं मानते—वल्लभ मत में यही दृष्टि स्वीकृत है। तुलसीदास ने भक्ति "संयुतविरतिविवेक" मानी गई है। ज्ञान व योग का फल भक्ति है, यही तुलसीदास को मान्य है। मायावादी वेदान्ती भी मध्यकाल में भक्त हुए हैं। अध्यात्म-रामायण सैद्धान्तिक दृष्टि से मायावादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है तथापि भक्ति का गौरव-स्थापन वहाँ हुआ है। सच्चिदानन्द ब्रह्म के साथ अभिन्नता अनुभव करके प्रेम-प्रवाह बहाने वाले अद्वैतवेदान्ती मधुसूदन सरस्वती प्रसिद्ध ही हैं। अतः भक्ति की दृष्टि से योग, ज्ञान और कर्म मार्गों में अविरोध स्थापित हो जाता है। कबीर इसीलिए द्वन्द्वातीत या परात्पर सत्ता में विश्वास करके भी भक्त हैं क्योंकि आराध्य के प्रति हेतुरहित प्रेम और समर्पण उन्हें मान्य है।

ब्रह्म को निर्गुण मानकर भी उससे प्रेम करना, यही सन्तों की विशेषता है। सूफियों में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। किन्तु कबीर से पूर्व तमिल देश में शैव तथा कर्नाटक के वीरशैव सन्त शिव को निर्गुण मानकर भी मूलतः भक्त थे। यद्यपि ज्ञान व योग के भी ये प्रचारक थे। कश्मीर शैवमत व शाक्तमत के साहित्य में भक्ति-स्तोत्रों में भक्ति का निर्मल रूप दिखाई पड़ता है, अतः यौगिक साधनाओं व ज्ञान से मुक्ति मानने वाले तांत्रिकों में भी भक्ति का प्रचार था। महायानी बौद्धों में भी यही परम्परा स्वीकृत थी। सिद्धान्ततः महायानी, देवता के स्वरूप को मिथ्या या अनिर्वचनीय तत्व मानकर भी साधना के लिए देवतातत्व की भक्ति में विश्वास करते हैं। पांचरात्रमत में भी योग, ज्ञान व भक्ति में अविरोध दिखाई पड़ता है। अतः कबीर आदि सन्तों

की बानियो मे योग, रहस्यवाद व भक्तिभाव—तीनो एक साथ मिलते हैं, संतमत की इस पृष्ठभूमि की उपेक्षा करने से ही यह कहा गया है कि कबीर, नानक आदि सन्त योग व ज्ञान को कुछ यो ही स्वीकार करते हैं। यह कहना सही नही है कि कबीर, दादू आदि सन्त न कायासाधना मे विश्वास रखते थे न गुह्यात्मक साधना की कल्पना ही करते थे।[1] क्योकि इन्ही पंक्तियो के लेखक डा० हिरण्मय कहते हैं कि संतो की सहजसाधना का अंतिम लक्ष्य राम के प्रेम का रस चखना ही था।[2] यहां अंतिम पद के प्रयोग से यह साफ हो जाता है कि प्रारम्भिक लक्ष्य के लिए संत काया साधना को अवश्य स्वीकार करते थे, जिसके प्रमाण मे अनेक उदाहरण पीछे दिए गए हैं।

क्या कायासाधना से सम्बन्धित संतो के पद पंडित व मुल्लाओ को चनौती देने के लिए ही हैं? क्या योग का सारा बखेडा ज्ञानप्रदर्शनमात्र है? क्या यह भक्ति मे बाधक है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए तान्त्रिक परम्परा को ही देखना चाहिए।

श्री गोपीनाथ कविराज ने बताया है कि भक्ति चिदानन्द—लाभ है। चिदंश ज्ञानभाव है, ज्ञानवादी जब केवल चित् अंश पर ही बल देते हैं, तो वे ज्ञानमार्गी कहलाते हैं किन्तु आनन्द अंश पर बल देने वाले 'भक्त' कहलाते हैं। परमतत्व स्वातंत्र्यमत है। स्वतंत्रता ही पूर्ण शक्ति है। चरमावस्था मे भी शिव शक्ति का सामरस्य है और शिव शक्ति मे से एक का अभाव कभी हो नही सकता। ज्ञान के बाद इसी प्रकार भक्ति भी रह सकती है। कैतवहीन होने से सुभक्ति है। ज्ञान के बाद अद्वैतभक्ति रह सकती है परन्तु भक्त के ही हृदय मे, ज्ञानार्थी के नही।[3]

कविराज जी ने बताया है कि कश्मीरीशैवमत में रागात्मिका भक्ति स्वीकृत है। वीरशैवमत मे भी यही प्रवृति है। त्रिक् दर्शन मे प्रेमभाव की दशा में, जो ज्ञान के बाद शुद्ध रूप मे उत्पन्न होता है, द्वैत, अद्वैत दोनो अवस्थाएं रहती हैं। इसमे चित् व आनन्द का तथा ज्ञान व भक्ति का एक साथ सामंजस्य है। यह रस ब्रह्मानन्दविलक्षण है क्योंकि ब्रह्मानन्द मे चर्वण

---

१ हिन्दी और कन्नड़ मे भक्ति-आन्दोलन · डा० हिरण्मय, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, पृ० ३१०

२ वही, पृ० ३१०

३ शिवांक—कल्याण। कश्मीरी शैव दर्शन शीर्षक लेख-गोपीनाथ कविराज

नहीं है, मायावाद नहीं है और इस लिए द्वैताद्वैत—ज्ञान की स्थिति में अद्वैत भी है और द्वैत भी।[1]

नाथ-सम्प्रदायों में भी यही भक्ति व ज्ञान का अविरोध है। यही दृष्टि संतमत में भी प्राप्त होती है, अतः संतमत में योग, ज्ञान, रहस्यवाद तथा भक्ति एक साथ स्वीकृत है। कबीर के 'सहज' व 'रामनामरस' से केवल यह समझना कि संतकवि केवल ज्ञान—परम्परा की शोभा दिखाने के लिए ही योग के विचित्र रूपक सुनाया करते थे, मुख्यतः वे केवल सूर, हरिदास आदि की तरह कोरे भक्त थे, गलत है। कबीर की सहजसमाधि व रामनामरस में कायासाधना या नादानुसंधान एक आवश्यक प्रक्रिया है, अंतिम निर्मलभक्ति ही लक्ष्य है किन्तु ज्ञान व योग के बिना वह 'सहज' प्राप्य नहीं है। हां, आत्मज्ञान या ज्ञानयोगाभ्यास सिद्ध साधकों को ज्ञान के बाद की निर्मलप्रेम व समर्पण की स्थिति बिना कायायोग के ही प्राप्त हो जाती है। यदि यह स्थिति स्वीकार नहीं की जाती तो संतकवियों की वाणियों में अभिधान 'मात्र ज्ञानप्रदर्शन' मानना होगा। परवर्ती सन्तों में भी कायासाधना की परम्परा स्वीकृत है अतः उसे भी ज्ञानप्रदर्शन मानना होगा अतः कायासाधना को रामनामरस के लिए अनिवार्य साधना मान लेना ही उचित है, तांत्रिक पृष्ठभूमि भी इस प्रवृत्ति को पुष्ट करती है।

कविराज गोपीनाथ ने बोपदेव के 'मुक्ताफल' से भक्ति का एक विभाजन प्रस्तुत किया है,[2] इससे सन्तों के विषय में यह भ्रम दूर हो जाता है कि सन्त कवि कायासाधना के विरोधी न थे।
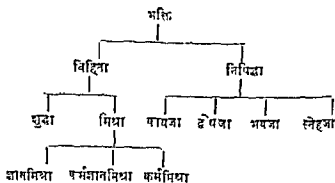
१. शिवांक-कल्याण कश्मीरी शैव दर्शन शीर्षक लेख-गोपीनाथ कविराज
२ एक नवीन भक्तिसूत्र सरस्वती भवन सीरीज, जिल्द २, १९२३ बनारस

निर्गुणभक्ति

इनमे शुद्धा अहैतुकी, अव्यवहिता या निरन्तरा भक्ति सर्वश्रेष्ठ है, अन्य सोपानरूप मे स्वीकृत हैं। सन्त भी 'शुद्धभक्ति' को लक्ष्य मानते हैं किन्तु सोपान के रूप मे 'मिश्राभक्ति' उनके यहाँ अनिवार्य रूप से स्वीकृत है। इसीलिए कबीर का 'रामनामरस' कोरा रामनामजप नही है, उसमे वृत्तियो की अन्तर्मुखता, परमतत्व के साथ एकात्म्य अनिवार्य है, विवेक और कायासाधना से ही यह सम्भव है, इसके पश्चात् जब परमतत्व मे चित्तवृत्ति 'लय' होने लगती है, 'लौ' या फना की स्थिति आजाती है, तभी निर्मल रामनामरस झरता है, और 'हंसा (जीव) मस्त होकर उसे पीता है। कबीर इसीलिए कहते हैं कि यह रामनामरस दुर्लभ है, 'आत्माहुति' से ही यह प्राप्त होता है। वृत्तियो के तत्व मे लय हो जाने पर ही समर्पण पूर्ण होता है अत कबीर आदि सन्तकवि कायासाधक भी थे और भक्त भी। परवर्ती सन्तो मे भी यह परम्परा दिखाई पडती है। बिहार वाले दरियासाहब ने कहा है कि जब पवन गगन मे पहुँचता है तब प्रेम को पीकर मनुष्य अमर हो जाता है। तात्पर्य यह कि सन्तों का रामनामरस कोरा भावुकतावाद नही है, उसकी योगमूलकता को नही भूलना चाहिए—

> एक पवन जब गगन समाई, पीयत प्रेम अमर ह्वै जाई।
> प्रेम पियाला पीयै कोई, बिना सीस का चीन्है सोई।
> सकल जिवन कहं लाय चोराई, जिन्ह नहिं 'नामप्रेमपद पाई।
> प्रेम पिरीति लगाय कै, सत्त सब्द अधार।
> नाम बिना नहिं बाचिहो, नर कोटि करो बैपार।[1]

सगुण भक्तो की नामसाधना मे कायायोग मे नही मिलता। कृष्णभक्तों ने तो कायायोग की निन्दा भी की है।

सन्तों की भक्ति व कायासाधना मे विरोधदर्शन का एक कारण बौद्ध-सहजयान की भ्रामक व्याख्या भी है। सरहपाद अपने समय की प्रायः सभी साधनाओ का विरोध करके सहजसाधना की स्थापना करते हैं। कबीर भी सहज समाधि को ही अन्य सबके ऊपर प्रतिष्ठित करते हैं। सरहपाद ने बज्र-यानियों के वाममार्ग की भी निन्दा की है और भोग्य स्त्रियो या मुद्राओ के स्थान पर केवल अपनी पत्नी के साथ गृहस्थ जीवन व्यतीत करने पर बल दिया गया है। अन्य कवियों की भी यही दृष्टि है। किन्तु सरहपाद की

---

१ दरियासागर, पृ० ५

सहज साधना और एक मुक्त व्यक्ति के साधारण गृहस्थ जीवन में अवश्य अन्तर मानना पड़ेगा। सरहपाद बिना इन्द्रियों को पीड़ित किये हुए अन्तर्मुख होकर आत्मसाक्षात्कार के प्रयत्न से सामान्य जीवन को उसका अंग बनाते हैं। चित्तशुद्धि पर इसीलिए सरहपाद अधिक बल देते हैं। बिना चित्तशुद्धि के बाह्य उपाय—दक्षिणाचार व वामाचार दोनों व्यर्थ हैं। किन्तु चित्तशुद्धि के प्रयत्न में रत साधक सामान्य गृहस्थ जीवन में भी मुक्त हो सकता है, यही सहजसाधना है। कबीर भी यही कहते हैं और चित्तशुद्धि के उपायों में कायासाधना या नादानुसन्धान को आवश्यक मानते हैं। सरहपाद, तारोपा, कृष्णवज्र आदि सहजयानी भी कायासाधना का चित्तशुद्धि के लिए अवश्य समर्थन करते हैं, सन्तकवि 'भक्ति' पर सहजयानियों से अधिक बल देते हैं, अतः सहजयान द्वारा प्रतिपादित 'सहजजीवन' के सिद्धान्त से कायासाधना के बहिष्कार का तात्पर्य ग्रहण करना उसी प्रकार गलत है जिस प्रकार सन्तमत के सहज समाधि के सिद्धान्त से उसका बहिष्कार करना। वृत्तियों पर अनुशासन प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही 'सहज समाधि' और "रामनामरस" प्राप्त होता है, यदि ऐसा न होता तो कीर्तन में मग्न प्रत्येक व्यक्ति को "पहुँचा हुआ" साधक मानना पड़ेगा। अन्तर्मुखी चेतना ही अपना साक्षात्कार कर सकती है, आत्मप्रेम या ब्रह्म में 'लौ' लगाना यही है, इस लौ को वही प्राप्त कर सकता है जिसका चित्त शुद्ध हो, जो सदा अखण्ड रस का आस्वादन कर सके, बस यही भक्त है[1] और जिस में पूर्ण समर्पण और द्वैतहीनता के साथ चेतना के आनन्दांश की अनुभूति की क्षमता हो। इसके लिए कायासाधना-ज्ञान द्वारा चेतना के अनुसंधान आदि अनेक उपायों को सन्त स्वीकार करते हैं। इसीलिए उन्होंने बार बार कायासाधना पर बल दिया है, तान्त्रिकों ने बतलाया है कि जिस प्रकार भी साधक में आध्यात्मिकता जाग्रत हो, वही उपाय वैध है। मन को वश में लाने के लिए कोई भी उपाय स्तुत्य है।

सन्तकवियों की भक्ति के विषय में एक और भ्रम दास्य व दाम्पत्यभाव के विषय में है। शैव व शाक्तों में दास्यभाव व दाम्पत्यभाव-दोनों भाव प्राप्त होते हैं। वीरशैवभक्तों में 'अक्कमहादेवी' में मधुरभाव व दासभाव दोनों का वर्णन

---

१ सदा अखंडित एक रस, सोऽहं सोऽहं होय।
सुन्दर या हो भक्ति है, बूझै बिरला कोय।—सुन्दर ग्रन्थ० भाग २, पृ० ६७०

मिलता है।[1] कश्मीरी शैव सम्प्रदाय मे 'दास्यभाव' व दाम्पत्यभाव दोनो स्वीकृत हैं। शाक्तो में देवी के साथ तादात्म्य के लिए अपने को स्त्री मानकर उपासना की जाती है। सूफियो मे 'रबिया' निर्गुण ब्रह्म के प्रति दाम्पत्य-भाव रखती थी। तात्पर्य यह कि ब्रह्म को निर्गुण मानकर चलनेवाले साधको मे दास्यभाव, व दाम्पत्यभाव दोनो मिलते हैं। सन्तकवियो मे भी भारतीय तान्त्रिक परम्परा के अनुसार दास्य व दाम्पत्यभाव दोनों दिखाई पडते हैं। वैष्णव परम्परा मे तो दाम्पत्यभाव का विकास विशेषत: दिखाई पडता है। यहाँ यही दिखाना इष्ट है कि निर्गुणपरम्परा मे भी दोनों भाव रहते है। मीरा मे एक सीमा तक यही निर्गुण परम्परा दिखाई पडती है और यही कबीर दादू आदि मे दिखाई पडती है। धरमदास, सहजोबाई, दयाबाई आदि मे गुरु को ही 'प्रीतम' के रूप मे स्वीकार किया गया है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होना चाहिए कि सन्तो की भक्ति मे परमतत्व के साथ चैतन्य का पूर्ण विलयन ही ध्येय माना गया है। वैष्णवभक्तो के यहाँ गोलोकस्थित परमात्मा के साथ क्रीडा मे भाग लेने को ही भक्ति का लक्ष्य माना गया है। वैष्णवो के यहाँ जीव का अस्तित्व मुक्ति की अवस्था मे भी रहता है किन्तु सन्तो की भक्ति मे शराब और पानी की तरह ब्रह्म-जीव की एकता मानी गई है, अत: सन्त कवि रहस्यवादी तान्त्रिको की परम्परा मे आते हैं जबकि वैष्णव भक्ति का विकास पाचरात्र आगम की परम्परा मे हुआ है। कबीर मन्सूर मे भक्ति का लक्षण दिलचस्प है।

'भग से पार हो जाने का नाम ही भक्ति है। जब तक यह जीव भग मे पाया जाया करता है, तब तक कोई भक्ति पद नही मिलता।[2]

अत: सन्तो की भक्ति ज्ञानलक्षणा भक्ति है जबकि भक्तो की भक्ति 'भावरूपा' है। यह अन्तर मान लेने पर कबीर के रामनामरस तथा तुलसी के रामनामरस मे अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। सन्त रूपहीन सूक्ष्म आत्मतत्व का साक्षात्कार कर हर्षित होकर गाने लगता है, जबकि तुलसी का रामनाम रूप के साथ सीमित है। इसीलिए बिहारवालेदरिया साहब ने सगुण भक्तो की बहिर्मुखता पर व्यग्य करते हुए कहा था—

---

१ डा० हिरण्मय, पृ० १२६, १२७
२ कबीर मन्सूर, पृ० ११५८

अगम गम्य करहु गुन दाता, त्यागहु संशय जम कै त्रासा ,
मन के पाछे सब जगत भुलाना, मन चीन्हें सो चतुर सुजाना।
मनहि तीर्थ वह गवन फिरावैं, मन ही मन के पुजा चढ़ावैं।
मनहि मारि मनही में आवैं, मनहि चीन्हि के जग समुझावैं।
सोवा भगति सब मनहि भुलावैं, मूल भगति विरला कोई पावै।
जौं लगि मूल शब्द नहि पावै, तौं लगि हंस लोक नहि आवैं।
अठदल कंवल भवर तहं, गुंजै, देखहु शब्द विचारि।
कह दरिया चित चेतहू, देहु भरम सब डारि।[1]

अतः नवधा-भक्ति का समर्थन करने वाले संतों के पदों को उद्धृत करते समय यह नहीं भूल जाना चाहिए कि सन्तों की 'मूलभगति' के साथ योग—साधना तथा प्रातिभज्ञान जन्य तत्त्वलयलीनता का सम्पर्क बहुत अधिक मात्रा में मिलता है। इसीलिए प्रेम और उन्मनावस्था दोनों का एक साथ सम्बन्ध दरियासाहब स्थापित करते हैं—

जब उनमुनी प्रेम परगासा खुलै कंज पुंज निज वासा
मधुकर राज वास सुख पावैं, लपटि प्रान सपुट खुलि जावैं।
सो पद पंकज दिल मे लागा, प्रेम प्रीति मन भौ वैरागा।
भय संसय भय जात भोराई, प्रेम प्रतीति नाम निज पाई।[2]

अतः वितर्करहित चैतन्य का स्पर्श पाकर ही सन्तकवि मस्त होकर गा उठता है, आराध्य के रूप व क्रीडा में मग्न रहने वाले भक्तों से उनके 'प्रेम' व भक्ति का अन्तर स्पष्ट है।

दरियासाहब ने स्वयं ही 'तुलसी की भक्ति' और संतों की भक्ति में यह अन्तर बताया है—

सुरति चिन्हैं बिनु भये दिवाना।
मन परचै बिनु आप भुलाना।
तुलसी तारक मंत्र दृढ़ावैं।
राम तारक से जग भरमावैं।
माया पछ परसै सब कोई।
निर्भय एह खोजो नहिं सोई।

---

१ दरियासागर, पृ० १०, ११
२ दरिया साहब, पृ० ११ (दरियासागर)

कह दरिया सुनु पंडिता, यह करता को भेव।
पत्थर फूल का पूजहु, सुमिरन करु सुखसेव।
दरिया भगति कहावै सोई, जाके मन उजियार।
अवरि भरम भठ सठ मुए, निर्भय नांहि गंवार।[1]

मारवाड़ी दरियासाहब ने भक्ति और प्रेम का स्वरूप जहाँ समझाया है उसे 'नाद परचे का अंग' कहा है क्योंकि 'राम का नाम' एक शब्द है और इस "शब्द" का आंतरिक नादानुसंधान से अवश्य सम्बन्ध है—

रूप न रेख न वरन है, ऐसा अगम विचार।
नामी परचा ऊपजै, मिट जाय सभी विवाद।
नाभि कंवल से ऊतरा, मेरु डंड तल आय।
खिड़की खोली नाद की, मिला ब्रह्म से जाय।
दरिया चढया गगन को, मेरु, उलंघया वंड।
सुख उपज्या सांई मिल्या, भेंटा ब्रह्म अखंड।[2]

किन्तु इस प्रकार के योगपरक उद्धरणों पर विचार न कर प्रायः ऐसे उदाहरण चुन लिए जाते हैं, जिन्हें देखकर सगुण भक्तों के पद्यों और संतों के पद्यों में कोई अंतर ही नहीं रह जाता, उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद देखिए—

दरिया हिरदम राम से, जो कछु लागै मन।
लहरैं उट्ठें प्रेम की, ज्यों सावन बरषा घन।
रसना सेती ऊतरा, हिरदे कीया वास।
दरिया बरखा प्रेम की, घट ऋतु बारह मास।
दरिया सुमिरे राम को, आठ पहर आराध।
रसना में रस ऊपजै, मिसरी के से स्वाद।[3]

सामान्य व्यक्ति के लिए इस प्रकार के पद्यों व सगुण भक्तों के पदों में मे कुछ भी अंतर नहीं है। जहाँ यही समस्या है कि किसी प्रकार भगवान का नाम तो जीभ से निकले, वहाँ भाव, कुभाव, अनख, आलस किसी भी दशा मे 'हरिनाम' निकले, अच्छा ही है किन्तु साधना के समय साधक की चित्तवृति पर

---

१ दरियासाहब, पृ० ४७, ४८, ५० (दरियासागर)
२ दरियासाहब (मारवाड़ी) की बानी पृ० १६
३ वही, पृ० १६

ध्यान देते ही सगुणभक्तों के प्रेम के पद तथा, संतकवियों के प्रेम के पदों में अन्तर प्रतीत होने लगता है, क्योंकि सन्तकवियों में सर्वथा वितर्क रहित स्थिति को प्राप्त करने का लक्ष्य रहता है, वहाँ तत्व की खोज चेतना के भीतर ही होती है, चेतना को सहारा देने के लिए केवल नाम है। जबकि सगुण भक्तों के लिए नयनाभिराम हरिलीलाएं हैं। नाना मनोहर छवियों का ध्यान है। सगुण भक्तों को अपने अस्तित्व की भी चिन्ता रहती है और आराध्य के अस्तित्व की भी। कबीर ने एक रमैनी में स्पष्ट रूप से राम, कृष्ण, शिव आदि देवताओं की भक्ति करने वालों की भर्त्सना करते हुए कहा है—

भक्तों भक्तिन कीन शृंगारा, बूड़ि गए सब मांझहि धारा।

अर्थात् 'साहब' को छोड़कर जो नाना देवताओं का भजन करते हैं वे साहब को नहीं जानते और नाना वेष बनाते हैं, कोई चन्दन लगाता है, कोई मृगछाला लपेटता है कोई रास करता है—ये सब संसार रूपी धारा में डूब कर मर जाते हैं।[1]

विश्वनाथसिंह ने उक्त रमैनी की टीका में 'ज्ञानलक्षणा भक्ति करने वाले वेदान्तियों की भी भर्त्सना की है क्योंकि वे (वेदान्ती) कहते हैं कि "हम ही ब्रह्म हैं, ऐसे लोग मन की धारा में डूब कर मरते हैं क्योंकि यह सब मिथ्या है" ऐसा अनुभव अन्ततः मन ही से तो उत्पन्न होता है अतः मन की धारा में ऐसे वेदान्ती डूब मरते हैं।[2] अतः कबीर उसे ही वास्तविक भक्ति कहते हैं जिसमें अलंकार का सर्वथा लोप हो जाय। इसलिए कबीर तांत्रिक परम्परा के ही भक्त हैं।

आचार—चर्या या आचार के प्रति तांत्रिकों का दार्शनिक दृष्टिकोण सन्त मत से सादृश्य रखता है। तन्त्र मूलतः बाह्याचार विरोधी हैं, सन्तों का भी यही दृष्टिकोण है। किन्तु तन्त्र साधना के सोपान के रूप में चर्या को अनिवार्य मानते हैं।

पंथ के रूप में परिणत होने पर यह सम्भव नहीं था कि संतगुरु सिद्धान्तः आचारविरोधी होने पर भी उसका प्रयोग आरम्भ न करते। क्योंकि सम्प्रदाय बनने पर "सिद्ध" और "साधारण" में भेद करना ही पड़ता है, अतः कबीर पंथ में प्रवेश करने पर पान का 'परवाना' दिया जाता है। इस परवाने पर

---

१ कबीर बीजक की टीका विश्वनाथ सिंह, पृ० ४५

२ वही

सत्तनाम लिखा रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि परवाना देखकर मृत्यु के द्वार के प्रहारी साधक को नही रोक सकते, वह मृत्यु द्वार से पार होकर परलोक चला जाता है। कबीरपंथी भक्तो की ही तरह १६ उपचारो को भी मानते हैं।

कबीरपन्थ मे भी गुरु का चरणामृत लिया जाता है। गुरु के चरणो को धोकर उस पानी से गोलिया बना ली जाती है, शिष्य उन्हे प्रेम से खाते है। हिमालय की पहाडियो मे कबीरपन्थी निरकार के नाम से शूकरो का बलिदान करते हैं।[1] कबीरपन्थी अपने ललाट पर सीधी रेखाएं बनाते हैं, श्वेत वस्त्र पहनते है, सिर, दाडी मुडाये रहते हैं। कबीर के एक पद मे चन्दन का लेप, नवीन वस्त्रो का चदोवा, सतगुरु के लिए आसन, गजमुक्ता द्वारा चौका लगाना, धोती, नारियल, मिठाई, केले, कपूर, सुगन्धिया, पान, सुपारी, कलश, दीपक आदि का प्रबध करना, गायन और वादन, नारियल को पुष्प के लिए समर्पित करना आदि आचार वर्णित है।[2]

कबीरपथ मे तान्त्रिको की ही तरह बाह्याचारो को प्रतीक रूप मे भी ग्रहण किया गया है—

चदन का लेप	— आत्मानुभूति
चदोवा	— परमात्मा की शरण
गजमुक्ता	— विवेक ज्ञान
पान-सुपारी	— प्रेम निवेदन
कलश	— शरीर
दीपक	— ज्ञान का प्रकाश
मृदग का ताल	— अनहदनाद
नारियल	— सुरति

परवर्ती कबीरपथ ने तान्त्रिको के 'भैरवी चक्र' के आधार पर 'चौका—पद्धति' का आविष्कार किया है। इसे त्रिदोषनाश निमित बताया गया है।[3] कहा गया है कि जिस प्रकार शिव, गणेश, विष्णु, सूर्य, शक्ति, राम और कृष्ण आदि जडमूर्ति की पूजा होती है, उसी तरह कबीर साहब के मत मे भी गुरु,

---

१ डा० बडथ्वाल, पृ० ३२५

२ वही, पृ० ३२८

३ चौकाविधान—पृ० १, साधु युगलदास कबीरपन्थी, बडौदा, १९४० ई०

साधु व चैतन्य मूर्ति की पूजा होती है। जिसको चौका कहते हैं।[1] चौकाविधान नामक पुस्तक में कहा गया है कि मनुष्य के अन्तःकरण में मल, विक्षेप और आवरण ये तीन प्रकार के दोष होते हैं। ये ही त्रिदोष कहे गये हैं, इनके नाश के लिए पारिवरयश या गुरुपूजा का विधान किया गया है।

चौकाविधान के लिए प्रत्येक पूर्णमासी तथा अमावस्या का समय पवित्र माना गया है। इन अवसरों पर सब साधुओं को बुलाकर 'सत्संगति' की जाती है। चौकाविधान का लेखक स्वीकार करता है कि आजकल चौकाविधान "अपवित्र" हो गया है।[2]

जी० एच० वेस्टकोट ने जो चौका का चित्र दिया है, वह तांत्रिकों के मण्डल का ही अनुकरण मात्र प्रतीत होता है।[3]

---
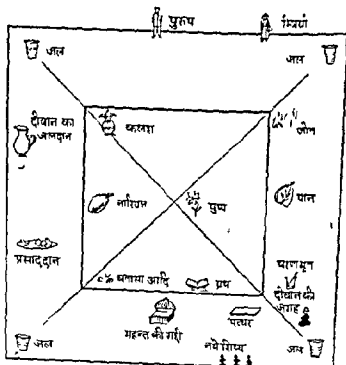
१ चौकाविधान पृ० १ साधु मंसुदास कबीर पन्थी बड़ौदा १९४० ई० भूमिका
२ वही, पृ० ८
३ कबीरपन्थ जी० एच० वेस्टकोट, कानपुर, पृ० १२९

जडमूर्ति-उपासना—तान्त्रिकों की तरह परवर्ती कबीरपन्थ मे पत्थर, काष्ठ रक्त, सिन्दूर, बालू या चित्रमय मूर्ति की रचना की जाती है और इनका ध्यान किया जाता है।

चैतन्य मूर्ति उपासन—यह गुरु व सन्तो के द्वारा प्रत्यक्ष परमात्मा की उपासना है और सूक्ष्म है। यद्यपि यह कहा गया है कि गुरु या सन्तो के शरीर की उपासना न करके सूक्ष्म गुरु-शरीर की उपासना की जानी चाहिए, किन्तु व्यवहार मे यह सिद्धान्त निभता नही है और गुह्याचार इस पन्थ मे प्रविष्ट कर गया है। कबीर के मुख से कहलवाया गया है—

बनजारिन विन्ती करे, सन्त सुन साजना।
साधो नरियर लीन्हें हाथ, सन्त सुन साजना।
बिना बीज का वृक्ष, सन्त सुन साजना।
साधो बिन धरती अकूर, सन्त सुन साजना।
जाका मूल पताल है, सन्त सुन साजना।
साधो नरियर शीश अकाश, सन्त सुन साजना।
बिना भेद जनि मोरहु, सन्त सुन साजना।
साधो जीव एकोतरि हानि, सन्त सुन साजना।
गुरु का शब्द ले मोरहु, सन्त सुन साजना।
साधो फूटे यम का कपार, सन्त सुन साजना।
सखियां पाच सहेलरीं, सन्त सुन साजना।
साधो नौ नारी बिस्तार, सन्त सुन साजना।
कहहिं कबीर बघेल से, सन्त सुन साजना।
रानी इन्द्रमती सरदार, सन्त सुन साजना।[1]

तान्त्रिको की ही तरह इस पद का प्रतीकात्मक अर्थ किया गया है कि बनजारिन ही जीवात्मा है परन्तु गुह्य साधको मे इनका अभिधेयार्थ भी प्रचलित है, उसी तरह जिस तरह तान्त्रिको मे यहाँ चाडाली, डोमिनी आदि शब्दो के अभिधेयार्थ भी स्वीकृत थे। महन्त लोग चौका म बैठकर नारियल को तोडते हैं अथवा इस क्रिया द्वारा वे कपाल फोडते हैं। इसका तात्पर्य है नारियल की 'गिरी' या 'सार' प्राप्त कर लेना तथा कपाल फोडने का अर्थ है, काल विजय कर लेना। इसी तरह 'तिनुका' (तृण) तोडने का भी प्रतीकार्थ इस पथ मे प्रचलित है।

---

१ चौकाविधान, पृ० २४

कबीरपंथ में गुरु की सेवा और पूजा का विस्तृत विधान मिलता है। 'बन्दगी' करते समय शिष्य गुरु को ब्रह्म रूप देखता है।

चेतन जोति अनूप है, सब घट रहा समाय।
साथ कबीर बन्दन करीं, दीन्हें सोई लगाय।[1]

तान्त्रिकों की तरह वामाचार के समय कहे गये स्तोत्रों की जगह 'स्त्री-प्रसंग' के समय का एक स्तोत्र मिलता है—

उग्र ज्ञान को सुमिरि के
सत सुकृत को ध्याय।
निरमल चित सों परसिया
सतगुरु होय सहाय।[2]

तात्पर्य यह कि 'स्त्रीप्रसंग' के समय 'उग्रज्ञान' और 'निरमलचित्त' की आवश्यकता है अन्यथा पतन अवश्यम्भावी है। जो कबीर बाह्याचारों का खंडन करते थे, उनके मुख से कहलवाया गया है—

माला तिलक निन्दा करें, ते परगट जमदूत।
कहैं कबीर विचारि कै, तेई राक्षस भूत।
द्वादश तिलक बनावई, अंग अंग अस्थान।
कहैं कबीर विराजही, उज्ज्वल हंस समान।[3]

नानक के सिक्ख मन्दिर में पुस्तक-पूजा की जाती है और पंचककार'[4] का दृढ़ता के साथ पालन किया जाता है। फर्कुंभर ने कोटवा के सतनामियों में एक गायत्री क्रिया का उल्लेख किया है। इस क्रिया में मनुष्य शरीर के मूत्र पुरीष आदि गन्दे द्रव्यों का एक पेय बनाया जाता है और साधना में उसका बड़ा महत्व बताया गया है।[5] राधास्वामी सम्प्रदाय में गुरु की पीक शिष्यगण पीते हैं और गुरु के उच्छिष्ट को 'जोतप्रसाद' कहकर ग्रहण करते हैं। गुरु नानक के पुत्र श्रीचन्द के उदासी सम्प्रदाय में भस्म और विभूति के

---

१ सुमिरणदर्शन-युगलदास, पृ० २, ३, कबीर धर्म नगर, सन् १६११ ई०
२ वही, पृ० ६
३ कबीर मन्सूर, पृ०१३,६३
४ केश, कंघा, कटार, कड़ा और कच्छ
५ डा० बड़थ्वाल, पृ० ३२३

प्रति बड़ी निष्ठा है। इनका अपना एक गुप्त मन्त्र है जिसमे यह कहा गया है—

चरण साधका धो-धो पीयो, अपर साध को अपना जियो।[1]

नामधारी सम्प्रदाय के साधक आराधना के समय सिर हिलाते है और शैवो की तरह चिल्लाते हैं।

आचारखंडन—सन्तमत मूलतः आचार-विरोधी मत था। यह प्रत्येक प्रकार के पौरोहित्य का विरोधी था। सुन्दरदास कहते हैं कि तू क्यों परिश्रम करता है, क्यो व्यर्थ तीर्थादि मे भटकता है, सत्य तो घर बैठे ही आता है।[2] कोई दूध पीता है, कोई सिद्धि के लिए पागल हो गया है, केवल सन्त ही ऐसे गाय के बछडे हैं, जो नित्य ही बिना परिश्रम के जल पीते हैं और मस्त रहते है।[3] यन्त्र, मन्त्र और झाड-फूंक करना व्यर्थ है, रसायन क्रिया भी व्यर्थ है। इन सब बाह्यक्रियावादियो के सिर पर रेत पड़ती है।[4] केश लुंचन से कोई यति नही होता, न कान फाड लेने पर कोई योगी होता है, यह सब सिद्धिया उपहासास्पद है।[5]

चित्त की शुद्धि ही सब कुछ है, उसी की प्राप्ति साधना का सार है। अन्तमुंखता ही प्रक्रिया है, तंत्रो का यह सिद्धान्त ही सन्तमत द्वारा आचार खंडन की पृष्ठिभूमि मे काम कर रहा था। इसीलिए सुन्दरदास कहते हैं—

लागी प्रीति पिया सो सांची, अवहूं प्रेम मगन होइ नांची।
लोक वेद डर रह्यों न कोई, कुल मरजाद कहे का होई।[6]

सुन्दरदास ने सभी सम्प्रदायवादियो को साधना का वास्तविक महत्व समझाया है—

---

१ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा: परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग पृ० ३६२

२ सुन्दर ग्रन्थावली, खंड २, पृ० ७३३

३ वही

४ यंत्र मंत्र बहुविध करे, झाड़ा बूंटी देत।
सुदर सब पाखण्ड है, अंत पड़ं सिर रेत॥ वही पृ० ७३५

५ वही,

६ सुन्दरग्रन्थावली, खड २, पृ० ६०५

जगम कहावे तो तूं एक शिव ही को देखि,
थावर जगम सब हंत मानिए।
जैनी तू कहावे तो तू बोध बुद्धि दूरि करि
सुन्दर कहत जिनराज उर आनिए।
भगत जू कहावे तो तू चित्त एक ठौर आनि,
स्वासो स्वास सोहं जाप यही माला फेरिए।
आगमी कहावे तो तूं अगम ठौर को जान ...... [1]
रामानन्दी होय तो तूं शुद्धानन्द को विचार,
निम्बादती होय तो तू, कामना कटुक त्याग।
मध्वाचारी होइ तो तू, मधुर मत को विचारि
विष्णु स्वामी होय तो तू व्यापक विष्णु को जान। [2]

कबीर के अनुसार १४ विद्याओं में पारंगत विद्वान भी अन्तर्मुखता के अभाव में साधना का मर्म नहीं जान पाता किन्तु जो हंस-दशा को प्राप्त हो जाता है, वह आत्माराम में लीन हो जाता है। [3] अतः न वैष्णवों की तरह उपवास करने की आवश्यकता है, न तपस्वियों की तरह कठोर साधनाओं की, रामनाम रस अर्थात् तत्वपरामर्श ही पर्याप्त है। [4]

तात्विक अनुसंधान को ही साधना में उपयोगी मानने के कारण संतों ने आचारों का खंडन किया है। गुरु नानक ने कहा है कि जगत् को न 'जोर' से जीता जा सकता है न बाहरी 'जुगति' से। [5] "जोर" से नानक का तात्पर्य यह है कि सामान्य ऐन्द्रिक भोगों को भोगते समय भी यदि तत्व का अनुसंधान चलता रहे तो सिद्धि मिल सकती है। कोरे हठ योग से इन्द्रियों को व्यर्थ ही क्लेश भी होता है और सिद्धि भी नहीं मिलती। इसी तरह शास्त्र के प्रदर्शन से भी कोई लाभ नहीं होता। [6] नानक के अनुसार आचार-पालन में कर्म की प्रवृति अधिक

---

१ सुन्दर ग्रन्थावली खण्ड २, पृ० ६१०, ६११
२ वही, पृ० ६१७
३ कबीर का बीजक-रामनारायण लाल, पृ० २
४ जगजीवन बानी, प्रथम भाग, पृ० १२
५ जोरु न सुरती गिआनि बिचारि, जोरु न जुगती छुटै संसारु।—ग्रन्थ-साहब पृ० ७
६ ता कीआ गला कथीआ ना जाहि, जे को कहै पिछै पछुताइ—वही पृ० ८

रहती हैं।[१] उन्होने स्पष्ट रूप से कहा है कि मनुष्य आचारो से पवित्र नही होता, तत्व की 'वूर्फ' से पवित्र होता हैं।[२] इस वूर्फ के बिना सब 'करम धरम' व्यर्थ हैं। इस कर्मधर्म के समर्थन के लिए जो पोथियो मे ज्ञान मिलता है, वह बन्धन ही है।[३] बाहरी चमत्कारो के चक्कर मे फंसे सिद्धो को भी वह व्यर्थ कहते हैं।[४] गुलाल साहब भी आचारों को धोखा ही कहते हैं, उन्होने आचार वादियो को "अधम" कहा है।[५] आचारो के पीछे तृष्णा के कारण गुलाल साहब घोषणा करते हैं—

माला जपों न मंतर पढ़ों, मन मानिक को प्रम।
कंथ गुहरि पहिरो नहीं, कह गुलाल मेरे नेम ॥[६]

धरमदास जिस आचार को पसंद करते हैं, वह आतरिक एकता का पाणि-ग्रहण संस्कार है। सतगुरु जिसमे ब्राह्मण है, जो लगन शोधन करते हैं, वह जिस वर के साथ विवाह करना चाहते हैं,उसका न पेट है,न कर है,न पग। धरमदास इस वर से मिलने के लिए झालर बाधते हैं, वेंदी से शोभित होते हैं, वह चन्द्र व सूरज के पार जाना चाहते हैं, जहाँ माणिक्य का दीपक प्रकाशित हो रहा है, वहाँ प्रेम का स्तम्भ गाड कर गँवी 'विस्तर' विछाया जाता हैं, वहाँ कनक के कलश रखकर मंगल गाए जाते हैं, जहाँ मोतियो की झालर आभा विखेरती है, जहाँ तिरबेनी से नीर मंगाकर और जहाँ अक्षयवट की डार लेकर सुकृत का कलश भर कर पाव पूजे जाते हैं।[७] यही अद्भुत आध्यात्मिक आचार संत-कवियो को मान्य है, लौकिक आचार उन्हे मान्य नहीं है।

धरमदास स्पष्ट कहते हैं कि इस आध्यात्मिक आचार के लिए आत्मा और इन्द्रियो को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है। रुचि के साथ प्रेम सहित भोजन करना चाहिए, क्योंकि भगवान अन्न छोड देने पर नही मिलते और न

---

१ गुरि राखे से उबरे, होरि मुठी धंधे ठगि—वही, पृ० १६
२ विनु वूर्फ तू सदा नापाक, वही पृ० ३७४
३ वही, पृ० ४०५ तथा ४६६
४ वही पृ० ४७०
५ भाई रे धोखे सब अरुझाना, केतिक अधम कहां लगि वरनों,
फरम धरम है जाल—गुलालवानी, पृ० २१ तथा ४५
६ गुलाल बानी, पृ० ५६
७ धरमदास की शब्दावली, पृ० ४६ से ५१ तक

तीर्थादि गमन से मिलते हैं, घरबार छोड़ देने से भी वह नहीं मिलते हैं, न रात दिन जगते रहने से वह मिलते हैं, वह तो दया व वास्तविक धर्म से ही मिलते हैं, दिखावे से नहीं।[1]

आचार के ऐसे घोर विरोधी सन्तमत में परवर्ती रूप में जब हम आचार-निष्ठा देखते हैं तो आश्चर्य और दुःख होता है क्योंकि इन्हा आचारों के कारण अनेक उपसम्प्रदाय खड़े हो गये। मौलिक तत्वानुसंधान की एकता होने पर भी तान्त्रिकों के उपसम्प्रदायों में भी मंत्र, वेष आदि बाहरी बातों के कारण ही भेद उत्पन्न हो गये थे। यही परिणति सन्तमत की भी हुई।

कथाएं—कथा तंत्र साहित्य का मुख्य भाग नहीं है किन्तु आगम या संगीति का प्रादुर्भाव किसी कथा के साथ ही हुआ है। उदाहरण के लिए पार्वती शिव से कहती हैं कि संसार में पापी ही अधिक हैं, इनके उद्धार की कोई व्यवस्था नहीं की गई है आपने यज्ञयाग का विधान केवल विद्वानों के लिए ही किया है। उच्च ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही उनसे सद्गति प्राप्त कर सकते हैं। और तब भगवान शंकर तंत्र की उत्पत्ति के कारण बताते हैं। शंकर के अनुसार इस संसार में विलास और वासना का ही प्राबल्य है अतः उन्होंने इस गुह्यमार्ग का आविष्कार किया है।[2] गुह्यसमाज—तंत्र में भी कथा के साथ ही तत्र-चर्चा प्रारम्भ होती है। पांचरात्र आगम में नारद की श्वेत द्वीप की कथा प्रचलित है। दूसरे प्रकार की कथाएं तंत्रों में गुरुओं और साधकों के विषय में मिलती है। कुछ कथाएं चमत्कारों के विषय में हैं। तान्त्रिकों की प्रवृत्ति के अनुसार य सब कथाएं आध्यात्मिक सत्यों की व्यंजना भी प्रस्तुत करती है।

सन्तकवियों के विषय में भी ऐसी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। कबीर विषयक कथाएँ बहुत प्रसिद्ध हो चुकी हैं। जगजीवनदास के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपनी लड़की के विवाह में बरातियों को बैंगन का साग खिलाया था और बरातियों ने यह समझा कि वे मास खा रहे हैं।[3] बुल्लासाहब गुलालसाहब के

---

१ आतम कष्ट कबहुँ नहिं दीजै रचे सो प्रेम से भोजन कीजै।
हरि न मिलै अन्न छाँड़े, हरि न मिलै डगर ही छाँड़े।
दया धरम जहं बसै सरीरा, तहां खोजिलै कहै कबीरा—वही पृ० ४

२ यस्य पापादिक देवि स कथं स्वर्गभाजनम्, अतएव महेशानि गुप्तभावं मया कृतम्-मेरुतंत्र, अध्याय ४, पृ० ६, बम्बई, संवत् १६६५ शके।

३ जगजीवन की बानी, प्रथम भाग, पृ० २

यहाँ हल जोतने पर नौकर थे। गुलाल ने ध्यानमग्न बुल्ला पर पादप्रहार किया तो बुल्ला के हाथ से दही छलक पडा। पूछने पर बुल्ला ने बताया कि वह मन ही मन सन्तो को भोजन परोस रहे थे, केवल दही बाकी था, सो गिर गया।[1] सिक्ख गुरुओं के चमत्कार की कथाएँ तो अनेक हैं। सिक्खो ने सोढी खत्रीजाति का सम्बन्ध राम के पुत्र लव और कुश के साथ जोडा है। रघुवंशी सोढीराय ने कुश के वंशजो को पंजाब से मार भगाया था। वे बनारस की ओर भागकर वेद का प्रचार करने लगे।[2] एक कथा से सन्तमत के स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है। ईश्वर ने कहा कि जब यह सृष्टि मैंने रची तो सर्व प्रथम असुरों और राक्षसो की रचना की, उन्होने मेरी उपासना बन्द कर दी, तब मैंने देवता बनाये, वे यज्ञो मे बलि लेने लगे और अपने को ही सब कुछ समझ बैठे। तब मैंने आठ सिक्ख गुरु बनाये जो दिग्पाल के रूप मे रचे गये ताकि रक्षा हो सके। आगे कहा गया है कि जिन्होने वेद-मार्ग पकडा वे आचारवादी रहे और जिन्होने मुझसे प्रेम किया उन्होने वेद-मार्ग छोड दिया।[3]

इसी प्रकार दरिया साहब के विषय मे कहा गया है कि गणेश पंडित ने दरिया साहब को तभी प्रामणिक माना था जब गंगा ने उनके पैर धोये थे।[4]

कथाओं से आध्यात्मिक अर्थ भी निकाले गये और सम्प्रदाय के लोग तो इन कथाओं का अभिधेयार्थ भी सत्य मानते हैं। गोरखनाथ के विषय मे कहा गया है कि वे "सिद्ध-शरीर" धारण कर अब भी जीवित है। सन्तो के विषय मे भी यही धारणा है। गोपीनाथ कविराज "सिद्ध-शरीर" की सत्ता की सम्भावना ही नही मानते, उसे सिद्ध तक कर सकते हैं, अत: कबीर ने जो गोरखनाथ से वार्तालाप किया था वह गोरखनाथ के 'सिद्ध-शरीर" से किया था। इस कथा पर जब आलोचक हँस पडता है तब सन्तकवि उसकी बहिर्मुखता पर सहानुभूति दिखाते हैं, क्योंकि कथा का अभिप्राय गूढ़ है!

परवर्ती सन्तमत मे कथाएँ पौराणिक रूप अधिक धारण करती हैं। कबीरमन्सूर के अनुसार सन्तमत को छोडकर अन्य मत निरंजन के द्वारा

---

१ बुल्ला का शब्दसार-जीवन चरित्र भाग
२ सिक्ख रिलीजन, जिल्द १० पृ० २९८
३ वही
४ संतकवि दरिया-धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ० १६

फैलाये गये हैं, अतः जब निरंजन ने अपनी राजधानी झाभरी द्वीप में स्थापित की, तब ज्ञानीजी उस द्वीप में गये और सत्य नाम की "हाँक" लगाई। यह हाँक लगाने की परम्परा गोरखपंथी योगियों की कथाओं में ली गई है। झाभरी द्वीप में काल पुरुष और योगजीत (कबीर) में झगड़ा हुआ। कालपुरुष ने योगजीत पर दांत मारा तब योगजीत ने उसका मुँह पकड़ कर ऐसा आघात किया कि जिससे वह दूर जाकर गिर पड़ा। अन्त में उसने यह स्वीकार किया कि उसने मनुष्यों को फँसाने के लिए वेद, शास्त्र, तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजा, यंत्र-मंत्र, हवन आदि की रचना की है। कबीर ने उसे डाटा कि हे काल बटमार! जिस जीव को मैं शब्द सुनाऊँगा उसके ऊपर कुछ वश नहीं चलेगा।[1] कबीर ने तब सत्य युग में सुकृत जी के नाम से, त्रेता में मुनीन्द्रजी के नाम से, द्वापर में करुणामयजी के नाम से तथा कलियुग में सत्य कबीर नाम से अवतार लिया। कबीर ने पुरी में जाकर पंडों को ललकार कर कहा कि आज से जगन्नाथपुरी में छूआछूत नहीं रहेगी। कलियुग में चौदहवीं बार कबीर काशी की लहरिया तालाब पर प्रकट हुए। कबीर को सिकन्दर लोदी ने अग्नि में जलाया, कुएँ में डाला परन्तु कबीर को वह मार नहीं सका। एक बार बादशाह ने तेरह गाडियाँ कागज कबीर के पास भेजा और कहा कि यदि ढाई दिवस में कबीर ने उन्हे लिख दिया तो उन्हे सिद्ध मान लिया जायगा। कबीर ने तान्त्रिकों की तरह अथवा एक जादूगर की तरह एक लकड़ी उन कागजों पर घुमाई और वे पुस्तकें लिख गई।[2] ऐसी कथाओं को सिद्धों की चमत्कारवादी परम्परा में ही रखना चाहिए।

यह स्मरणीय है कि संतमत की बहुत सी कथाएँ पद्यबद्ध भी की गई हैं, अतः कविता के संदर्भ में उन कथाओं पर यहाँ विचार हो सकता है।

अभिव्यंजना-पद्धति—संतकवियों ने तत्व की 'कथनी' में प्राचीन परम्परा को ही स्वीकार किया है। तत्व के कथन में अथर्ववेद भी गुह्यज्ञानरूपक पद्धति को अपना कर चला था।[3] गुह्यज्ञान को विचित्र ढंग से कहने की प्रवृत्ति को हम ब्राह्मणों व उपनिषदों में भी देख चुके हैं।[4] तान्त्रिकों में रूपक, प्रतीक व

१　कबीर मन्सूर, पृ० ६६ से ६६ तक
२　कबीर मन्सूर, पृ० ८१, ६३, १५७
३　अथर्ववेद में तांत्रिक तत्व-गुह्यज्ञानरूपक परम्परा
४　यजुर्वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदों में तांत्रिक तत्व-कथन पद्धति

विपरीत-कथन पद्धति विशेषरूप मे विकसित हुई है। तंत्रालोक मे अभिनव गुप्त प्रत्येक शब्द का प्रयोग प्रतीकार्थ मे प्रयुक्त करते है, उससे गूढ़ासाधना भी संकेतित होती है और उच्च दार्शनिक सिद्धान्त भी। ऊपर से देखने पर तान्त्रिको की शब्दावली कामशास्त्रीय दिखाई पडती है परन्तु गहराई से विचार करने पर वही शब्दावली दार्शनिक तत्वों को भी स्पष्ट करती है। कबीर भी इसी पद्धति पर गोमासभक्षण व मदिरापान का उपदेश देते दिखाई पडते हैं।[1] शैव-शाक्त-नाथ व संतो मे यह परम्परा अखंड रूप से प्रवाहित होती है। नाथपंथी जानबूझ कर हठयोग के प्रचार के लिए तान्त्रिक कथन-पद्धति से सामान्य जनता का ध्यान आकर्षित करते थे। इसलिए उन्होने कहा है कि गंगा और यमुना के मध्य में तपस्विनी बालविधवा रहती है, उस पर बलात्कार करना चाहिए।[2] इसका वास्तविक अर्थ है कि सुषुम्णा नाडी मे बल पूर्वक श्वास-संचालन करना चाहिए।

प्रतीको मे बोलने के कारण सन्तकवियो के अनेक प्रतीको को उसी प्रकार समझना पडता है जिस प्रकार तान्त्रिको की शब्दावली को समझाना पड़ता है। पंडित ह० प्र० द्विवेदी तथा डा० बडथ्वाल ने सन्तकवियों के ऐसे प्रतीकों के कुछ अर्थ दिये हैं।[3]

सुन्दर ग्रंथावली मे राशि राशि प्रतीक प्राप्त होते हैं—

> मछरी बगुला कौ गहि खायो, मूसै खायो सांप।
> सूवै पकरि बिलइया लै गई, ताकैं मुए गयो सताप॥

मछरी=मनसा। बगुला=दम्भ। मूषा=मन। सांप=सशय। सूआ=प्राण। बिलइया=दुर्मति।

> बेटी अपनी मा गहि खाई, बेटे अपनो खायो बाप।

बेटी=बुद्धि। मा=माया। बेटा=ज्ञान। बाप=ईर्ष्या।

---

१ नितै अमावस नितै ग्रहन होइ, राहु ग्रास तन छीजै।
सुरही भच्छन करत वेदपुत, घन बरिसै तन छीजै।
कबीर-हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४६

२ गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात……, कबीर, ह० प्र० द्विवेदी, पृ० ४६

३ वही, पृ० ८३, ८४, ८८, ६१ तथा
डॉ० बड़थ्वाल, पृ० ३७१

कुंजर को कीरी गिलि बैठो, सिंघ हि खाइ अघानो स्यार।
मछरी अग्नि माँहि सुख पायो, जल में हुतो बहुत बेहाल।

कुंजर=काम। कीरी=बुद्धि। मछरी=मनसा। अग्नि=ब्रह्म। जल=माया।[1]

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संतों ने नवीन प्रतीकों व रूपकों को ग्रहण किया है। कथा-पद्धति की तांत्रिक परम्परा का स्वीकार करके भी संतकवियों ने प्रतीकों व रूपकों की विविधता में मौलिकता का बहुत अधिक परिचय दिया है। साधारण जीवन से चरखा, बिल्ली, मछली, तोता, वृक्ष आदि प्रतीक चुनने में संतों ने निपुणता व व्यावहारिक ज्ञान का परिचय दिया है, किन्तु जहाँ तक आदि स्रोत का प्रश्न है, सन्त तान्त्रिकों के ही ऋणी हैं। स्मृतियों के नियमों में जकड़े हुए तथा शास्त्रीय ज्ञान से प्रभावित समाज को गूढ़ अनुभूतियों की ओर आकर्षित करने के लिए शैव, बौद्ध, शाक्त साधक प्रतीकात्मक शब्दावली का प्रयोग करते थे। इससे तान्त्रिक पुस्तकीयविद्या का उपहास करके जनता में अपने व्यक्तित्व और विचारों की विशिष्टता बनाये रखते थे, किन्तु तान्त्रिकों की शब्दावली में कामवासनापरक शब्दावली का प्रयोग अधिक हुआ है। इसकी जगह पर सन्तों में ओज और नैतिक दृढ़ता अधिक दिखाई पड़ती है।

सन्तों की 'ककहरापद्धति' का स्रोत भी तान्त्रिक परम्परा ही है। सम्भवत सरहपाद से इस परम्परा का प्रचार प्रारम्भ होता है—

क का (कुलिश) मातृकमलमध्ये स्थित यह काया बेंधि अमृत झरै।
ख खा ख-सम बसि ललाट शून्य   ।
ग गा गमन लास्य करि करि स्थूल कर   ।[2]

भीखासाहब का ककहरा इस प्रकार है—

नजि लेहु सुरति लगाय, ककहरा नाम का।
क—काया मे करत कलोल, रैनि दिन सोहं बोलै।
ख—खोजै जो चित लाय, मरम को अंतर खोलै।।

---

१ सुंदरग्रंथावली, भाग २, पृ० ५१३ से १६ तक तथा ऐसे ही अन्य दृष्टव्य पद, पृ० ५१६ से ५६६ तक।

२ दोहाकोशगीति-महापंडित राहुल, बिहार, राष्ट्रभाषापरिषद, पटना, पृ० १२९

ग-- ग्यान गुरु छाया कियो, दियो महा परसाद ।
घ--घुंमड़ि घहरात गगन में, घटा अनाहद नाद ॥
त--नैन सों देखो उलटि कै, ठाकुर को दरबारी ।
च--चमतकार वह नूर, पूर संतन हितकारी ।
छ--छिन मां मनि तिन कर्म गयो है, जीव ब्रह्म के पास ।

ककहरा के ही अनुकरण पर अलिफ़नामा भी लिखा गया--

बिन हरि कृपा न होय ककहरा ज्ञान का ।
अलिफ-अलाह अभेद सुरति जद मुर्सिद देवे ।
बे--कहुके नहिं दूर निकटहीं दरसन सेवे ।
ते--ते व्यापक सकल है जल थल बन गृह छाइ ।
से--से आप मासूक बनो हैं कोउ आसिक दरसाय ।
जीम--जबून है जहर जवत को भोग सुभारी ।
हे--हुक्क न समुझत नान करम सों करत खुवारी ।[1]

सिद्ध-परम्परा ने, इस प्रकार लौकिक काव्यरूपो को अपनाने की जो प्रेरणा दी थी, वह प्रेरणा सन्त काव्यरूपो मे प्रतिफलित हुई है ।

सन्त कवियो के वाणी विभाग पर भी बौद्ध प्रभाव दिखाई पडता है । 'बोधिचर्यावतार' के 'वीर्यपारमिता' नामक सप्तम परिच्छेद का विषय कबीर और दादू आदि सन्तो के 'सूरातन अंग', के विषय मे मिलते हैं । तथागत का 'मध्यपंथा' (मध्यमाप्रतिपदा) और कबीर व दादू का 'मधि को अंग[2] देखकर विस्मित होना पडता है ।[3]

कथनी का सामाजिक पक्ष--सन्तों की कथनी युगान्तर उपस्थित करने वाली है । सन्तकवि अपने समय की सामाजिक, धार्मिक, सैद्धान्तिक व्यवस्था के कठोर आलोचक हैं। वे वर्ग, वर्ण जातिपांति रहित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के पक्षपाती हैं ।

भारतवर्ष मे रहस्यमार्गी सम्प्रदाय अपने समय की सामाजिक व्यवस्था के कठोर आलोचक रहे हैं । उपनिषदों ने कर्मकाण्ड की भर्त्सना की है। आगे तान्त्रिकसिद्ध शताब्दियों तक वर्णों व वर्गों पर आधारित समाज के अन्तर-

---

१ मीखासाहब की बानी, पृ० ७४, ७५
२ कबीरग्रंथावली, पृ० ५३ तथा ६८
३ संस्कृति संगम : क्षितिमोहन सेन, पृ० ६८, ६६

द्वन्द्वों का उद्घाटन करते हैं और बाह्य विधि निषेधों की आलोचना ही नहीं करते, परन्तु अतिवाद की सीमा तक जा पहुँचते हैं। उनकी उच्छृंखलता आदर्श है, ऐसा समझ बैठना भूल है। तथ्य कुछ और था केवल यह है कि समाज को संगठित करने के लिए जो नियम बनाये गये थे उनके दुरुपयोग से समाज अविभाज्य इकाई का रूप धारण नहीं कर सका और अनेक जातियों व उपजातियों में बँट गया। जन्म से जातिवाद के कारण कठोरता के साथ जातिवाद की रक्षा की गई, धर्म व साधना के माध्यम द्वारा इसी सामाजिक जड़ता के विरुद्ध विद्रोह का दूसरा नाम ही आगम या तन्त्र है। दूसरी ओर तन्त्र उच्चवर्गीय संस्कृति से भिन्न लोक विश्वासों, साधनाओं, रीतिरिवाजों, एक शब्द में सम्पूर्ण लोकमानस को आगमों में समेटने का प्रयत्न करते हैं।

तान्त्रिकों का लक्ष्य था ऐसे समाज व जीवन का निर्माण जिसे "सहज" कहा जा सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तान्त्रिक साहसिक पथ अपनाते हैं, किन्तु सन्त कवि सामान्य पथ को नहीं छोड़ते। प्रक्रिया के इस अन्तर को छोड़कर दोनों मार्गों में उक्त आधारभूत एकता दिखाई पड़ती है। सन्त कवियों से पूर्व सहज जीवन रक्षा व सामाजिक विषमता के नाश के लिए वीरशैवसन्तों ने साहसिक कथनी प्रस्तुत की थी—

"वही अन्त्यज है जो प्राणियों की हत्या करता है, जो गन्दी चीजें खाता है वही चाण्डाल है।"[1] ऐसा कहते समय वीरशैवों का उद्देश्य जाति प्रथा पर प्रहार करना ही था।

सन्त बसव जाति से ब्राह्मण थे अतः निम्न जातियों के वीरशैव सन्त उन पर पूर्ण विश्वास नहीं करते थे, इसीलिए उन्होंने अपनी जाति पर पश्चात्ताप किया है—

हे कूडलसंगम देव! उत्तम कुल में पैदा होने का कैसा भारी बोझ तुमने मेरे सिर पर लाद दिया है। यदि मेरे पिता डोहर कक्कय्या होते और मेरे दादा चन्नय्या होते तो कितना अच्छा होता। मैंने तो श्वपच्चय्या से भक्ति के सद्गुणों की शिक्षा पाई है। मैं कैसा अभागा हूँ कि मेरा जन्म ऐसे कष्ट-दायक कुल में हुआ।[2]

वीरशैवों ने ब्राह्मणों द्वारा वर्णों की उत्पत्ति का उपहास करते हुए कहा

---

१ हिन्दी और कन्नड में भक्ति आन्दोलन, पृ० २६५

२ वही

है कि शिव के बालो से ब्राह्मण, आँखों से क्षत्रिय, नाक से वैश्य, अधर से किसान, कानो से ग्वाला, गले से कुंआर, बाहुओ से अन्त्यज, इसी प्रकार १८ अंगों से १८ जातियां हुई हैं।[1]

वीरशैवो का विरोध विशेषरूप से ब्राह्मण जाति से ही था, क्योंकि ब्राह्मण ही अनावश्यक उच्चता की रक्षा मे कठोरता बरतते थे। इसीलिए सन्तकवियो की ही तरह वीरशैव अवतारवाद, मूर्तिपूजा और पुराणों के साथ ब्राह्मणो का सम्बन्ध देखकर उनका खण्डन करते हैं–वेद ब्राह्मणों का जंजाल है शास्त्र बाजार की गप है, पुराण निठल्लो की गोष्ठी है।[2]

सहज जीवन की प्रतिष्ठा के लिए वीरशैव इन्द्रियो के दमन के विरुद्ध थे। बसव ने लिखा है कि इन्द्रियो को सताना ठीक नही हैं क्योंकि वे फिर से हमे सताने लगेगी। सिरियाल तथा चंगले नामक भक्ति दम्पति ने क्या रति-सुख को त्याग दिया था ? क्या सिन्धु बल्लाल नामक भक्त ने रतिसुखभोग छोड़ दिया था ?[3]

बौद्ध तान्त्रिक तथा शैव-साधक भी समाज की ऐसी ही भर्त्सना करते हैं और सहज जीवन पर जोर देते हैं। सरहपाद ने लिखा है कि ब्राह्मण वेद नही जानते, वे यो ही वेद पढ डालते हैं, वे यो ही व्यर्थ हवन करते हैं और कडुए धूंएं से आँख फोडते है। यदि नग्न रहने से मुक्ति होती है तो श्वान व शृगाल भी मुक्त हो सकते हैं। यदि जैनियो के तरह लोम-मुंचन से मुक्ति होती है तो युवती के नितम्ब भी मुक्त हो जाएंगे।"[4] सरह के अनुसार वर्ण-भेद से भक्ति नही होती, रत्न (तत्व) परीक्षा से मुक्ति होती हैं।[5]

यह मानना होगा कि तान्त्रिकों की कठोर आलोचना से वर्ण व जाति के बन्धन शिथिल अवश्य हुए थे और शूद्र वर्ग को अधिक सुविधाएं दी गई थी, सन्तों के आन्दोलन ने यही कार्य उत्तर-भारत में किया था। रामानन्द जैसे आचार्य दक्षिण के शैव-वैष्णव आन्दोलन से परिचित थे। अतः सन्त कविता के आलोचनात्मक पक्ष पर भी तान्त्रिक प्रभाव दिखाई पड़ता है।

---

१ हिन्दी और कन्नड में भक्ति आन्दोलन पृ० २६६
२ वही, पृ० २६७ तथा ३०१
३ हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन, पृ० ३१४
४ दोहाकोशगीति पृ० ३
५ वही, पृ० ६

सन्तकवियों की कथनी का दूसरा रूप सारग्रहण में दिखाई पड़ता है। सन्तकवि जहाँ जो ग्रहणीय है उसे बेहिचक ग्रहण करते थे। यह दृष्टि भी तन्त्रों से उन्हें प्राप्त हुई है।

अथर्ववेद से लेकर सन्तों के पूर्व तक कर्मकाड तथा बाह्य विधि निषेधपरक स्मृतियों और शास्त्रों के विरुद्ध तान्त्रिक परम्परा विभिन्न रूपों में, जनता के प्रत्येक स्तर में स्वीकृत सभी उपासना के स्वरूपों, सभी देवी-देवताओं, सभी सिद्धान्तों, मन्त्रों, ध्यान, जप आदि विधियों को स्वीकार करके चली है, अतः एक ओर तान्त्रिक परम्परा अपनी कथनी में अपना सम्बन्ध वैदिक-परम्परा से स्थापित करती है तो दूसरी ओर वह शिव-उमा सवाद को ही अपना 'आगम-स्रोत' मानती है। कश्मीरी शैव मत, वीरशैवमत, तथा अन्य सम्प्रदायों में यही दृष्टि मिलती है। इसीलिए तन्त्रो में समूची भारतीय संस्कृति का नव-नीत सुरक्षित है, शिव, अशिव, उच्च और कुत्सित जो कुछ भी हमारे दीर्घ सामाजिक व धार्मिक जीवन में अभ्यास का विषय था, वह सब तान्त्रिक परम्परा में स्वीकृत हुआ है। इस सर्वलील मनोवृत्ति का परिणाम स्वयं तान्त्रिक संस्कृति के लिए बहुत अच्छा नहीं हुआ परन्तु यही मनोवृत्ति बहुत कुछ परिमा-जित रूप में ही सही, सन्त व वैष्णव काव्य में मुखरित हुई है। सन्तकवियों ने भारतीय व अभारतीय (सूफी मत) दोनों मतों से अपने सिद्धान्त, साधना के उपाय तथा कथन-पद्धति ग्रहण की है। सन्तों में प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी प्रतिध्वनि सुनता है। इस सारग्रहण के पीछे 'वैदिक' मनोवृत्ति नहीं, तान्त्रिक मनोवृत्ति है। तान्त्रिक विरोधों को पचाकर अन्तर्मुक्ति में विश्वास रखते हैं, वैदिक परम्परा शुद्धवैदिकता की रक्षा में ही प्रयत्नशील रहती है। यही दोनों में अन्तर है। निश्चित रूप से सन्तकवि आचारों के क्षेत्र में सार-ग्राहिता नहीं दिखाते क्योंकि वे तान्त्रिकों की तरह बाह्याचार विरोधी हैं। तान्त्रिक सोपान के रूप में आचारों पर बहुत अधिक बल देते हैं परन्तु आचारों की व्यर्थता पर तान्त्रिकों ने ही सबसे अधिक बल दिया है, यह भी स्मरणीय है।

तान्त्रिकों की कथनी का मर्म है, सामान्य भोगमय जीवन की आध्यात्मिक जीवन में परिणति। अर्थात् व्यावहारिक ऐन्द्रिक अनुभव को आध्यात्मिक अनुभव का सहायक बनाना। इस कार्य में जो भी बाधक है, उसका तन्त्र विरोध करते हैं, यहाँ तक कि कश्मीरी शैवों ने तान्त्रिक परम्परा को 'प्रसिद्धि' पर आधारित बताकर उसे वेद से श्रेष्ठ प्रमाणित किया है।

तत्व ज्ञान के लिए शैव विधि-निषेधो का त्याग अनिवार्य मानते हैं। मन की स्वाभाविक या सहज वृत्ति का अनुगम न करने पर ही तांत्रिक शैव व शाक्त बल देते हैं अत बाह्य नियमो के वे कठोर आलोचक है।

यही परम्परा सन्तकवियो म प्रतिफलित हुई है। सुन्दरदास सभी प्रकार के बाह्याचारो के विरोधी हैं, जोग, यज्ञ, जप, तप, तीर्थ, व्रत ही नही स्थूल हठयोग के भी वह निंदक हैं।[1] वह वेद को गोरखधधा कहते हैं क्यो कि उसके वचनों के कारण लोग 'वर्णाश्रम' म उलझकर रह गए हैं। कर्मकाड म तो अन्तराय ही अन्तराय है।[2] सुन्दरदास वेद को कारागार कहते हैं, पडित उस जेल के पहरेदार हैं, भला उद्धार हो तो कैसे हो। केवल सतगुरु ही उद्धार कर सकता है।[3]

धरमदास कहते हैं कि वेद पढने वाले पडित झूठे है। उनके पुरखा मर गए हैं क्यो वे उन्हे नही जिला देते ?[4]

गुलालसाहब कहते हैं कि लोग बाहरी बातो म उलझ गए हैं, मर्म को नही समझते।[5] वे सासारिकता तथा वेद म लीन हो गए हैं, यही दुख का कारण है।[6] भीखा साहब कहने पर बनारस भी गए परन्तु शास्त्रमत को

---

१ जोग जाग, जप, तप, तीरथ व्रतादि और-
झपावात लेत जाइ, हिवारं गरत है।
कानऊ फराइ पुनि केशऊ लुचाय अग,
विभूति लगाइ सिर जटाऊ धरत हैं—सुन्दर ग्रन्था० द्वितीय भाग, पृ० ४५५

२ गोरखधन्धा वेद है, वचन कडी बहु भांति।
सुन्दर उरझयो जगत सब, वर्णाश्रम की पाति।-वही, पृ० ६६८

३ वेद नृपति की बदि म, आइ परे सब लोग।
निगहवान पडित भए, क्यो करि निक्से कोइ।
सुन्दर सतगुरु शब्द का क्योरि बताया भेद।
सुरझाया भ्रम जाल ते उरझाया था वेद।—वही पृ० ६६८

४ झूठे पडित वेद पढि, पढ़ि जग भरमाई।
उसके पुरखा मरि गए उन काहे न जिवाई। धरम० शब्दावली, पृ० १०

५ गुलालबानी, पृ० २१

६ लोक वेद मह रत ससार, राम न चीन्हहि मुरख गवार-वही पृ० २७

देखकर दुःखी हुए। चारों ओर भ्रम फैलाया जा रहा है, सेवा है, पूजा है, कीर्तन है, माया है किन्तु सच्चाई नहीं है।[1] जगजीवन साहब भी तीर्थ-व्रत आदि की निन्दा करते हैं।[2] नानक कहते हैं कि गुरु ज्ञान ही ठीक है और सब तो ठगों का धन्धा है।[3] नानक के अनुसार वेद शास्त्र का ज्ञान संसार का नहीं तारता, उस में कर्म धर्म अनेक हैं पर हरिनाम उन सब से ऊपर है।[4] मुसलमानों की शरीअत का भी यही हाल है।[5] नानक कहते हैं कि तुर्क किताब पढ़ता है और अत्याचार करता है, अतः राम ही आधार है।[6] कबीर कहते हैं कि वेद का कोई भेद में क्या नहीं पढ़ पाता, तुर्की सुन्नत भी जन्म लेने के बाद ही हो पाती है। हम सब एक रक्त के हैं, एक ही प्राण हम सब में व्याप्त है, फिर यह भेद भाव क्यों है।[7] यह कहते हैं कि निर्गुनियाँ सन्तों की जाति मत पूछो, जाति पूछनी हो तो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य से पूछो।[8] मारवाड़ी दरियासाहब कहते हैं कि हम यद्यपि अधम, कमीन जाति के हैं तो भी राम हमारा है, हमें भला वेद और कुरान से क्या काम ?[9] गरीबदास ने भी हिन्दू और तुर्कों की भर्त्सना की है, क्योंकि ये दोनों भेदवादी हैं।[10] कबीर

---

१ लोक वेद मह रत ससार, राम न चीन्हहि मुरख गंवार पृ० १४

२ जगजीवनबानी, पृ० ३१

३ गुरि राखे से उबरे होरि मूठी धन्धे ठगि-ग्रन्थ साहब, पृ० १६

४ वही, पृ० ४०५

५ वही, पृ० ४६५

६ छाडि कितेब राम भजु बउरे, जुलम करत है भारो।
-वही, पृ० ४७०

७ कबीर का बीजक, रामनारायण लाल पृ० २

८ कबीर- ह० प्र० द्विवेदी, पृ० २३१

९ जो दुनिया तो भी राम हमारा।
अधम कमीन जाति मति हीना, तुम तो हो सरताज हमारा।
कहा करूँ तेरा वेद पुराना, जिन है सकल जगत भरमाना।
कहा करूँ यह मान बड़ाई, राम बिना सब ही दुख दाई।
—मारवाड़ी दरिया की बानी, पृ० ४८

१० कैसे हिन्दू तुरक कहाया, सबही ऐके द्वारे आया।
कैसे ब्राह्मण कैसे सूद्र, ऐके हाड़ चाम तन गूद।
कौन छतीस एक ही जाती ब्रह्म बीज सबकी उत्पात्ती।-गरीबदास की बानी, पृ० १४३

ब्राह्मण को ही सारे अनर्थ का मूल मानते हैं। ब्राह्मण रूप धर कर ही बलि को छला गया था, उसी ने वेद, पुराण रचे है, ब्राह्मण ही भेद-भाव फैलाता है।[1] कबीर उसी को पीर कहते हैं, जो 'परपीर' समझता है, अन्यथा वह काफिर है।[2] यह जो स्मृति है वह वेद की पुत्री कहलाती है, यह हाथ में रस्सी लेकर जगत को बाँधने आई है, कबीर इसलिए वेद और स्मृतियों की निन्दा करते हैं।[3] वह वेद-पुराण की अन्धे दर्पण से उपमा देते है, जिसमें कुछ नहीं दिखाई पड़ता।[4] जगजीवन साहब जैसे संतों को जब शास्त्रीय पंडित मूर्ख कहते थे तब वह तड़प कर जवाब देते थे कि पंडित लोग संसार में डूबे हुए हैं और सन्तों को हैवान कहते हैं। धरमदास इसीलिए कबीर मत को "आगम मत" कहते हैं क्योंकि वह कबीर से प्राप्त हुआ है।[5] सन्तों को हैवान कहने वालों की कमी न होने पर भी वे आश्वस्त थे कि उनका मत प्रामाणिक है, क्योंकि वह "गुरुमत" है। यही तर्क हम तंत्रों में भी देख चुके हैं।

तांत्रिकों का द्वन्द्व वैदिक आचारवादियों तथा स्मार्त ब्राह्मणों से था, यद्यपि स्मार्त्त भी कभी हीन समझे जाते थे। इसी तरह सन्त वेद, शास्त्र और शरीअत के विरोधी हैं क्योंकि केवल गुरुमत ही मानव-मात्र की एकता व समानता घोषित करता है। कबीर का रोष जितना पंडित और मुल्ला पर था, उतना अन्य किसी पर दिखाई नहीं पड़ता क्योंकि ये ही लोग भेद-भाव का समर्थन करते थे, इस प्रकार सन्तों की कथनी के सामाजिक स्वरूप के निर्णय के लिए तांत्रिकों की उग्र आलोचना की दीर्घ परम्परा स्मरणीय है।

सन्तकाव्य-कला पर तांत्रिक प्रभाव—संतकाव्य की पृष्ठभूमि में सिद्धों व नाथों का काव्य ही है क्योंकि शैव-शाक्त तांत्रिकों ने अपनी रचनाएँ संस्कृत-

---

१ बावन रूप छलेऊ बलि राजा, ब्राह्मण कीन्ह कवन को काजा।
ब्राह्मण कीन्हों ग्रन्थ पुराना, ब्राह्मण ही को लागत खोरी।-
बीजक, पृ० ३६

२ वही, पृ० ६३

३ वेद की पुत्री है स्मृति आई, जो जेवरि कर लेतहि आई-बीजक-रामनारायण लाल, पृ० ५०

४ अंध सो दरपन वेद पुराना-वही, पृ० ४६

५ आगम कहैं कबीर, सुनो धर्म आगरा-
धर्मदास की शब्दावली, पृ० ४

भाषा में निरी हैं, शैव-शाक्त परम्परा में रहस्यवादी अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यंजना हुई हैं, इस परम्परा में भक्ति स्तोत्रों की भी विपुल राशि है जिनमें देवता के स्वरूप, वेष-भूषा, अस्त्र-शस्त्र, उनकी वरदायिनी शक्ति, कृपा आदि का वर्णन साधक करते रहे हैं। इनमें "सौन्दर्य लहरी" सर्वश्रेष्ठ काव्य माना जा सकता है। इसमें भक्ति और रहस्यानुभूति का अद्भुत मणिकांचन संयोग मिलता है। जयशंकर प्रसाद ने भारतीय साहित्य में आनन्दवादी परम्परा का उल्लेख किया है, उसका प्रतिनिधि काव्य "आनन्दलहरी" है। आनन्दलहरी में देवी का "रूपवर्णन" उच्चकोटि के शब्दचयन, अभिव्यक्तिकुशलता, सुन्दर अप्रस्तुत विधान तथा भावगाम्भीर्य से ओत-प्रोत है—

क्वणितकांचीदामा करिकलभकुम्भस्तननता।
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुरुषिका।[1]

यह कहा जा सकता है कि यह "रूपवर्णन" की परम्परा तो वैष्णवकाव्य में अधिक प्रतिफलित हुई है परन्तु अलक्षित प्रियतम के रूप दर्शन में संतकवि भी पीछे नहीं हैं, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

रूपवर्णन के अतिरिक्त संस्कृत तांत्रिक काव्य में साधक के आनन्दानुभूति की व्यंजना सुन्दर हुई है। निश्चितरूप से यह रहस्यानुभूति है, उपनिषद् जिसे 'रसो वै सः' कहती है, वही ब्रह्मानन्द ही तांत्रिकों का अभिव्यंग्य है, परन्तु जीवनानन्द व ब्रह्मानन्द में अविरोध स्थापित करने से तांत्रिक कवि दिव्य रस की धारा प्रवाहित कर देता है और उक्त अविरोध के कारण वह हमें अधिक प्रभावित करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जो आनन्द मन, चित्त, बुद्धि की चंचलता के कारण कहीं अलक्षित रूप से आवृत था, वह उद्घाटित होगया है हृदय के आंतरिक पर्तों को तोड़ता हुआ, अनेक आवर्त्तों से घूर्णित वह आनन्द हमें अपने साथ बहा ले जाने की शक्ति रखता है। व्यवहारिक जीवन की जड़ता को दूर करके यह 'रस' हमें किसी अलक्षित दिव्य तत्व के साथ एक करने की स्थिति में लाकर रख देता है। वैयक्तिक 'आत्मा सर्वात्मा में विलय' होती हुई प्रतीत होती है संस्कृत के तांत्रिक कवियों की यह उपलब्धि है। नेवो ने लिखा है कि विवेक के बिना 'कला' दोषपूर्ण और विवेक के पश्चात्

---

१ आनन्दलहरी, पृ० १४, आयर एवेलोन, मद्रास, १९५३

उत्पन्न होने वाली कला 'शुभ' कहलाती है, शुभाकला की सृष्टि ही तांत्रिक काव्य मे हुई है—

समुन्मीलित संवित् कमलमकरन्दैकरसिकं
भजे हंस द्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम्
यदालापा दृष्टादशगुणित विद्यापरिणिति—
र्यदादत्ते दोषाद् गुणमखिलमद्भ्यः पय इव।[1]

अर्थात् साधक की समुन्मीलित चेतना कमल के मकरन्द के समान है। भगवान शिव हंसेश्वर व देवी हंसेश्वरी है, यह 'युगल' स्वानुभव के द्वारा ही संवेद्य है, उसे वाणी द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता। ये हंस-मिथुन साधक के मन रूपी मानसरोवर मे विहार करते है। इनके वर्णन से अष्टादशगुणित विद्या प्राप्त होती है। हंस जल को त्याग कर दूध को ग्रहण करता है। 'हंसरूप' सत्य ही मैं हूं, अत: मैं भी दोषो को छोडने मे समर्थ होकर नाना गुणो को ग्रहण करने मे समर्थ हूं।

ऊपर से देखने पर यह सामान्य स्तुति दिखाई पडती है, परन्तु विचार करने पर उक्त पद्य की शब्दावली 'प्रतीक' रूप मे प्रतीत होने लगती है, कमल, हंस, मानसरोवर आदि 'योगसाधना' की शब्दावली है, और इनसे नाना चक्रो के भीतर अनुभव होने वाले अनुभवो की ओर भी संकेत है। साथ ही कमल के मकरन्द के समान 'रसास्वादन' भी सुन्दरता के साथ व्यंजित हुआ है।

आनन्दलहरी का प्रत्येक पद्य भक्तिभाव, रूपवर्णन, अलंकार, शब्द-शक्ति तथा प्रतीक इन सभी दृष्टियो से अनेक पार्श्वमयी कला का स्वरूप प्रस्तुत करता है। यह 'गूढ़कला' अथवा 'गूढ़ानन्दनिर्भरकला' सिद्धो व नाथो की कविता मे भी व्यक्त हुई है। वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से उनमे वह सिद्धो, नाथो तथा सन्तों के काव्य मे कोई अन्तर नही है परन्तु सन्त काव्य के स्वरूप-निर्माण मे अर्थात् ग्राह्य अभिव्यक्ति के निर्माण मे सिद्धों व नाथो मे काव्य का ही विशेष योगदान मानना पडता है।

यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया जाता है, बहुत से विद्वान सिद्धो व नाथो के काव्य को 'काव्य' संज्ञा ही नही देना चाहते, जब 'सिद्ध-नाथ काव्य'

---

१ आनन्दलहरी पृ०५४

काव्य ही नहीं है तब उसका प्रभाव क्या होगा ? परन्तु दूसरी ओर महापंडित राहुल, व डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान हैं जो सिद्ध-सन्त काव्य में उच्चकोटि के काव्य गुणों का दर्शन करते हैं। सिद्ध और नाथ कवि ही नहीं हमारे वैष्णव भक्त कवि भी कला-प्रदर्शन के लिए काव्य नहीं लिखते थे। ये कवि साधनात्मक काव्य के स्रष्टा थे, अलङ्कृत काव्य के नहीं, जिसका विकास भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष जैसे कवियों द्वारा हुआ था। सिद्ध-नाथ सन्त काव्य तो विशेष रूप से साधनात्मक काव्य है क्योंकि सिद्धों और सन्तों का उद्देश्य अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करना भर है, कला प्रदर्शन उनका उद्देश्य नहीं है।

राहुल जी ने बताया है कि "प्रथमसिद्ध 'सरहपा' के समय संस्कृत और प्राकृत दोनों साहित्यों का मध्यान्ह बीत चुका था ...... उन्होंने कालिदास, अश्वघोष, सुबन्धु, दण्डी, बाण आदि की कृतियों का अच्छी तरह अवगाहन किया था।[1] वह यदि चाहते तो अपने समय की शिष्ट सारणी का अनुसरण करते, उच्च समाज में एक सफल कवि के तौर पर ख्याति प्राप्त कर सकते थे। परन्तु उन्होंने शिष्ट साहित्य की जगह लोकसाहित्य' का अनुसरण करना पसन्द किया और अपने मन से यह भाव निकाल दिया कि कभी मैंने उन ग्रन्थों का अध्ययन किया था।[2]

सन्त कविता के स्वरूप को समझने में उक्त उद्धरण हमारे बड़े काम का है। सन्तकाव्य 'लोककाव्य' है और यह परम्परा वर्णाश्रम-धर्म पर आधारित समाज में उच्चवर्गों का मनोरंजन करने वाले तथा उच्च वर्ग के विचारों का प्रचार करने वाले 'शिष्टसाहित्य' के समानान्तर उठ खड़े होने वाले तांत्रिक कवियों द्वारा प्रारम्भ होती है, जो समाज के वास्तविक 'यथार्थ' को वाणी देती है और पाखंड के आवरण को चीरने के लिए जनता की सहज भाषा को अपनाती है। पंडित होने पर भी जान बूझ कर सिद्ध सरहपाद अभिव्यंजनों का वह रूप अपनाते हैं जिसमें हल चलाने वाले तथा पशु चराने वाले खेत-खलिहानों और घरों में काम करने वाले लोग अपनी हार्दिक अनुभूतियों को ध्वनित किया करते थे। खेतों, खलिहानों का यह काव्य सुरक्षित नहीं रह सका क्योंकि तब लोक-साहित्य की रक्षा का उपाय बहुत कम होता

---

१ दोहाकोशगीति, पृ० २२

२ वही

था, परन्तु सामान्य जनता मे काम करने वाले सिद्धों ने उन्ही लोगो की भाषा मे अपने अनुभव कहे है ।

परिणाम स्वरूप अपभ्रंश और हिन्दी मे भी काव्य होने लगा। यह स्मरणीय है कि सन्तकवियो मे सुन्दरदास जैसे विद्वान सन्त भी समर्थ होने पर भी अलंकृत शैली का प्रयोग नही करते, वह पूर्व सन्तो द्वारा प्रयुक्तरूप ही स्वीकार करते है, अत. यह कहना सही नही है कि सन्त अशिक्षित थे, इसलिए अटपटी कविता के लिए वे विवश थे। यह कहना अधिक सही है कि संतकवियो मे कुछ यदि अटपटी कविता के लिए विवश थे तो बहुत से सन्त विवश न होने पर भी जनाबूझ कर लोक साहित्य की परम्परा नही छोडना चाहते थे, जिसमे भाव की अनुभूति ही मुख्य होती है। सन्तकवियो के अन्तर से जब अनुभूति स्वत: फूट पडने को व्याकुल होती है तो सन्तकवि शब्दो के संस्कार की चिन्ता नही करते, कलावन्तों मे इस गहरी अनुभूति का स्पर्श इसीलिए नही मिलता ।

क्या लोक साहित्य मे कवित्व मिलता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने मे विद्वान चकराते हैं। लोक साहित्य मे कवित्व मानने पर सन्तकाव्य मे भी कवित्व मानना पडता है। सरहपाद जैसे सिद्धो मे भी नवीन उपमाएँ मिलती हैं और कई नवीन कथन-पद्धतियां भी, यह राहुल जी ने लक्ष्य किया है। आगे के सन्तकवियो पर इसका प्रभाव पडा है।

नई उपमाएँ १—जैसे जलधर सागर से जल लेकर पृथ्वी पर फैलाता है।
२—बिजली के घोष को छोड कर पानी बरसता है।
३—फूल के भीतर के मधु को मधु मक्खियां ही जानती है।
४—फूल की गन्ध या रूप नही होता तो भी वह प्रत्यक्ष व्याप्त है।
५—जैसे कीचड मे पडा हुआ उत्तम रत्न अपनी चमक को प्रकाशितनही करता।[१]

ऐसी उपमाएँ सिद्ध-साहित्य म अनेक मिलती है। राहुलजी का कहना है कि सरहपाद ने कुछ नई काव्य मान्यताओ को जन्म दिया था और ये मान्यताएँ आगे चलकर गोरख, कबीर, नानक व दादू आदि सभी सन्तो मे पाई जाती हैं, इनमे व्यंगोक्तियाँ व उलटवासियाँ भी शामिल हैं।[२]

---

१ दोहाकोशगीति-भूमिका, पृ० २३
२ वही

काव्य ही नहीं है तब उसका प्रभाव क्या होगा ? परन्तु दूसरी ओर महापंडित राहुल, व डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान हैं जो सिद्ध-सन्त काव्य में उच्चकोटि के काव्य गुणों का दर्शन करते हैं। सिद्ध और नाथ कवि ही नहीं हमारे वैष्णव भक्त कवि भी कला-प्रदर्शन के लिए काव्य नहीं लिखते थे। वे कवि साधनात्मक काव्य के स्रष्टा थे, अलंकृत काव्य के नहीं, जिसका विकास भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष जैसे कवियों द्वारा हुआ था। सिद्ध-नाथ सन्त काव्य तो विशेष रूप से साधनात्मक काव्य है क्योंकि सिद्धों और सन्तों का उद्देश्य अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करना भर है, कला प्रदर्शन उनका उद्देश्य नहीं है।

राहुल जी ने बताया है कि "प्रथमसिद्ध 'सरहपा' के समय संस्कृत और प्राकृत दोनों साहित्यों का मध्याह्न बीत चुका था ···· "उन्होंने कालिदास, अश्वघोष, सुबन्धु, दण्डी, बाण आदि की कृतियों का अच्छी तरह अवगाहन किया था।[1] वह यदि चाहते तो अपने समय की शिष्ट सरणी का अनुसरण करते, उच्च समाज में एक सफल कवि के तौर पर ख्याति प्राप्त कर सकते थे। परन्तु उन्होंने शिष्ट साहित्य की जगह लोकसाहित्य' का अनुसरण करना पसन्द किया और अपने मन से यह भाव निकाल दिया कि कभी मैंने उन ग्रन्थों का अध्ययन किया था।[2]

सन्त कविता के स्वरूप को समझने में उक्त उद्धरण हमारे बड़े काम का है। संतकाव्य 'लोककाव्य' है और यह परम्परा वर्णाश्रम-धर्म पर आधारित समाज में उच्चवर्गों का मनोरंजन करने वाले तथा उच्च वर्ग के विचारों का प्रचार करने वाले शिष्टसाहित्य' के समानान्तर उठ खड़े होने वाले तांत्रिक कवियों द्वारा प्रारम्भ होती है, जो समाज के वास्तविक 'यथार्थ' को वाणी देती है और पाखंड के आवरणों को चीरने के लिए जनता की सहज भाषा को अपनाती है। पंडित होने पर भी जान बूझ कर सिद्ध सरहपाद अभिव्यंजना का वह रूप अपनाते हैं जिसमें हल चलाने वाले तथा पशु चराने वाले खेत-खलिहानों और घरों में काम करने वाले लोग अपनी हार्दिक अनुभूतियों को ध्वनित किया करते थे। खेतों, खलिहानों का यह काव्य सुरक्षित नहीं रह सका क्योंकि तब लोक-साहित्य की रक्षा का उपाय बहुत कम होता

---

१ दोहाकोशगीति, पृ० २२

२ वही

था, परन्तु सामान्य जनता में काम करने वाले सिद्धों ने उन्हीं लोगों की भाषा में अपने अनुभव कहे हैं।

परिणाम स्वरूप अपभ्रंश और हिन्दी में भी काव्य होने लगा। यह स्मरणीय है कि सन्तकवियों में सुन्दरदास जैसे विद्वान सन्त भी समर्थ होने पर भी अलंकृत शैली का प्रयोग नहीं करते, वह पूर्व सन्तों द्वारा प्रयुक्तरूप ही स्वीकार करते है, अतः यह कहना सही नहीं है कि सन्त अशिक्षित थे, इसलिए अटपटी कविता के लिए वे विवश थे। यह कहना अधिक सही है कि संतकवियों में कुछ यदि अटपटी कविता के लिए विवश थे तो बहुत से सन्त विवश न होने पर भी जनाबूझ कर लोक साहित्य की परम्परा नहीं छोड़ना चाहते थे, जिसमें भाव की अनुभूति ही मुख्य होती है। सन्तकवियों के अन्तर से जब अनुभूति स्वतः फूट पड़ने को व्याकुल होती है तो सन्तकवि शब्दों के संस्कार की चिन्ता नही करते, कलावन्तों मे इस गहरी अनुभूति का स्पर्श इसीलिए नही मिलता।

क्या लोक साहित्य में कवित्व मिलता है? इस प्रश्न का उत्तर देने मे विद्वान चकराते हैं। लोक साहित्य मे कवित्व मानने पर सन्तकाव्य मे भी कवित्व मानना पड़ता है। सरहपाद जैसे सिद्धों मे भी नवीन उपमाएँ मिलती हैं और कई नवीन कथन-पद्धतियां भी, यह राहुल जी ने लक्ष्य किया है। आगे के सन्तकवियों पर इसका प्रभाव पड़ा है।

नई उपमाएँ १—जैसे जलधर सागर से जल लेकर पृथ्वी पर फैलाता है।
२—बिजली के घोष को छोड़ कर पानी बरसता है।
३—फूल के भीतर के मधु को मधु मक्षिका ही जानती है।
४—फूल की गन्ध का रूप नही होता तो भी वह प्रत्यक्ष व्याप्त है।
५—जैसे कीचड़ मे पड़ा हुआ उत्तम रत्न अपनी चमक को प्रकाशितनहीं करता।[1]

ऐसी उपमाएँ सिद्ध-साहित्य मे अनेक मिलती हैं। राहुलजी का कहना है कि सरहपाद ने कुछ नई काव्य मान्यताओं को जन्म दिया था और ये मान्यताएँ आगे चलकर गोरख, कबीर, नानक व दादू आदि सभी सन्तों में पाई जाती हैं, इनमे व्यंगोक्तियाँ व उलटवासियाँ भी शामिल हैं।[2]

---

१ दोहाकोशगीति-भूमिका, पृ० २३
२ वही

असाधारण रूप से प्रतिभाशाली कवि सरहपा के काव्य में व्यंग्यकाव्य (सैटायर) व उपदेशों ही नहीं है अपितु प्रतीकात्मक काव्य का प्रकार भी सरहपाद ने यह कहा—

"ऊँचे ऊँचे पर्वत पर शबर बालिका बैठी है, जिसके सिर पर मोर-पंख और ग्रीवा में गुंजा की माला है। उसका प्रिय शबर प्रेम में उन्मत्त पागल है। ओ शबर, तू हल्लागुल्ला मत कर। तेरी अपनी निज गृहिणी सहज सुन्दरी है। उस पर्वत पर नाना प्रकार के तरुवर फूले हुए हैं, जिनकी डालियाँ गगन से लगी हुई हैं, कान में कुंडल-वज्र धारे शबरी अकेली इस वन में घूम रही है।"[1]

उपर्युक्त सभी पंक्तियाँ आध्यात्मिक अनुभूतियों की व्यंजना में भी समर्थ हैं, यह प्रतीकात्मक पद्धति है विपरीत कथन-पद्धति नहीं। दोनों प्रकार का काव्य सन्तकाव्य में विकसित हुआ है।

आलोचनात्मक काव्य—सिद्धों के आलोचनात्मक काव्य में बेलाग कहने की प्रवृत्ति है। "अलंकृत संगीत" के रूप में जो काव्य हमें प्राप्त होता है, वह मन को विराम देता है, हमारी चेतना को थपकी देता है, उसका भी एक अपना निराला आनन्द है परन्तु सिद्ध तो शक्तिजागरण में विश्वासी थे अतः उनके काव्य में चेतना को सुप्त करने की जगह उसे झकझोर कर जगाने की भावना मिलती है। जिस युग में मनुष्य जिस सत्य का अनुभव करता है और उसे वह नहीं पाता तब जो कवि उस अटपटे रूप में भी कहने लगता है तो उस काव्य में एक विशिष्ट भंगिमा उत्पन्न हो जाती है, एक विचित्र ओज और ऊष्मा इस प्रकार के काव्य में हमें मिलती है जो भावुकतावादी तथा अलंकृत काव्य में प्राप्त नहीं होती, क्योंकि उस तीव्रता के नीचे कवि की कल्याणकारी भावना रहती है, अतः लोककरुणा के "बीजभाव" के कारण ऐसा आलोचनात्मक काव्य जिस आनन्द का सृजन करता है, उसका भी महत्व है और यदि शास्त्र उसे स्वीकार नहीं करता तो शास्त्र को ही बदलना चाहिए क्योंकि कविकुल गुरु कालिदास का भी यही कहना है कि "पुराणमेव न साधु सर्वम्।" सन्तकविता के आलोचनात्मक काव्य की पृष्ठभूमि में सिद्धों का ऐसा ही अशास्त्रीय किन्तु ओजमय काव्य है। सिद्ध सरहपाद कहते हैं—

---

१ दोहाकोशगीति, पृ० २५

यदि नंगेपन होइ मुक्ति, तो शुनक-शृगालहु।
पिच्छि गहे जो दीख मोख, तो मोरहु चमरहु।
उंछ भोजने होइ ज्ञान, तो करिहु तुरंगहु।[1]

अब कबीर का एक पद इससे मिलाइए—

का नागे का बाधे चाम, जो नहिं चीन्हसि आतम राम।
नागें फिरे जोग जो होई, बन का मृग मुकति गया कोई।
मुड मुडाए जो सिधि होई, स्वर्गहि भेड न पहुँचहि कोई।

उक्त पद्य मे शब्दावली तक मे सादृश्य दिखाई पडता है और साथ साथ "स्पृहणीय निर्भयतापूर्ण कवित्व" भी इनमे सुरक्षित है।

सिद्धो ने वस्तुतः "सहजकाव्य" की परम्परा डाली थी। सहज का अर्थ है "अकृत्रिम," अतः सन्तकाव्य का लक्षण "अकृत्रिमता" माना जा सकता है। सन्तकवि अपने सहज काव्य के लिए सिद्धो के ऋणी है।

नाथ-सिद्धों की बानी मे भी इस सहजकाव्य का विकास मिलता है। गोरख कहते हैं कि कलियुग बुरा है क्योंकि हृदय मे जैसे भाव होते हैं, हाथ से वैसे ही काम होते हैं, जो गडुवे मे होगा, वही टोटी से निकलेगा।[2] निर्मल जल मे प्रविष्ट इस सर्पिणी को मार डालो, गोरख ने इसे त्रिभुवन को डसते देखा है। सर्पिणी को मारो और सहस्रदलकमल के रस के इच्छुक भ्रमरगुहा के निवासी भ्रमर को जगा लो...।[3] कबल जल बरसाता रहा है, पडरवा गाडकर खूंटे को बाँध लो, दमामा चलता है, बंद नही है, निरंतर सुनाई दे रहा है, जिससे ऊँट पर तडातड मार पड रही है।[4] इस प्रकार की कविता मे सत्य की घोषणा ही नही है, अभिव्यक्ति की वक्रता भी है। यह तक विशिष्ट काव्य परम्परा है, जो सन्तकविता मे विकसित हुई है, एकदम सहज और अकृत्रिम।

काव्य-शास्त्र की दृष्टि से सन्तकाव्य को "ध्वनि काव्य" कहा जा सकता है, क्योकि सन्तो के बहुत से पदो मे सांकेतिकता मिलती है। डा० बडथ्वाल ने विलियम किंग्सलैण्ड के "रैशनल मिस्टीसिज्म" से उद्धरण देकर बताया है कि रहस्यवादी कवि की भाषा की असमर्थता पर विचार नही करना चाहिए

---

१ दोहाकोशगीति, पृ० ३
२ गोरखबानी, पृ० ४३
३ वही, पृ० १३६,१४०
४ वही, पृ० १४१

क्योंकि उच्च आध्यात्मिक भावों को व्यक्त करने के लिए मानवीय भाषा स्वयं ही असमर्थ साबित होती है।[1]

मेरा निवेदन है कि लोकसाहित्य में प्राप्त काव्य के स्रष्टा सन्तकवियों को यदि पिंगल व अलंकार शास्त्रों का ज्ञान होता तो संभवत उनके काव्य में प्राप्त सजीवता की मात्रा अवश्य कम हो जाती और सन्तकाव्य से हिन्दी साहित्य को जो विशिष्ट काव्य-रस और विशिष्ट काव्य-रूप मिला है, उसकी हानि होती।

पानी का सा बुलबुला, यह तन ऐसा होय।
पीव मिलन की ठानिये, रहिये ना पड़ि सोय।[2]
सब परवत स्याही करूँ घोलूँ समुंदर जाय।
धरती का कागद करूँ, गुरु अस्तुति न समाय।[3]

अब यहाँ "बुलबुला" की जगह यदि 'बुदबुद' कर दिया जाय तो सारा आनन्द नष्ट हो जाएगा, सहजोबाई इसे भलीभाँति समझती थीं। इसी प्रकार "समुंदर" की जगह "समुद्र" और "अस्तुति" की जगह 'स्तुति' अधिक शिष्ट हो जाएगा परन्तु काव्यश्री की हानि होगी, यह स्पष्ट है।

दखिनदिसा मोर नइहरो, उत्तर पंथ ससुराल।
मानसरोवर ताल है, कामिन करत सिंगार।[4]
सुन्न के मुकाम में बेचून की निसानी है।
जिकिर रह सोइ, अनहद बानी है।[5]
घर बरसावे अम्बर झरै, ता की सेवा गोरख करै।
शनि-दोर का नाहीं काम, इगल पिंगल बोलहिं राम।[6]
नाथ हाजिरी मेरी लीजै, तातें दफ्तर दाखिल कीजै।
हौं अतीत गरीब सिपाही, चाहि रोज कछु दीजै।[7]

---

१ डा० बड़थ्वाल, पृ० ३४१
२ सहजोबाई-बानी, पृ० ४३
३ वही, पृ० ४
४ यारी साहब-बानी, पृ० १७
५ वही, पृ० ६
६ वही, पृ० ८
७ बुल्ला साहब का शब्दसार, पृ० २६

अछे रंग में रंगिया, दीन्ह्या प्रान अकोल।[1]
सुरत सुहागिन चरन मनावहिं,खसम आपनो पै हों।[2]
नाम बिना मन स्वान मंजारी, घर घर चित्त लै जावें।
बिन दरसन परसन मन कैसो, ज्यों लूले को गांव।[3]
उनइ बदरिया परिगो संम्का,अगुआ भूले बनखंड मंझा।
फुलवा भार न लै सकै, यहै सखिन सों रोय।
ज्यों ज्यों भीजै कामरी, त्यों त्यों भारी होय।[4]
सहज सुभाव को खेल बन्यो है, फगुआ बरणंन जाय।
सुरति सुहागिनि उठि उठि लागहि,अविनासी के गात।[5]
हम सब सत्त नाम के बैपारी।[6]
बंगला खूब बना दरहाल, जामे रतन अमोले लाल।
जल की बूंद महल मठ कीन्हा, नख सिख साज बनया।
या बंगले में गैबी खेलै, ना मूवा न जाया।[7]
बगला खूब बना है जैन, जामें कलविरछा कामधेन।[8]

इन पदो में नइहरो की जगह नैहर, सिंगार की शृंगार, बानी की जगह वाणी, अछै की जगह अच्छा, सुहागिन की जगह सौभाग्यशालिनी, 'लूले का गाँव' की जगह 'पंगु-ग्राम' कामरी की जगह कम्बल, बैपारी की जगह व्यापारी, कलविरछा की जगह कल्पवृक्ष तथा कामधेन की जगह कामधेनु शब्दो का प्रयोग करने से सन्त-काव्य की सहजता तथा लोकस्पर्श की अवश्य हानि होगी, यह कोई भी देख सकता है।

परवर्ती सन्तकवियो मे लोक स्पर्श बहुत अधिक बढता जाता है। सन्त कवियों ने पहाडा, कहरा, मंगल, सोहर, होली, बसंत, बारहमासा, बधावा,

१ बुल्लासाहब का शब्दसार, पृ० ३१
२ वही, पृ० ११
३ वही, पृ० २
४ कबीर-बीजक, रामनारायण लाल, पृ० ३७
५ केशवदास का अमीघूंट, पृ० ४
६ धरमदास की शब्दावली, पृ० ७
७ गरीबदास की बानी, पृ० १६६
८ वही, पृ० १६५

अलिफनामा, ज्योनार आदि लोक में प्रचलित कथन-पद्धतियों को अपना कर अपनी अनुभूतियों की व्यंजना की है। सन्तकवियों में बहुत से ऐसे समर्थ कवि थे जो उच्च वर्ग के शिष्ट छन्दों का प्रयोग कर सकते थे किन्तु उन्होंने जान-बूझ कर ऐसा नहीं किया—

सोहर

साहेब मोर बसत अगमपुर, जहाँ गम न हमार हो।
साहे के ऊँची अटरिया, तरे विषम बजार हो।
पाप पुन्न दोउ बनियाँ, हीरा लाल बिरायो।[1]

होली

होरी खेलो सयानी, फागुन की ऋतु आनी।
मनसा जनम बहुरि ना पैहो, साखी वेद पुरानी।
फिर पाछे पछितहुगी सजनी, परिहो चौरासी खानी।[2]

बधावा

बधावा संत सजाऊँ हो।
जा विधि सतगुरु मेहर करें, सोई विधि लाऊँ हो।
रतन पटोरा डारि पांवड़ा, सन्मुख जाऊँ हो।
सब सखियां मिलि बांटत बधाई, मंगल गाऊँ हो।[3]

इसी तरह हिंडोलना[4], मंगल[5], बारहमासा[6], पहाड़ा[7], आरती[8], रेखता[9], अलिफनामा[10], ककहरा[11], आदि लोक-रचन पद्धतियों का परवर्ती

---

१ धरमदास की शब्दावली, पृ० २२
२ वही, पृ० ६०
३ धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ५४
४ भीखासाहब की बानी, पृ० ३७
५ धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ३८
६ वही, पृ० ५७
७ भीखासाहब की बानी, पृ० ७७
८ वही, पृ० ३४
९ वही, पृ० ५२
१० वही, पृ० ७५
११ वही, पृ० ७४

सन्तों ने प्रयोग कर "रहस्यवादी-लोककाव्य" की सृष्टि की है, क्योंकि उक्त प्रकार के लोक-काव्य का प्रतीकात्मक अर्थ ही सन्त सम्प्रदायो मे स्वीकृत है।

इस प्रकार शास्त्रविजडित समाज को भी जाग्रत और पुनर्क्ति कर सकने की शक्ति सत काव्य को सिद्ध परम्परा से ही प्राप्त हुई थी। स्थानीय देवी-देवताओ, स्थानीय भाषा, स्थानीय आचार व उपासना आदि तत्वो को समेटने वाले तान्त्रिको ने सन्तकवियो को लोक साहित्य की परम्परा मे लिखने की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी थी। लोक सस्कृति को उच्च साधना के स्तर पर रखने के प्रयत्न मे सिद्धो ने लोकभाषा और लोक-साहित्य से अद्भुत सहायता ली थी। इसलिए सन्तकवियो का काव्य स्वरूप तथा उसमे व्यक्त धारणाएँ तान्त्रिक परम्पराओ की ऋणी हैं।

पचम अध्याय

वैष्णव काव्य का विकास और विवरण

१

वैष्णव काव्य का विकास और विवरण

संत-सम्प्रदाय के विकास और उसमे सिद्ध, शैव, नाथ तथा वैष्णव साधनाओ और धारणाओ को अन्तर्भुक्ति पर प्रकाश डालते समय हम उत्तरी भारत के सगुण-सम्प्रदाय के विषय मे भी कुछ विचार प्रकट कर चुके हैं। हमने यह भी देखा है कि उत्तरी भारत मे चौदहवी शताब्दी के लगभग सन्त और वैष्णव साधनाएँ पुन. एक नये रूप मे विकसित होती है। हम यह भी देख चुके हैं कि वैदिक कर्म-काड के समानान्तर जो तान्त्रिक धारा पाचरात्र-शैव-शाक्त तथा बौद्ध सम्प्रदायो मे प्रवाहित होती है, उसका सन्त सम्प्रदाय पर बहुत अधिक प्रभाव पडा है।

यह तान्त्रिक धारा 'राष्ट्रीय सास्कृतिक धारा' कही जा सकती है, क्योकि यह नाना संस्कृतियो को स्वीकार करके प्रवाहित होती रही है। इसमे वैदिक और अवैदिक धाराओ का जल भी आकर मिला है। इसलिए तान्त्रिक सरिता के विराटप्रवाह मे कुछ धाराएँ ऐसी भी हैं जो 'कुत्सित' हैं, किन्तु ऐसी धाराओ का भी अभाव नही है जिनमे उच्च कोटि का चिन्तन और अभ्यास मिलता है। अभी तक इस राष्ट्रीय धारा का उचित मूल्याकन नहीं हुआ है और तान्त्रिको की आचारविषयक उग्रता और अतिवादिता के कारण यह भ्रम फैल गया है कि भारतीय संस्कृति का तान्त्रिक रूप कुरूप और कुत्सित है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर तांत्रिक धारा भारतीय समाज की वर्णाश्रमधर्मजन्य अनावश्यक कठोरताओं का विरोध करती है और इसलिए भारतीय समाज की असंगतियों के अध्ययन के लिए यह धारा बहुत महत्वपूर्ण है। यही परम्परा सन्तसम्प्रदाय में विकसित हुई थी, जैसा कि हम देख चुके हैं।

बहुत से आचार्यों ने समझ लिया था कि 'कलियुग' में वैदिक कर्मकांड से काम नहीं चल सकता और साथ ही यह भी अनुभव किया था कि कोटि-कोटि जनता की भावनाओं का तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता, अतः पुराणों में यह प्रयत्न किया गया कि वैदिक कर्मकांड के अतिरिक्त जितने भी विश्वास हैं, उन सबको स्वीकार किया जाय, अतः कर्मकांड के अतिरिक्त मंदिर, मूर्ति, लिंग, भस्म, नाना देवी देवता आदि तत्वों को स्वीकार कर लिया गया। यही कार्य आगमों ने किया था और अधिक साहस के साथ किया था। फलतः पुराणों और आगमों के बाद जो वैष्णव साधनाएँ प्रचलित हुईं, वे इन्हीं को आधार बना कर चलीं। यह प्रसिद्ध है कि पुराणों को बहुत समय तक वैदिक नहीं माना जाता था। आधुनिक युग में भी स्वामी दयानन्द ने पौराणिक परम्परा को स्वीकार नहीं किया था। इस प्रकार एक सीमा तक वैष्णव आन्दोलन आर्येतर विश्वासों को भी साथ लेकर चला, इसलिए एक सीमा तक वह भी सन्त-सम्प्रदाय की तरह भारतीय समाज की असंगतियों पर प्रकाश डालता है। यद्यपि वैष्णव आन्दोलन में आगमों और पुराणों की तरह जाति, वर्ग और वर्णों के ऊपर भक्ति को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु साथ ही पुराणों की तरह वैष्णव आन्दोलन "वैदिकपुनरुत्थानवाद" की प्रवृत्ति भी दिखाता है और यहीं वह सामाजिक दृष्टि से सन्त सम्प्रदाय से भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि वैष्णव आचार्यों ने केवल भक्ति के क्षेत्र में ही समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया था।

वैष्णव सम्प्रदाय उन देवताओं की उपासनाओं का प्रचार करते हैं जो कभी स्थानीय देवता रह चुके थे। इन देवताओं के साथ आगमों की पद्धति पर शक्तिपूजा को भी वैष्णवों ने स्वीकार किया तथा भक्ति, कर्म, ज्ञान और योग में अविरोध मानकर भी भक्ति को इन सबका प्रतिफल समझा।

वैष्णव आन्दोलन के विकास पर दृष्टि-निक्षेप से पता चलता है कि उत्तर और दक्षिण भारत—दोनों भू भागों में इसका प्रचार हुआ था। पुराणों और पांचरात्र आगमों के निर्माण में उत्तरी भारत का भी महत्वपूर्ण हाथ था। विशेष रूप से पांचरात्र आगमों में से बहुत से आगम उत्तर भारत में लिखे गये

कश्मीरी-शैव-सम्प्रदाय के साथ पांचरात्र-आगमों का निकटतम सम्बन्ध दिखाई पड़ता है।

यामुनाचार्य ने पांचरात्र आगमों को सबसे अधिक महत्त्व दिया। तत्पश्चात् रामानुज ने भक्ति सिद्धान्तो में "लक्ष्मीशक्ति" को स्वीकार किया जिसे पांच रात्र-आगम प्रतिपादित कर चुके थे। आड़वार भक्तों का भावुकतावादी आन्दोलन पृष्ठभूमि में होने के कारण श्रीवैष्णव सम्प्रदाय भावुकता की ओर कुछ अधिक उन्मुख हुआ, किन्तु योग व ज्ञान का भक्ति से विरोध नहीं माना गया। रामानुज-सम्प्रदाय के श्रीवैष्णव वैदिकता के रक्षक मान लिये गये, उन्होंने "प्रच्छन्नबौद्ध" शंकराचार्य के मायावाद का खंडन किया। मायावाद के अनुसार सत्ता दो रूपों में विभाजित करके देखी जाती है। केवल ब्रह्म को ही सत्य मानने के कारण जगत् की सत्ता 'सावृतिक' या व्यावहारिक माननी पड़ती है, यह स्पष्ट ही बौद्ध-दृष्टिकोण था जिसे शून्यवादियों ने प्रतिपादित किया था। श्रीवैष्णवों ने इसका विरोध किया। इसके सिवा शंकराचार्य बौद्धों के विरोध के साथ साथ मीमांसा के भी घोर आलोचक थे, अतः यह सम्भव है कि वैदिक कर्मकांड के विरोध के कारण उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया हो।[1] यह निश्चित है कि शंकराचार्य द्वारा वैदिक कर्मकांड का खंडन वैदिक परम्परावादियों को पसन्द नहीं था, किन्तु यह भी निश्चित है कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित ज्ञानमार्ग बहुत लचीला है, वह पारमार्थिक दृष्टिकोण से तो ईश्वर, जगत, कर्मकाण्ड आदि सब को महत्वहीन समझता था, परन्तु चित्तशुद्धि के सिद्धान्त द्वारा उस प्रत्येक विश्वास को स्वीकार कर लेता था जो हिन्दुओं में प्रचलित हो चुके थे। फलतः शंकराचार्य को एक ओर तो "प्रच्छन्न बौद्ध" कहकर उनके मायावाद का विरोध किया गया है और ज्ञान के साथ साथ भक्तिभाव पर अधिक बल दिया गया है और दूसरी ओर शंकराचार्य को हिन्दू धर्म के सुधारक और संरक्षक के रूप में स्वीकार कर लिया गया। एक तीसरी अत्यधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि तान्त्रिक साधना

१ द एक्यूजेशन हर्ल्ड अगेन्स्ट शंकर बाई द मीमांसकाज़ दैट हि वाज़ ए कन्सील्ड बुद्धिस्ट। बिस इज़ अनडाउटेडली ड्यू टू द एक्सटेन्ट दैट लाइक द बुद्धिस्ट हि वाज़ अपोज्ड टू द सिस्टम आफ मिकैनीकल रिचुअल्स। ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री : के० एम० पणिक्कर, पृ० १२५, बम्बई १९५०।

की साधना के क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया। शंकराचार्य स्वयं शैव थे और परम्परा के अनुसार वह दक्षिणपन्थी शाक्त-साधक माने जाते हैं। सूर्य, गणेश, शक्ति, शिव और विष्णु इन पांच देवताओं की पूजा के प्रतिष्ठापक भी यही माने गए हैं। आनन्दलहरी के भी लेखक के रूप में परम्परा उन्हें स्वीकार करती है। शंकर ने तान्त्रिकों के वामाचार का विरोध किया था किन्तु साधना के क्षेत्र में तांत्रिक नाड़ीयोग को स्वीकार कर लिया गया, फलतः शंकर के पश्चात योग साधना के लिए तथा भक्तिभाव के लिए सभी सम्प्रदायों के साधक तन्त्रों को पढ़ने पढ़ाने लगे। श्री वैष्णवों ने तन्त्रों से शक्तिवाद तथा भक्ति को ग्रहण किया और निम्न जातियों को भी भगवान की प्रपत्ति का अधिकार दे दिया। अवैदिक तान्त्रिकों के संघर्ष का यह शुभ परिणाम था। इस युग के पश्चात दक्षिणपन्थी अर्थात् सात्विक,तान्त्रिक साधना को स्वीकार करने में किसी को संकोच नहीं रहा और दसवीं शताब्दी के बाद दक्षिणपन्थी शाक्त सिद्धान्तों के विषय में यह धारणा बद्धमूल होगई कि आर्यधर्म निगम के साथ आगम में भी प्रतिष्ठित हुआ है।

उत्तरी भारत में मुसलमानों के आक्रमणों के बाद आगमों की उदारता की स्वीकृति अनिवार्य हो गई क्योंकि इस्लाम के समानता के नारे ने यहाँ की निम्न जातियों को अपने अधिकारों के लिए जागरूक कर दिया था। श्री वैष्णवों ने शूद्रों को दीक्षा का अधिकार नहीं दिया था, केवल उन्हें भगवान की 'शरण प्राप्ति' का आश्वासन अवश्य मिला था, किन्तु इस थोड़ी-सी सुविधा से उत्तरी भारत में काम नहीं चल सकता था, अतः रामानन्द ने और भी अधिक उदारता से काम लिया। प्रसिद्ध कथा है कि जब रामानन्द दक्षिण गये तो श्री वैष्णवों ने उनके साथ भोजन करने से मना कर दिया, फलतः रामानन्द और भी अधिक उदारता दिखाने लगे और पेड़ पर चढ़कर उन्होंने भगवान के नाम की घोषणा की। यह मान लिया गया कि जिसके कान में राम का नाम पड़ जायगा उसे वैष्णव मान लिया जाएगा इस कथा से रामानन्द की प्रगतिशीलता का पता चलता है।

रामानन्द के समय तक भारतीय धर्म साम्प्रदायिक दुराग्रह रखते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं रह गये थे, क्योंकि शंकराचार्य और श्री वैष्णवों के द्वारा तान्त्रिक साधना को भी स्वीकृति मिल चुकी थी। अतः सम्प्रदाय प्रायः अपनी अपनी श्रेष्ठता और महत्व के लिए लड़ते थे। किन्तु अन्य सम्प्रदायों को साधना के निम्न सोपानों के रूप में स्वीकार कर लेते थे। इस तथ्य को प्रायः विचारक

भुला देते हैं कि तुलसीदास, सूरदास के पूर्व सभी सम्प्रदाय शत्रुता का भाव भुला चुके थे। काव्यशास्त्र मे जिस प्रकार अलंकारवाद, रीतिवाद, ध्वनिवाद, रसवाद आदि अनेक सम्प्रदाय है परन्तु सब एक दूसरे का महत्व स्वीकार करते हैं—इसी तरह शैव वैष्णवो को और वैष्णव शैवो को अपने समान श्रेष्ठ न समझते हुए भी उनके शत्रु नही रह गये थे, इसी प्रकार शांकर मत के संन्यासी वैष्णव-शैव भक्तो को स्वीकार करते थे, यहाँ तक कि जैन और बौद्ध मतो के महापुरुषों को भी स्वीकार कर लिया गया था। महायान मत अपने देवताओ की भक्ति व उपासना के द्वारा हिन्दू धर्म के बहुत निकट आ चुका था। मत्स्यपुराण व भागवतपुराण गौतम बुद्ध को भगवान मान चुके थे। बुद्ध की जन्म-तिथि पर हिन्दू भी एक उत्सव मानते थे, ऐसा ब्रह्माड-पुराण मे उल्लेख मिलता है।[1]

वैष्णवो व शैवों का अवतारवादी सिद्धान्त इस दृष्टि से बहुत उपयोगी था। इससे समाज के हितैषी अन्य सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित पुरुषों को भी स्वीकार करने मे बडी मदद मिलती थी तथा समाज-कल्याण की भावना का भी प्रचार होता था। जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब भगवान नाना रूप धारण कर अवतार लेते हैं, यह एक मानवीय सिद्धान्त था जो जनता के दुःखो को दूर करने का आश्वासन देता था। इस अवतारवाद द्वारा आस्तिक नास्तिक सभी परोपकारी पुरुषो को सम्मानित किया जा रहा था, अतः अवतारवादी पौराणिक व आगमिक दृष्टि ने रामानन्द के बाद बहुत काम किया और मुसलमानो के द्वारा उत्पन्न अशांति के समय सभी आस्तिक, नास्तिक प्राचीन भारतीय श्रेष्ठ व्यक्तियों से प्रेरणा ली गई, क्योंकि शंकराचार्य इस सिद्धान्त को कम महत्व देते थे, अतः उनका विरोध किया गया।

रामानन्द के समय सभी सम्प्रदायों मे अविरोध स्थापना के साथ दूसरी प्रवृत्ति यह दिखाई पडती है कि सभी सम्प्रदायो मे "दक्षिणाचार" पर अधिक बल दिया जाने लगता है और वामाचार का विरोध होता है। वस्तुतः वामाचार वैदिक परम्परावादियो की कठोरताओ के विरुद्ध प्रतिवाद की सीमा तक पहुँचा हुआ एक विद्रोह था और रामानन्द के समय तक क्योंकि आर्येतर विश्वासो को अपना लिया गया था और साथ ही निम्न जातियो को भी सुविधाएँ दे दी गई थी इसलिए वामाचार इस परिस्थित मे हानिकर समझा

[1] ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १२१

गया। स्वयं शाक्त-मत ने इसे अनुभव किया था और इसीलिए तेरहवीं शताब्दी के बाद यह दक्षिणाचारी होता गया। सन्त वैष्णवों ने शाक्त-सिद्धान्तों को अवश्य अपनाया है, सन्तों ने तो शाक्तयोग को पूर्णतः स्वीकार किया है, किन्तु वामाचार का खंडन सन्त-वैष्णव-साध्य की विशेषता है। कृष्ण-भक्त-वैष्णवों में वामाचार भाव-साधना के रूप में प्रविष्ट हुआ, जिसमें भगवान के रतिचक्र का ध्यान किया जाने लगा।

राम-भक्तों में तुलसीदास जैसे भक्त वामाचार के घोर विरोधी थे जबकि परवर्ती राम-सम्प्रदाय में मानसी ध्यान के रूप में राम की विलास क्रीडाओं को ही साधना का सर्वस्व मान लिया गया।

शैव, शाक्त मत का एक दूसरा रूप भी इस युग में प्रचलित हुआ। देश पर आक्रमण के समय "भवानी" बहुत प्राचीनकाल से ही युद्ध की देवी मान ली गई थी। शक्ति का राष्ट्रसंरक्षक और असुरविमर्दक रूप सभी को प्रिय था, अतः राजपूताने के क्षत्रिय भवानी की उपासना करने लगे। सिद्धराज जयसिंह शिव के उपासक थे जो युद्ध के देवता थे। शिवाजी व गुरुगोविन्द सिंह को "भवानी" ने जो तलवारें दी थीं उन्हें शक्ति या भवानी कहा जाता था। भवानी की पूजा में वलि दी जा सकती थी, मदिरा की धार दी जा सकती थी, परन्तु मैथुन के साधनात्मक रूप को स्वीकार नहीं किया जा सकता था। अतः राष्ट्रीय खतरे के समय तांत्रिक मत अपने राष्ट्र-संरक्षक रूप में स्वीकृत हुआ था, दूसरी ओर अपने योग के द्वारा तांत्रिक मत समाज की वर्णाश्रम धर्म की कठोरता से उत्पन्न असंगति को दूर कर रहा था।

मधुरा भक्ति पर तांत्रिक प्रभाव—यह मनोरंजक तथ्य है कि देश की रक्षा के समय शक्तिवाद भवानीउपासना के रूप में स्वीकृत हो रहा था तो यही शक्तिवाद समाज के संगठीकरण के लिए योग के रूप में स्वीकृत हुआ था और साधना को जन-प्रिय बनाने के लिए यही शक्तिवाद राधा-कृष्ण व सीता राम की प्रेम लीलाओं का रूप धारण कर रहा था। आकर्षण साधना के लिए वैष्णवों ने तांत्रिकों की यामल साधना को स्वीकार किया था जो भागवतपुराण में स्वीकृत हो चुकी थी। निम्बार्क ने कृष्ण के साथ राधा को शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया, जयदेव ने गीत-गोविन्द में शक्ति और शक्तिमान की प्रेम-लीलाओं का वर्णन किया था। इस राधा या गोपीवाद की पृष्ठभूमि में निश्चित रूप से तांत्रिकों की साधनात्मक रति-क्रीडा कार्य कर रही थी। क्योंकि वैष्णव सामन्तों से लेकर जन सामान्य तक और पंडित से लेकर मूर्ख तक सभी के

लिए आकर्षक साधना-पद्धति का आविष्कार कर रहे थे। जयदेव के गीत-गोविन्द के टीकाकारो मे इसीलिए महाराणा 'कुम्भा' जैसे विकट योद्धा भी थे। इस युग मे उस यामल साहित्य की प्रभाव-वृद्धि दिखाई पडती है जिसकी रचना ६०० ई० से १३०० ई० के मध्य हुई थी। इस यामल साहित्य मे शक्ति सहित देवता की उपासना का वर्णन मिलता है, फलत. निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, हितहरिवश आदि आचार्य भगवान के उस रूप को लेकर चले जो आनन्दवादी था। वल्लभाचार्य ने लिखा है कि लोक-रक्षा और धर्म-सस्थापन का कार्य तो चतुर्व्यूहात्मक अवतार करता है किन्तु ससार को केवल आनन्द देने के लिए जो अवतार होता है वह भगवान का रसरूप है।[1] इस प्रकार वैष्णव-सम्प्रदाय रसरूप पर ही अधिक बल देने लगे, यह रसरूप भगवान गीता के कर्मयोगी कृष्ण से भिन्न दिखाई पडता है।

रसरूप भगवान के मनोहर लीलावाद ने वामाचारी सिद्धसाधना को अपदस्थ किया। वामाचारियो का क्रान्तिकारी रूप सन्तकवि स्वीकार कर ही चुके थे, अत: वैष्णव आन्दोलना के द्वारा तान्त्रिक साधना का कुत्सित अतिवादी रूप सवदा के लिए प्रभावहीन हो गया। यह लक्ष्य करने योग्य तथ्य है कि राधा-कृष्ण की रति लीलाओं का ध्यान करके विभोर होकर उनका गायन करने वाले भक्तकवि सिद्धो के नाडीयोग के विरोधी थे, किन्तु सिद्ध-साधना के शक्तिवाद को स्वीकार करते थे। कृष्णभक्त व रामभक्त वैष्णवा ने कहीं भी दक्षिणाचारी शैव, शाक्तो का विरोध नही किया है। तुलसीदास भी हठयोग के विरोधी और शिव के प्रशसक थे। हठयोग व सन्त सम्प्रदाय से भक्त कवियो और आचार्यों का पूर्ण सामजस्य इसलिए नही बनता था कि योग परम्परा के साधक वैदिक परम्पराओ और वर्णाश्रम-प्रथा के कठोर आलोचक थे। इस प्रकार तान्त्रिक सम्प्रदायो से किस सम्प्रदाय न क्या ग्रहण किया, इस तथ्य पर ध्यान केन्द्रित करन का बहुत आवश्यकता है।

रामानुज और रामानन्द ने आगमो से भक्तितत्व को ग्रहण किया है। ये आचार्य देवता-विशेष, उसकी शक्ति (लक्ष्मी, सीता) उसके गण, उसकी मूर्ति तथा उसकी लीलाओ के उपासक है। य तत्व आगमो और तन्त्रा म पूर्ण रूप से विकसित हो चुके थे। रामानन्द की सन्त-शिष्य-परम्परा द्वारा तान्त्रिक कुडलि-नीयोग स्वीकृत हुआ जिसमे देवतावाद नही मिलता किन्तु रामानन्द की भक्त-

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीन दयालु गुप्त, पृ० ४०४

शिष्य परम्परा में यह देवदासीवाद स्वीकृत हुआ जैसा कि गुलगीदास, प्रयदास आदि में दिखाई पड़ता है।

वैष्णवों में जो दिव्य शृंगार को भवन देख-देखकर मुग्ध होने की भावना है, यह निश्चित रूप से साधनात्मक है, उसी की कविता में काफी मिली है। साधनात्मक पक्ष को विस्मृत कर देने पर वैष्णव काव्य का स्वरूप नहीं समझाया जा सकता। यह दिव्य शृंगार अनेक आयाम वाला है। सहृदय उसे काव्यात्मक रूप में ग्रहण कर सकते हैं और साधक शुद्ध "भावदेह" की प्राप्ति पर भगवान की रतिलीलाओं में सम्मिलित हो सकते हैं। साथ ही वह इस विराट ब्रह्माण्ड के मूल में अवस्थित शक्ति व शक्तिमान की अलौकिक एकता का भी दर्शन है, एक विराट "विजन" है।[1] कवियों के मस्तिष्क से जब जब यह विजन लुप्त हुआ है तब-तब वैष्णव काव्य उसी प्रकार पतित हुआ है जिस प्रकार सूफी काव्य का "इश्क हकीकी" चरित्रहीन गजलगो शायरों के द्वारा घृणित रूप में हमारे सम्मुख आया है, अतः वैष्णवकाव्य के शक्तिवाद को विस्मृत करना गलत होगा। कश्मीरी शैवमत में कामकला पर जो कुछ लिखा गया है, वैष्णव काव्य में वही दिव्य शृंगार बन गया। काम तत्व की इस गम्भीरता को जयशंकर प्रसाद ने समझा था तभी वह कामायनी लिख सके।

दार्शनिकों ने जीवन को गहराई से देखा था। विशेष रूप से वैष्णव कवियों का दर्शन मानवीय जीवन की ही दिव्य प्रतिलिपि है। प्रेम भाव में व्यक्ति को जो अनुभव होते हैं उन्हीं अनुभवों को ब्रह्म व उसकी शक्ति पर आरोपित करके अथवा वहाँ उनका अनुमान करके तान्त्रिकों व उनसे प्रभावित वैष्णवों ने अपनी सृष्टिलीला का भवन खड़ा किया है। जिस प्रकार हमारे मन में सर्वेच्छारूपधारी काम उत्पन्न होता है, जिस प्रकार वही समस्त कार्यों

---

१ द आईडरली डान्स आफ द स्फेअर्स, द परपेचुअल मूवमेन्ट आफ द एटम्स, इवोल्यूशन एन्ड इन्वोल्यूशन, आर कन्सेप्शनस दैट हैव एट आल टाइम्स अवर्ड टू मैन्स माइंड्स, बट टू रिप्रेजेन्ट दैम इन द विज़ीबिल फोर्म्स आफ नटराजस डान्स इज ए यूनीक एन्ड मेगनीफिसेंट एचीवमेन्ट आफ द इंडियन्स आर्ट्स एंड क्राफ्टस आफ इन्डिया एंड सीलोन डा० आनन्दकुमार स्वामी,—ए मेटाफिजीक आफ मिस्टीसिज्म—गोविन्दाचार्य स्वामी, मैसूर, १९२३

यह स्मरणीय है कि नर्तक कृष्ण पर शिव के उक्त स्वरूप का प्रभाव है।

व पदार्थों की सृष्टि के लिए प्रेरक बनता है, उसी प्रकार ब्रह्म मे भी दार्शनिकों ने काम-भाव को देखा, जिस प्रकार प्राकृत रति से ही सन्तति का जन्म होता है, उसी प्रकार ब्रह्म ने अपनी शक्ति के साथ शृंगार लीला की होगी, ऐसा अनुमान कर लेना कुछ कठिन नहीं था। इसीलिए सृष्टि और संहार की क्रियाओं मे वैष्णवो ने दिव्य लीला के दर्शन किये है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसे स्वीकृति भले ही न मिले किन्तु यह दृष्टि जीवन के अनुभवों पर आधारित है तथा मधुर कल्पना के कारण कवित्वपूर्ण है, इसमे कोई सन्देह नही। जिन सम्प्रदायो ने इस अखिल ब्रह्माड को आदिपिता शिव तथा आदि जननी उमा की सन्तति के रूप मे देखा था, जिन्होने मनुष्य को लक्ष्मीनारायण के लाडलो के रूप मे निरूपित किया था, जिन्होने प्रत्येक प्रेमी व प्रेमिका को पुरातन पुरुष व उसकी शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित किया था, भला उन्हे कौन कवित्वहीन कह सकता है? अत भाव साधना के लिए जिस मधुराभक्ति का प्रचार वैष्णवो ने किया है उसके पीछे आगमों की शक्तिवादी विचारधारा दिखाई पडती है और उसने मध्यकालीन कवित्व को अद्भुत प्रेरणा दी है।

ऐतिहासिक औचित्य—इस कवित्वपूर्ण "दिजन" की उस समय आवश्यकता थी। धर्म जो ऊपर के तबको मे सकुचित हो रहा था, जो "रस" केवल कतिपय व्यक्तियो की हृदय कोठरी मे ही बन्द था, उसे दोनो हाथ उलीचने की आवश्यकता थी, क्योकि उत्तरी भारत मे राजनैतिक व सामाजिक दुरावस्था चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी। जैसे ही सास्कृतिक सगठन का अवसर मिला आन्ध्र मे वल्लभ ने, बगाल से चैतन्य ने, चित्रकूट से तुलसीदास ने तथा व्रज-प्रदेश से अन्य आचार्यों ने मनुष्य की सास्कृतिक शिक्षा प्रारम्भ कर दी, इनमे कोई कम उदार था कोई अधिक उदार था। यह स्मरणीय है कि वैष्णव कवि वैदिक कर्मकाडीवर्ग तथा टीकाकारो से बहुत आगे थे अत देश के हृदय को वही जीत सके और वही समाज के वास्तविक विधायक बने। कानून बनाने और फतवा देने का अधिकार जिन्हे हिन्दू और इस्लाम मतों मे मिला था, वह इतिहास के प्रवाह को नही समझ सके, उन्होंने इतिहास को पीछे खीचा, अलगाव व भेद-भाव फैलाया जबकि इतिहास ऐसी शिक्षा माँग रहा था, जिसके द्वारा सारे देश के सभी वर्गों के लोग अधिकाधिक सम्पर्क मे आएँ, अकबर की शासन व्यवस्था का मधुर स्पर्श पाकर यह कार्य इतनी द्रुतगति से बढ़ा कि विचारक को आश्चर्य होता है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि बिजली की गति से भक्ति सारे देश मे व्याप्त हो गई और इसके लिए उन्होंने ईसाई प्रभाव खोज

लिया परन्तु यह एक वेबुनियाद बात थी, वातावरण में फैली हुई ऊष्मा को जिन हृदयों ने सबसे अधिक अनुभव किया, वे महामना सम्भुन्न प्राण और जनता में काम करने लगे। एक ऐसा वातावरण बनाने लगा जिसमें धर्म के नाम पर फैली हुई घृणा का घाव भरने लगा।

यह लक्ष्य करने योग्य है कि उन कवियों और कलाकारों को इतनी ही अधिक सफलता मिली जिन्होंने साधना को अधिक आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया और जिन्होंने आदर्शों का निर्माण किया, उन्हें जनता ने कविता की पुस्तक न समझ कर पवित्र धर्म की पुस्तक समझा और उन्हें पारायण करना प्रारम्भ कर दिया। प्रथम वर्ग में कृष्ण-भक्ति कवि आते हैं और दूसरे वर्ग में तुलसीदास। "तुलसीदास" को वाल्मीकि का पद मिला, उनकी वाणी ऋषि-वाणी मान ली गई क्योंकि कुछ संकीर्णताओं को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक प्रकार के मानवीय सम्बन्धों के आदर्श उन्होंने प्रस्तुत किए थे। उस युग की जो सामन्ती व्यवस्था थी उसमें एक आदर्श शासक से लेकर आदर्श सेवक ही नहीं, शत्रु तक के लिए आदर्श निश्चित कर दिए गए थे अतः तुलसीदास को वाल्मीकि कहना ठीक ही था। तुलसीदास ने हर उस बात को वैदिक घोषित करके स्वीकृति दिला दी जिसे पहले पूर्णतः स्वीकृति नहीं मिली थी, यद्यपि पहले भी कई शताब्दियों से अतर्मुक्ति का सिद्धान्त व्यवहार रूप में परिणत होता आ रहा था। तुलसीदास, वल्लभ, चैतन्य आदि ने उन सभी तत्वों पर आखिरी प्रामाणिक मुहर लगा दी जिन्हें अवैदिक कहकर लोग छोड़ सकते थे। फलतः अत्यधिक उदार ग्रहणशील प्रवृत्तिप्रधान हिन्दूमत का पुनः अभ्युदय हुआ, इससे एक ओर अपने संस्कारों की रक्षा की गई, वहीं उसके उदार स्वरूप के कारण उसके प्रति बहुत सी मुस्लिम जनता भी आकर्षित हुई, अलगाव कम हुआ। यदि शुद्ध वैदिक कर्मकाण्ड का पुनः अभ्युदय होता तो मुस्लिम शासन के भीतर की जनता में अलगाव कम नहीं हो सकता था, हाँ, यह राजपूतों के शासन और दक्षिण के हिन्दू राजाओं में सम्भव था और वह भी द्विजातियों में ही यह कर्मकाण्ड एकता स्थापित कर सकता था। निम्न जनता को तो यज्ञ स्थल के स्पर्श का भी अधिकार न था, अतः वैदिकता के नाम पर उस प्रचलित (पाप्यूलर) धर्म को ही ग्रहण किया जा सकता था, जिसमें हिन्दू संस्कृति की रक्षा भी हो सके और साथ ही उसमें इतनी उदारता, सरलता और आकर्षण भी हो कि वह सभी वर्गों को समेट सके।

वैष्णवों की सफलता का कारण ही यह है कि वे वैदिकता की मुहर उस

पचलित धर्म पर नगाकर चले जो मूलत आगममूलक था और जिसे पुराणों ने स्वीकार कर लिया था। लोक के विश्वासो को वैदिक मानकर चलने के कारण वैष्णव कवि व आचार्य सास्कृतिक शिक्षा के कार्य मे सफल हुए।

यह सब उस परिस्थिति म प्रारम्भ हुआ था जिसे हमने "नीच मे ऊपर का सामन्तवाद" कहा है।

हम कह चुके हैं कि तुर्कों के शासन-काल मे कर बढ गया था। धार्मिक व सामाजिक दृष्टि से हिन्दुओ का अपमान ही नही हुआ था अपितु शासन-प्रबन्ध और आर्थिक व्यवस्था म सुधार न करने के कारण तुर्क शासक जन प्रिय नहीं हो सके थे। यह स्मरणीय है कि हूणों के आक्रमण से मुहम्मद गजनवी के आक्रमण के पूर्व तक लगभग ५०० वर्षों मे देश पर कोई विदशी आक्रमण नही हुआ। केवल सिंध पर अरबो का शासन स्थापित हो चुका था। यही युग तत्रो के विकास का युग है, जिसम सास्कृतिक एकता के लिए काम हुआ था, तथा साथ ही शाति के समय कठोर वर्णाश्रम-प्रथा के विरुद्ध अभियान भी हुआ था। तुर्कों के आक्रमण के पूर्व की हिन्दुओ की सामाजिक अवस्था पर विचार करते हुए के० एम० पनिक्कर ने लिखा है कि भारत के लोग इस अवधि म इतने अधिक गर्वीले हो गए थे कि वे युद्ध, ज्ञान व अन्य क्षेत्रों म दूसरा से शिक्षा लेने की बात ही भूल गए। उनका विदेशियों के साथ सम्पर्क टूट गया। उनकी सभ्यता का विकास बन्द हो गया। समाज जड हो गया, इतना अधिक जड कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की जडता देखकर स्वय मनु व याज्ञवल्क्य भी स्तम्भित रह जाते।[1]

आर्थिक दृष्टि से धन का इस युग मे विपम वितरण और बढ़ा और उसका उपयोग मदिरो के लिए अधिक होता था, सिंचाई और अन्य उत्पादक साधनो के लिए कम होता था। शासन-प्रबन्ध की दशा पर क्षेमेन्द्र ने देशोपदेश और नर्ममाला नामक पुस्तकों द्वारा अच्छा प्रकाश डाला है। पटवारी या दिविर, नियोगी या कलक्टर तथा परिपालक या गवर्नर के द्वारा शासन प्रबन्ध होता था। कागजात तैयार करने के लिए लेखोपाध्याय तथा कायस्थ रहते थे।[2] कायस्थों या क्लर्कों से जनता विशेष रूप से परेशान रहती थी, किन्तु ये शैव शासन सशक्त होने पर नौकरशाही द्वारा दमन कम हो जाता था।

---

१ ए सर्वे आफ इडियन हिस्ट्री, पृ० १३१

२ के० एम० पनिक्कर, पृ० १३५

मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व इस देश में धार्मिक व सामाजिक संगठन अधिक दृढ़ था। राजनैतिक रूप से देश अपेक्षाकृत दुर्बल था। यह स्मरणीय है कि तुर्कों के शासन में दिविर से लेकर नियोगी तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया, केवल अत्यधिक उच्च पदों पर मुसलमान अधिकारी नियुक्त कर दिये गए, शेष सारी नौकरशाही भारतीय ही रही। मुस्लिम विजेता न तो अपने साथ किसान लाये थे और न जमादार और कर्मचारी।[१] प्रारम्भ में विजेता इन कामों से नफरत करते थे। अतः कृषि और व्यापार तथा शिल्प पर हिंदुओं का ही अधिकार रहा। इस सशक्त आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के सम्मुख क्रूर से क्रूर विदेशी विजेता को नतमस्तक होना पड़ता था और उदारता का वातावरण बनने लगता था, इसीलिए प्रेम की पुकार लगाने वाले सन्तों और वैष्णवों का प्रभाव इस युग में बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है। अलाउद्दीन जैसे नृशंस बादशाह ने आचार्य महासेन जैन मुनि का सम्मान किया था जिन्हें कर्नाटक से बुलाया गया था। गयासुद्दीन तुगलक ने दिल्ली के दिगम्बर जैन पूर्णचन्द्र तथा श्वेताम्बर जैन साधु रामचन्द्र सूरी को सम्मानित किया था।[२] सूफियों के नैतिक प्रभाव को भी बादशाह स्वीकार करते थे।

पीड़ित हिन्दू जनता में आत्म विश्वास उत्पन्न करना, विजेता और शासकों को मनुष्यता की शिक्षा देना, कर्मकांडियों व समाज के नियमों को कठोरतर बनाने वाला का विरोध, मुसलमानों व शूद्र जातियों के प्रति उदारता बरतना, सम्प्रदायिक दुराग्रह कम करना, कला, संगीत और कविता का पुनरुद्धार करना, तथा लोकभाषाओं को अपनाकर प्रत्येक व्यक्ति को प्रेम की शिक्षा देना-वैष्णव भक्तों का यह ऐतिहासिक कार्य था। वैष्णवों ने साधना को इतना सरल और आकर्षक बनाया, उसमें इतना कवित्व और संगीत भरा कि उनका प्रेम-सन्देश सुनने के लिए सभी उत्सुक हो उठे। वैष्णव साधना में भगवान की कृपा पर सबसे अधिक बल दिया गया है। महायान मत के अवलोकितेश्वर के सादृश्य पर भगवान राम और कृष्ण भक्तों ही नहीं किन्तु पापियों के मुख से केवल अपना नाम सुन कर ही भाग-भाग कर आने लगे। क्रोध और आलस्य में भी हरिनाम निकल जाने पर भवसागर से लोगों का

---

१ के० एम० पनिक्कर, पृ० १५८

२ वही, पृ० १५८

उद्धार होने लगा। यह जादू न मीमांसकों के पास था और न वेदान्तियों के पास। यह जादू पौराणिकों के पास था जिसमें साधना को अत्यधिक सरल बनाया गया था। राम और कृष्ण ही नहीं 'विक्रम बजरंगी हनुमान' ने भी यह प्रतिज्ञा की कि जो उनके नाम का स्मरण करेगा वह तुरन्त उपस्थित होकर आततायी का वध करेंगे। वैष्णवों ने भगवान को इतना अधिक कृपालु बनाया कि वह भक्तों के वश में हो गए और शताब्दियों तक देश को इस पद्धति पर आश्वस्त बनाए रखना सम्भव हुआ कि भगवान कष्टों को अवश्य दूर करेंगे।

'पुराण और आगम' मुसलमान शासन के पूर्व ही ऐसे भगवान का आविष्कार कर चुके थे क्योंकि हिन्दू सामन्तवाद से भी जनता पीडित ही थी विशेष रूप से निम्न जनता आर्थिक शोषण व वर्ण-व्यवस्था दोनों से दमित थी। इसीलिए भक्ति का आवेश दक्षिण में सर्व प्रथम निम्न जातियों में ही जाग्रत हुआ था।

आगमों ने नाना स्थानीय देवताओं की पूजा का प्रचार उच्च वर्गों में भी किया। देवताओं के साथ उनकी शक्तियों तथा अन्य परिवार के सदस्यों की पूजा भी प्रचलित हुई। पुराणों ने भी नाना देवताओं की पूजा उपासना का प्रचार किया। देवता उपासना के पीछे यह तान्त्रिक सिद्धान्त था कि सत्य का सहसा साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, अत किसी देवता के साथ पहले तादात्म्य करना चाहिए और उसके पश्चात फिर निर्गुण सत्ता के साथ अभेद स्थापित करना चाहिए।

तान्त्रिक युग के पश्चात (६०० से १३०० तक) वैष्णवों ने राम-सीता, कृष्ण-राधा आदि की पूजा प्रचलित की और इनके पारिषदों की उपासना भी चल पड़ी। साधना के उच्चतम लक्ष्य के अनुसार शक्ति और शक्तिमान के परस्पर प्रेम, एकता तथा कामकेलि को ही वैष्णव भक्तों ने प्रचारित किया। तुलसीदास ने वाल्मीकि की परम्परा में राम के मर्यादा-पुरुषोत्तम का चित्रण किया। [के० एम० पनिक्कर ने लिखा है कि इस्लाम द्वारा हिन्दुओं के पवित्र तीर्थ विजित हो जाने के कारण वैष्णवों ने पलायनवाद का प्रचार किया क्योंकि वैष्णवों की भक्ति में गीता का ओज और कर्मयोग नहीं मिलता। राधा-कृष्ण की उपासना में रहस्यवादी तत्व अधिक दिखाई पड़ते हैं।[1]]

स्पष्ट ही वर्तमान को भूतकाल में देखने के कारण श्री पनिक्कर को उक्त

---

१ ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १६३

भ्रम हुआ है। आज की दृष्टि से तो धर्ममात्र ही पलायन है। यह सही है कि वैष्णव भक्ति में गीता की कर्मठता का अभाव है और उसका रहस्यवाद आगमों पर आधारित है परन्तु यही रहस्यवाद उस परिस्थिति में प्रेम के ऊपर प्रतिष्ठित होने के कारण पलायनवाद के रूप में नहीं अपितु प्रेरणावाद के रूप में आया था। अनावश्यक यथार्थ को बदलने के लिए कभी-कभी भ्रम का सृजन भी आवश्यक होता है। कला और धर्म द्वारा मनुष्य इसी पद्धति पर अपनी परिस्थिति में एक सीमा तक परिवर्तन करता आया है।

राधा-कृष्ण की मधुर उपासना उस युग में सबसे अधिक सफल हुई और आचार संहिताओं के लेखक सबसे अधिक असफल हुए, यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाय तो वैष्णवों को पलायन वादी नहीं कहा जा सकता।

देवल, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर कुल्लूकभट्ट तथा चन्द्रेश्वर आदि लेखकों ने तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों तक जिन आचारसंहिताओं और निबन्धों का निर्माण किया है, उनमें हिन्दू समाज को यवन-प्रभाव से बचाने का अद्भुत प्रयत्न दिखाई पड़ता है। इसके लिए नियमों को कठोर किया गया और यवन बन जाने के बाद पुनः अपने धर्म में वापस आने की आज्ञा किसी को नहीं दी गई। निश्चित रूप से यह एक रक्षात्मक प्रवृत्ति थी, परन्तु कठोर नियमों के निर्माण से आगे चलकर सामाजिक सम्मिलन के कार्य में बाधा पड़ी और इस परिस्थिति में वैष्णवों ने उदारता का प्रदर्शन किया। तभी बहुत से मुसलमान भक्त कवि कृष्ण और राम—उपासना की ओर आकर्षित हुए।

स्मृतिकारों के कार्य और वैष्णवों के कार्य की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैष्णव कवि अधिक दूरदर्शी थे, वे एक सीमा तक वैदिक पुनरुत्थानवादी भी थे, किन्तु उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में जातिवाद के विरुद्ध प्रचार किया और भगवान की शरण प्राप्त करने का यवनों, शूद्रों, स्त्रियों आदि सबको अधिकार दे दिया।

योग-वेदान्त, सांख्य तथा तंत्र के सिद्धान्तों व साधनाओं की अन्तर्भुक्ति—वैष्णव सम्प्रदायों ने लोक भाषा का आश्रय ग्रहण किया और सार-ग्रहण की प्रवृत्ति अपनाई। दसवीं शताब्दी में तमिल में महाभारत का अनुवाद हो चुका था। ग्यारहवीं शताब्दी में तेलुगू भाषा में भी महाभारत का अनुवाद हुआ। इससे भक्ति के विकास में बड़ी मदद मिली। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि वर्तमान रूप में प्राप्त महाभारत में विभिन्न मतों में अविरोध स्थापित किया गया।

महाभारत के अतिरिक्त भक्ति के प्रचार मे भागवत पुराण का सबसे अधिक हाथ रहा है (भागवतपुराण के पश्चात् राधा-कृष्ण के मधुर रूप का प्रचार प्रचलित हुआ। राधा भागवत पुराण मे नही मिलती, उसकी शोध मे विचारकों को बड़ा कष्ट हुआ है और बहुतसा परिश्रम भी व्यर्थ गया है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अपनी शक्तिवादी दृष्टि के कारण कृष्णभक्त आचार्यों के सम्मुख यह समस्या थी कि व्रज की प्रेम लीलाओं के लिए कृष्ण के साथ किस शक्ति को अपनाया जाय? लक्ष्मी से काम नही चल सकता था, क्योंकि लक्ष्मी मे वैभव व मर्यादा अधिक थी, रुक्मिणी व सत्यभामा आदि का सम्बन्ध द्वारिका के राजा कृष्ण से था अतः व्रज के दिव्यशृंगार व रास की अधिष्ठात्री देवी के रूप में किसे अपनाया जाय। वल्लभ व चैतन्य के पूर्व सहजिया वैष्णवों ने राधा को अपना लिया था और राधा-कृष्ण का यह रूप बौद्धों के सहजयान के प्रज्ञोपाय की एकता के आधार पर स्वीकृत हुआ था। चंडीदास की राधा मे सहजिया तत्व स्पष्ट है, तभी प्रेम के वर्णन इतने अश्लील हो गए हैं। क्या कारण है कि गाथा सप्तशती व वेणीसहार नाटक, ध्वन्यालोक आदि कतिपय ग्रन्थ तथा बंगाल के पहाड़पुर के 'बेसरिलीफ' मे (६ वीं शता०) में ही राधा के उल्लेख मिलते हैं, और जयदेव के गीतिगोविन्द, चंडीदास के "श्रीकृष्ण कीर्त्तन" (१३८० ई०) आदि मे राधा ही रह जाती है, गोपिया गायब हो जाती हैं। चंडीदास के श्रीकृष्ण कीर्त्तन मे गोपिया गायब हैं। डा० सुकुमार सेन ने लिखा है कि चंडीदास मे अभद्र प्रेम का वर्णन है। कृष्ण राधा को प्रेम के जाल में बांधने का प्रयत्न करते हैं, एक जरठा दूती की सहायता लेते हैं।

विद्यापति चंडीदास और चैतन्य के राधावाद मे डा० सुकुमार सेन एक लम्बी खाई मानते हैं। चैतन्यपूर्व का राधावाद अश्लील है, चैतन्य का राधावाद शिष्ट और समर्पणपूर्ण है, सुकुमारसेन कहते हैं कि इस खाई को मधुरी-भक्ति से भरा गया और विरह का महत्व बढता गया।[1] किन्तु यहाँ लक्ष्य यह है कि सर्वप्रथम सहजिया वैष्णवों ने ही 'राधा' को साधनात्मक रूप दिया, फिर उसे शिष्ट रूप दिया चैतन्य ने। चैतन्य के प्रभाव से गोसाईं विट्ठलनाथ के समय राधा का प्रभाव वल्लभ सम्प्रदाय में बढ़ा, यद्यपि वल्लभ के यहाँ भी 'राधा' का स्थान था, अतः राधा को साधनात्मक रूप देने का प्रथम श्रेय तांत्रिक परम्परा को ही है और राधा का, "साधना मे पूज्य राधा का," स्रोत

---

१ ए हिस्ट्री आफ ब्रजबुलि लिट्रेचर, कलकत्ता १९३५ पृ० १ से १६ तक।

निश्चित रूप से तन्त्रों का शक्तिवाद है। भागवत में राधा नहीं थी तो गोपियाँ थीं, इस गोपी-कृष्ण की गुह्य-लीलाओं पर भी तन्त्रों का प्रभाव स्वयं फर्कुहर ने माना है जो तंत्राचार के घोर विरोधी थे, जिन्होंने तन्त्रों के श्रेष्ठ तन्त्रों को कभी मनन करने की कोशिश नहीं की थी, वह कहते हैं—

बट वी मस्ट आलसो रिकोगनाइज़ इन द भागवत द प्रजेन्स आफ ग्रेनटर फ्रेश एलीमेन्ट आफ ए वैरी डिफरेंट कैरेक्टर, ए लॉग सीरीज आफ हाइली इरोटिक पैसेजिज व्हिच गो फार बियोन्ड एनीथिंग विष्णु-पुराण एन्ड हरिवंश कन्टेन एन्ड व्हिच सीम टू कन्सोर्ट इल विद द हाई डिवोशन टू द लोर्ड एन्ड सेंटिस आफ हिज़ गेन्ट्स। मेडीटेशन आन दीज़ सीन्स इज एक्सपेक्टेड टू प्रोड्यूस दैट पैशनेट भक्ति व्हिच इज़ रिगार्डिड एज द रिलीजिस एक्सपीरियन्स।[1]

इस पुराण के विषय में फर्कुहर ने यह भी लिखा है कि इसकी तिथि तथा इसके जन्म के विषय में कोई संतोषजनक समाधान अभी तक नहीं हो सका है।[2]

जिसे फर्कुहर भागवत में "फ्रेश एलीमेन्ट" कहते हैं, वह वस्तुतः तान्त्रिक साधना का प्रभाव है। तान्त्रिकों ने धर्म को जनप्रिय बनाने के लिए सम्भोग व योग के विरोध को समाप्त किया, पापियों, दुष्टों और दुराचारियों के लिए भी साधना के द्वार खोल ही नहीं दिए अपितु पापियों को साधना के लिए विशेष उपयुक्त समझा—दूसरे ऐन्द्रिक आनन्दों का निषेध न होने के कारण सामान्य जन भी आकर्षित हुआ। चक्रसाधना व सिद्धों की संगतियों या सभाओं में नृत्य, गायनादि चलने लगा, फलतः शाक्त-युग में इस साधना का प्रभाव अन्य सम्प्रदायों पर भी पड़ा, प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी साधना को आकर्षक रूप देने की स्पर्धा सी होगई, फलतः भागवतपुराण में भी सम्भोगपरक दृश्यों का विधान कृष्ण की बाल लीलाओं में जोड़ दिया गया जो विष्णु व हरिवंश पुराण में नहीं मिलता (परवर्ती ब्रह्मवैवर्त में राधा का भी विधान हो गया क्योंकि शक्तिमान् कृष्ण के साथ गोपियों में से किसी एक को पराशक्ति का रूप देना ही था। स्वयं भागवत पुराण से यह सिद्ध किया जा सकता है कि तान्त्रिक प्रभाव इस पुराण पर बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है,) प्रारम्भ पर विचार कीजिए—

नारद कर्मभूमि समझ कर पृथ्वीलोक पर भ्रमण करने गए। नारद ने

---

१ द रिलीजस क्विस्ट आफ इंडिया, पृ० २३१

२ फर्कुहर पृ० २२६

देखा कि सब भ्रष्ट हो गए हैं। महात्माओ के आश्रम, तीर्थ और नदियो पर यवनो का अधिकार है और उन दुष्टो ने देवालयो को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। कलियुग मे समस्त देशवासी रंधे हुए अन्न को बेचने वाले, ब्राह्मण लोग वेद बेचने वाले तथा स्त्रियां वेश्यावृत्ति से निर्वाह करने वाली हो गई।[1] अन्त मे बेचारे नारद यमुना के किनारे गये जहां उन्हें एक चिन्तित स्त्री मिली, उसके पास दो वृद्ध पुरुष अचेत अवस्था मे पडे हुए थे, नारद के पूछने पर स्त्री ने कहा, कि मैं भक्ति हूँ, ज्ञान व वैराग्य ये दो मेरे पुत्र हैं जो काल से जर्जर हो गये हैं।[2] मैं द्रविड देश मे उत्पन्न होकर कर्नाटक मे बढ़ी और फिर महाराष्ट्र में कुछ-कुछ क्षीण होती गई, गुजरात मे सर्वथा जराग्रस्त हो गई, मैं वृन्दावन मे आकर पूर्ण नवयुवती हो गई हूं—

उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।[3]

नारद से पूछा गया कि ज्ञान व वैराग्य क्यो वृद्ध हो गये और इन दोनो की माता होकर भी भक्ति क्यो तरुणी हो गई ? तो नारदजी ने उत्तर दिया कि कलिकाल मे केशव की भक्ति से अधिक लाभ होता है, योग, तप, ज्ञान आदि से नही।

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात्॥[4]

स्पष्ट ही भागवत का उक्त महात्म्य खण्ड परवर्ती है तथापि उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणो मे धर्म को अत्यधिक सरल बनाने की प्रवृत्ति है।

सरलता के साथ-साथ साधना को आकर्षक रूप देने का भी सवाल आया सो तन्त्रो की आकर्षक साधना से प्रेरित होकर ही भागवत पुराण ने गोपी-कृष्ण लीला को अत्यधिक शृंगारिक रूप दिया और जिस तरह शाक्त साधक योनिचक्र पर ध्यान केन्द्रित करके मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे उसी

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण, महात्म्य श्लोक–३४-३६
२ वही श्लोक ४५
३ वही श्लोक ४८
४ वही श्लोक ६८

तरह यहाँ भी गोपी-कृष्ण की मदनोन्मत्त लीलाओं का ध्यान किया जाने लगा। योग व भोग का विरोध इस प्रकार मिटा दिया गया, अब पापी से पापी और लम्पट से लम्पट व्यक्ति को भी इस साधना मे आनन्द आने लगा, क्योंकि कृष्ण को लम्पट के रूप मे ही चित्रित किया गया था, राम-भक्त अब कृष्ण का स्थान लेने लगे। गीत, नृत्य, वादन मे तत्पर कृष्ण गोपियों के साथ छेड़छाड़ करते हुए चित्रित किये गये। जो काम चक्रसाधक गुप्त रह कर करते थे, जिसमें कुछ लोगों को ही अधिकार दिया जाता था, वही कार्य सरेआम जनता के सम्मुख प्रदर्शित किया जाने लगा। फलत: यहाँ साधना मे आकर्षण का प्रवेश हुआ, वहां साथ ही एक खतरा भी उत्पन्न हो गया। तांत्रिक साधना की तरह इस कामकेलि प्रधान भक्ति साधना में भी पतन का भय उपस्थित होगया, राम और कृष्ण दोनो सम्प्रदायों मे सखीसम्प्रदाय के रूप मे शाक्त प्रभाव बढ़ता ही गया, कतिपय विरक्त जन ही सखी-सम्प्रदाय के उच्च भावस्तर का निर्वाह कर सके। सामान्य जनता तो मूर्ति-पूजा, कीर्तन आदि तक ही सन्तुष्ट हो गई किन्तु मन्दिर व मठ दुराचार के अड्डे बनने लगे। बेचारे नारद के भक्ति प्रचार का उद्देश्य तो यह था कि मनोरंजक भक्ति द्वारा उसके पुत्र ज्ञान व वैराग्य का भी उद्धार होगा।[1] और यह एक सीमा तक हुआ भी, जब तक आचार्यों का प्रभाव पवित्र रहा तब तक भगवान की शृंगारिक लीलाओं का कुप्रभाव उतना सामने नहीं आया किन्तु गुरुओं के पतन से सर्वनाश उपस्थित होने लगा।

भागवतपुराण ने निम्नलिखित अश्लील ध्यानों का भी विधान किया, फलत: जहाँ ललित काव्यकला व संगीत की उन्नति की सम्भावना हुई, वहीं संयम के निर्वाह का भी प्रश्न उपस्थित हो गया—

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातै

---

१ भक्तिज्ञानविरागाणां तद्घोषेण बलं महत्।
ऐधिष्यति द्वयो कष्टं सुखं भवतेर्भविष्यति–भागवतपुराण, महात्म्यखंड-२, श्लोक—६१
अर्थात् भागवत के शब्द-श्रवण से भक्ति ज्ञान व वैराग्य को महान बल प्राप्त होगा, इससे ज्ञान व वैराग्य का दुःख दूर हो जायगा।

क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणाम् त्तम्भयन्
रतिपतिरप्रयांचकार ।[1]

अर्थात् हाथ फैलाना, आलिगन करना, कर, अलक, जंघा, कटि-वस्त्र के बन्धन और स्तन आदि का स्पर्श करना, परिहास करना, नखक्षत करना, विनोदपूर्ण चितवन से निहारना और मुस्कराना आदि उपायो से व्रज-बालाओ का कामरस उद्दीप्त करते हुए भगवान कृष्ण उनके साथ रमण करने लगे।

इस प्रकार के काव्य को, साधनात्मक काव्य के रूप मे एक परम्परा ही चल पडी। जयदेव के गीतगोविन्द के बाद भगवान के शृंगार का वर्णन ही कृष्ण-भक्त आचार्यों और कवियो का ध्येय हो गया। ये आचार्य और कवि भगवान के रसरूप को मानकर चले, भूभारहारी भगवान का रूप महत्वहीन हो गया।

उक्त प्रकार का काव्य संस्कृत के शृंगारिक काव्यो में भी मिलता है किन्तु उसे साधनात्मक रूप नही मिल पाया था, कामभाव को साधना के रूप मे तन्त्रो ने ही स्वीकार किया था, भागवतपुराण मे इसी विशिष्ट साधना को स्वीकार किया गया था, इसलिए राम और कृष्ण भक्तो मे "मानसी ध्यान" के रूप मे भगवान की कामकेलि को स्वीकार कर लिया गया। हम कह चुके हैं कि इस युग मे निगमागम का विरोध मिट चुका था। नीरस हठयोगियो की निन्दा कृष्णभक्तो ने अवश्य की है, साथ ही शुष्क, तर्कशास्त्री वेदान्तियो की भी निन्दा की गई क्योकि इन साधको को मनोहर रतिक्रीडा का स्मरण पसन्द न था। किन्तु इस मनोहर साधना का प्रभाव, इस साधना की सरलता और कलाप्रियता के कारण बहुत बढ गया। सामन्तो से लेकर जन-सामान्य तक सभी इसकी ओर आकर्षित हुए। आचार्य वल्लभ इस साधना के खतरे से परिचित थे, अत: उन्होने केवल अन्तिम सोपान के रूप मे ही "कृष्ण-रति" को स्वीकार किया है। अन्यथा उन्होने कृष्ण की बाल लीलाओ का अधिक प्रचार किया है।

नारद ने भक्ति के साथ ज्ञान व वैराग्य को जाग्रत करने की जो बात कही है, वह बडी महत्वपूर्ण है, आचार्यों ने ब्रह्म के "महात्म्यज्ञान" को स्मरण रखने पर बहुत बल दिया है, अर्थात् यह मत भूलो, कि यह भगवान की लीला है। यह लीला ब्रह्माड के भीतर शाश्वत सृष्टि और शृगार का ही बाह्य रूप है।

---

१ श्रीमद्भागवत०, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध अध्याय २६

नारद और वल्लभ का यह उद्देश्य था कि चित्तवृत्ति उच्च रहने पर ही इस शृंगारिक लीला के तात्त्विक रूप की रक्षा की जा सकती है। रीतिकाल में शृंगारिक रचनाएँ यथावत् मिलती हैं किन्तु भक्तिकाल के कवियों में जो ज्ञान और वैराग्य था, वह रीतिकाल के कवियों में न मिलने के कारण साधना का स्वरूप सुरक्षित नहीं रह सका।

श्रीमद्भागवत और वेदान्त—फर्कुहर ने लक्ष्य किया है कि एक ओर तो भागवत में ललित और अश्लील दृश्यों की वृद्धि होती है और दूसरी ओर शांकरवेदान्त का प्रभाव बढ़ता दिखाई पड़ता है।[1] इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि उद्धव गोपियों को जिस ज्ञान का उपदेश देते हैं, वह शांकरवेदान्त ही है।

भागवत पुराण में उद्धव के ज्ञान का विरोध नहीं होता, यह स्मरणीय है किन्तु सूरदास उद्धव के ज्ञान का विरोध करते हैं। तात्पर्य यह है कि भागवत पर तन्त्रों का ही केवल प्रभाव नहीं है अपितु शांकरवेदान्त का भी प्रभाव है और आगे चलकर 'तुलसीदास' में भक्ति व शांकरवेदान्त एक साथ मिलते हैं, यद्यपि तुलसीदास शक्तिवाद को भी स्वीकार करते हैं। 'अध्यात्म रामायण' में भी शांकर वेदान्त व भक्ति में अविरोध स्थापित किया गया है।

श्रीमद्भागवत एक ऐसा पुराण है जिसमें अपने से पूर्व सभी मतों व साधनाओं में अविरोध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ कपिल-मुनि केवल सांख्याचार्य ही नहीं हैं अपितु वह भक्ति और भगवान के विषय में भी उपदेश देते हैं।[2] रुद्र, विष्णु और कृष्ण की पूर्ण एकता 'रुद्रगीत' में ग्रहण की गई है।[3] बौद्धमत का मर्म "भवाटवी" में ग्रहण कर लिया गया है।[4] नारायणकवच में मन्त्रशास्त्र को यथावत् स्वीकार कर लिया गया है। इसमें शरीर पर वर्णों का न्यास, विष्णु के रूप का ध्यान तथा अभिचारादि क्रियाओं का भी वर्णन है।[5] अवधूतोपाख्यान में संन्यासमार्ग की प्रशंसा भी की गई है।[6] तात्पर्य यह है कि श्रीमद्भागवत में सभी दृष्टियों और साधनाओं

१ फर्कुहर, पृ० २३१

२ भागवतपुराण, स्कन्ध ३, अध्याय २५, २६

३ वही, स्कन्ध ४, अध्याय २४

४ वही, स्कन्ध ५, अध्याय १३

५ वही, स्कन्ध ६, अध्याय ८

६ वही, स्कन्ध ११, अध्याय ७

की स्वीकृति है, जबकि कृष्ण-भक्तो ने मायावाद व हठयोग का विरोध किया है। तुलसीदास मे समन्वय की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पडती है। उन्होने निगम और आगम के द्वन्द्व को सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया था, केवल वामाचार के प्रति सभी साधको ने घृणा प्रकट की थी। ऐसी साधनाओ को महादेव के साथ बहुत प्रारम्भ मे ही सम्बन्धित कर दिया गया था। तुलसीदास ने शिवजी की "बरात" के वर्णन मे इन साधनाओ की ओर सकेत किया है।

तुलसीदास ने समन्वय की प्रवृत्ति दिखाकर भी वर्णाश्रम विरोधी सन्त-कवियो और हठयोगियो की निन्दा की है। इसी प्रकार ब्राह्मण विरोधियो से भी वह घृणा करते थे, किन्तु भक्ति के क्षेत्र मे तुलसीदास सबको अधिकार देते हैं।

इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदायो मे अपने से पूर्व के सिद्धान्तो मे साख्य को सभी सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। योग को राम-भक्तो ने स्वीकार किया है। कृष्णभक्तो मे तंत्र की आनन्दवादी परम्परा का प्रवाह अधिक तीव्र गति से प्रभावित हुआ है।

बुद्ध, विष्णु, शिव, राम और कृष्ण—वैष्णवो के विष्णु तथा उनके अवतार राम व कृष्ण के व्यक्तित्व-निर्माण मे गौतम बुद्ध का अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य रहा है। गौतमबुद्ध का महायान-साधना मे लोकसग्रही रूप मिलता है। उनकी प्रतिज्ञा है कि सारे जगत् का उद्धार करके ही वह विराम लेंगे। अवलोकितेश्वर आज तक सभी जीवो की मुक्ति की प्रतीक्षा कर रहे हैं। राम और कृष्ण ने भी पतित-पावन का विरुद धारण किया है। वज्रयान मे बुद्ध के भोगवादी रूप का प्रभाव कृष्ण के "गोपीरमण' मे दिखाई पडता है। तुलसीदास ने देवताओ को स्वार्थी और राम को लोकउद्धारक और दीनदयालु के रूप मे चित्रित किया है। यह सही है कि तुलसीदास ने वाल्मीकि रामायण और पुराणो से राम के व्यक्तित्व के लिए उपादान एकत्र किए हैं परन्तु उक्त ग्रन्थो पर बौद्ध प्रभाव एक सीमा तक अवश्य दिखाई पडता है।

डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का तो यहाँ तक कथन है कि पुराणो के उपदेशो का प्रत्येक अक्षर पुराणो से पूर्ववर्ती बौद्ध साहित्य मे मिलता है। जातक और अवदान की अनेक कथाएँ पुराणो मे मिलती हैं।[1] शिव के ध्यानी रूप

---

1 फिलोसफीकल एसेज़, पृ० २७०

का जो रामचरितमानस में वर्णन मिलता है उस पर ध्यानीबुद्धों का प्रभाव देखा जा सकता है। मोनियर विलियम्स के अनुसार तो वैष्णवों ने बौद्धधर्म की सभी अच्छी बातें स्वीकार कर ली थीं। देवताओं के अवतार की कल्पना भी उनके अनुसार बौद्धमत से ही ली गई है।[1] स्वयं बुद्ध को ही पुराणों ने अपना लिया है। पुरी के जगन्नाथ बुद्ध हैं, इसीलिए वहाँ जाति-पाँति नहीं मानी जाती। तांत्रिक बौद्धमत के पंचरक्षा-मंडल का प्रभाव पंचायतन-पूजा पर दिखाई पड़ता है।

तांत्रिक देवपूजा तथा राम-कृष्ण का व्यक्तित्व—हम कह चुके हैं कि सभी तंत्रों में देवता के रूप, वेष, अस्त्र, शस्त्र, शक्ति, वाहन आदि का वर्णन किया गया है। साधक इनका ध्यान कर सकें, इसीलिए यह विधान किया गया है। वे स्तोत्रों या कवचों में देवताओं की विह्वल होकर प्रशंसा करते हैं, उनका महात्म्य गायन करते हैं। श्रीमद्भागवत के नारायणकवच में नारायण देवता का विवरण इसी तांत्रिक पद्धति पर किया गया है। विनयपत्रिका व सूरसागर आदि में राम, कृष्ण, गणेश, देवी, शिव आदि के रूप का वर्णन तांत्रिक पद्धति पर ही मिलता है। काव्य की दृष्टि से ऐसे वर्णन अन्यत्र भी मिलते हैं परन्तु यह स्मरणीय है कि सूरसागर, विनयपत्रिका आदि काव्य साधनात्मक काव्य भी हैं। सन्तकवियों में देवता के ऐसे वर्णन नहीं मिलते क्योंकि वे निराकारवादी थे। किन्तु वैष्णव साधना में इष्टदेव के रूप व लीला का ध्यान ही प्रमुख होने के कारण देवताओं और उनकी शक्ति के सौन्दर्य-विवरण प्रस्तुत करने में वैष्णव कवि अधिक रुचि लेते हैं।

परवर्ती उपनिषदों में वैष्णव उपनिषदों का वैष्णव सम्प्रदायों में बड़ा सम्मान है। इन उपनिषदों में देवता का स्वरूप तांत्रिक पद्धति पर ही गृहीत हुआ है। 'अव्यक्तोपनिषद' में नृसिंह भगवान, गरुडोपनिषद् में गरुडदेवता व त्रिपादभूतिमहानारायण उपनिषद में विष्णु की शक्ति का तांत्रिक पद्धति पर ही वर्णन मिलता है। कलिसंतरणोपनिषद में देवता के नामोच्चारमात्र से ही मुक्ति सम्भव बताई गई है। कृष्णोपनिषद में कहा गया है कि राम को देखकर मुनियों के मन में कामेच्छा उत्पन्न हुई तब राम ने कहा कि कृष्णावतार में गोपी बनकर तुम मेरे साथ विहार करना।

भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिकाभूत्वा मामालिंगथ।

गोपालतापिनी उपनिषद में मंत्र, बीज, यंत्र और कवच आदि का विधान

---

[1] बुद्धिज्म, सर मोनियर विलियम्स, लंदन, १८८६ ई० पृ० १६५

किया गया है। गोपालउत्तरतापिनी उपनिषद मे दुराचारी कृष्ण को ब्रह्मचारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।[1] नृसिंहतापिनी उपनिषद मे काम की महिमा गाई गई है। रामतापिनीउपनिषद मे स्पष्ट कहा गया है कि देवता के रूप की कल्पना साधना के लिए आवश्यक है।[2] इस रूप-कल्पना के साथ-साथ मंत्र, जप, यंत्र और पूजा का भी उल्लेख किया गया है।

साराश यह है कि राम और कृष्ण का वैष्णव कविता में वर्णित रूप और व्यक्तित्व पर तान्त्रिक प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है। शुद्ध कवित्व की दृष्टि से देखने पर वह मनोहर कल्पना प्रतीत होती है, किन्तु इस कल्पना विशेष के पीछे तान्त्रिक साधना पद्धति काम कर रही थी, इसीलिए साधक व सहृदय दोनों एक साथ संतुष्ट हो सके।

युगल उपासना—संस्कृत साहित्य मे शैव प्रभाव के कारण जो स्थान शिव व शक्ति का था, वही स्थान वैष्णव कविता मे राधा-कृष्ण व सीता-राम को मिला है। राधा के अभाव मे गोपियां शक्ति का स्थान ग्रहण करती हैं। राम मे महादेव का रुद्र रूप तथा कृष्ण मे उनका आनन्दवादी रूप मिलता है। कामेश्वर व कामेश्वरी का दूसरा नाम ही कृष्ण और राधा है।

सम्पूर्ण वैष्णव कवि उस युगल उपासना के प्रचारक हैं जिसका विस्तार हिन्दू व बौद्ध तंत्रो मे मिलता है। तंत्रों की ही तरह राम की शक्ति 'सीता' सृष्टि व प्रलयकारिणी है। राधा को प्रकृति व कृष्ण को पुरुष कहा गया है। तुलसी ने मर्यादावादी होने के कारण युगलरति पर बल नही दिया किन्तु कृष्णभक्तो ने तंत्रों के इस पक्ष को भी स्वीकार किया है। राधा-कृष्ण की रति का ध्यान ही कृष्ण-सम्प्रदाय मे साधना का मुख्य विषय मान लिया गया और इस साधना को मर्यादावादी साधना मे अधिक महत्व दिया गया। तान्त्रिकों की ही तरह कृष्ण-भक्तो ने युगलरति को प्रतीकात्मक अर्थ मे भी स्वीकार किया है। वल्लभ सम्प्रदाय मे गोपीभाव धारण कर कृष्ण के साथ कामक्रीड़ा की महत्वाकाक्षा प्रत्येक साधक मे दिखाई पड़ती है। निश्चित रूप से यह एक प्रकार का रहस्यवाद है

---

१ द्रष्टव्य—वैष्णवोपनिषत् मे संकलित उपर्युक्त उपनिषदें, महादेव शास्त्री, अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, द्वितीय संस्करण, १९५३

२ चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्या शरीरिणः
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना—द्रष्टव्य—वैष्णवोपनिषत्

जिसका आदि स्रोत तान्त्रिक परम्पराएं हैं। क्योंकि काम-वासना पर विजय प्राप्त करने के लिए कामरति के ध्यान को यहाँ अनिवार्य माना गया है।

भारतीय दर्शन व साधना में दो मुख्य धाराएं दिखाई पड़ती हैं—प्रथम वह धारा जो मनोवैज्ञानिक अनुभवों का नाश करके आध्यात्मिक अनुभवों की प्राप्ति में विश्वास करती है। अधिकतर भारतीय दार्शनिक मन व इन्द्रियों के अनुभवों को अज्ञान के सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट करते रहे हैं। इनके शमन के लिए नाना कष्टकर उपायों की कल्पनाएं इसीलिए हुई हैं। दिगम्बर जैनमत में कच्छाचार अपनी परम सीमा पर पहुँचता हुआ दिखाई पड़ता है, स्वयं बौद्धों के यहाँ आचार की पर्याप्त कठोरता विद्यमान थी। ब्राह्मण परम्परा में संन्यासी, तपस्वी व योगी भी राग-शमन के विश्वासी रहे हैं। दूसरी धारा, इसके विपरीत, तान्त्रिक परम्पराओं में दिखाई पड़ती है जिनमें आध्यात्मिक और मानसिक अनुभवों में अविरोध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। वैष्णवों की साधना इसी परम्परा में विकसित हुई है क्योंकि इसमें मानसिक अनुभवों को साधन बनाया गया है। इसीलिए तान्त्रिक परम्पराएँ अब तक वैष्णवों को अपने शिविर में ही प्रतिष्ठित करती हैं। (चैतन्य के विषय में कहा गया है कि वह प्रेम के पैगम्बर थे और क्योंकि वासनाओं के उदात्तीकरण के लिए उनका जन्म हुआ था, इसलिए वह तन्त्राचारी थे।[1])

मानवीय रागात्मक जीवन की रक्षा के लिए ही तंत्रों ने युगलउपासना का आविष्कार किया था। यह निश्चित नहीं है कि तन्त्रों में बौद्ध तंत्रों ने इसे सर्व प्रथम प्रचलित किया अथवा शैव तन्त्रों ने। किन्तु यह निश्चित है कि वज्रयानी बौद्धों की युगनद्ध उपासना की अधिकता का प्रभाव शक्ति-सहित हिन्दू देवताओं की उपासना पर अवश्य पड़ा है। यह ठीक ही कहा गया है कि 'यबयुम' देवताओं की उपासना सर्वप्रथम वज्रयान में ही विकसित हुई थी। हिन्दू, वज्रयान के पूर्व इससे प्रायः अपरिचित ही थे। आज तक भी शक्ति-सहित उपासना हिन्दू-विचारधारा व हिन्दू परम्पराओं में यह उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। (हिन्दुओं ने काली देवी को 'विपरीतरतातुरा' के रूप में प्रस्तुत

---

१ चैतन्य वाज़.... ए प्रोफेट आफ लव, एज ए तन्त्राचारिन्, हि केम टू एक्ज़ल्ट एण्ड कान्सीक्रेट पैशन, नोट टू डेस्ट्रोय इट—
—इंटरनेशनल जर्नल ऑफ तान्त्रिक आर्डर, अमेरिका, जिल्द ५, नं० १, पृ० ४३

किया है, इस पर भी बौद्ध प्रभाव दिखाई पड़ता है। वैष्णवों की राधा भी काली ही की तरह 'विपरीतरतातुरा' के रूप में ही चित्रित की गई है। अतः वैष्णवों की मधुर लीला पर बौद्ध तन्त्रों का प्रभाव स्वीकृत करना पड़ता है।

राम सम्प्रदाय पर भी अग्रदास के समय में तान्त्रिक प्रभाव बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है। रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय तो तुलसीदास की भी सखी भाव से सम्बन्धित ही व्याख्या करता है। रामचरितमानस के टीकाकार रामचरण दास ने प्रेरणा-स्रोत के रूप में कई तंत्रों का उल्लेख किया है।[1] ब्रह्मयामल तंत्र, अगस्त्यसंहिता आदि में राम का शृंगारिक रूप वर्णित है। अग्रदास ने तंत्रों से प्रेरणा लेकर रामभक्ति में भी युगलरति की उपासना प्रचलित की और इस प्रकार आज जो राम-सम्प्रदाय का काव्य मिलता है उसमें अधिकांश पर तान्त्रिक प्रभाव दिखाई पड़ता है।

गोपीनाथ कविराज के अनुसार दो प्रकार के भक्त हुए हैं—एक वे जो केवल भक्ति को भाव रूप से पहिचानते हैं और दूसरे वे जो रस रूप से उसका साक्षात्कार करते हैं'''जिनका उद्देश्य भगवतधाम में प्रविष्ट हो कर श्रीभगवान की अंतरंग सेवा में अधिकार लाभ करना है। उनके लिए वैराग्य श्रेयस्कर होने पर भी अधिक उपयुक्त रागमार्ग ही है।[2]

यह रागमार्ग सर्व प्रथम तंत्रों में ही विकसित हुआ था, उसी का एक नवीन रूप वैष्णव साधना है जिसे भक्तकवियों ने वाणी दी है।

वैष्णव काव्य विवरण—यहाँ पर केवल इस प्रबन्ध से सम्बन्धित मुख्य कवियों की रचनाओं का विवरण दिया जा रहा है—

कृष्ण-काव्य—अष्टछाप—

१. सूरदास—जन्म संवत् १५४०, मृत्यु संवत् १६४२, जाति-ब्राह्मण, रचनाएँ-सूरसागर सूरसारावली, साहित्य लहरी।

२. नन्ददास—जन्म तिथि अनिश्चित, जाति-ब्राह्मण। नंददास ग्रंथावली में संकलित रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत, रूपमंजरी, विरहमंजरी, आदि।

३. कृष्णदास—जन्म संवत् १६००, रचनाएं—भ्रमरगीत, प्रेमतत्व निरूपण, जुगल मान चरित्र।

---

१ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डा० भगवती सिंह, पृ० ६० बलरामपुर, जि० गोंडा, संवत् २०१४ वि०

२ वही, भूमिका भाग

४. परमानन्ददास—जन्म संवत् १५५०, जाति-ब्राह्मण, रचनाएँ-परमानन्द सागर में संकलित पद।

५. चतुर्भुजदास—कुम्भनदास जी के पुत्र, जाति क्षत्रिय, रचनाएँ-स्फुट पद।

६. छीतस्वामी—संवत् १६१२, जाति ब्राह्मण, रचनाएँ-स्फुट पद।

७. गोविन्दस्वामी—कविताकाल संवत् १६१२, जाति-ब्राह्मण, रचनाएँ-स्फुट पद।

८. कुम्भनदास—कविताकाल संवत् १६०७, जाति-क्षत्रिय, रचनाएँ-स्फुट-पद।

राधावल्लभ सम्प्रदाय—

९. हितहरिवंश—विक्रम की १६ वीं शताब्दी, जाति ब्राह्मण, रचनाएँ-हितचौरासी (पद संग्रह)

१० हरिराम व्यास—संवत् १६२२ (प्राविर्भाव काल), हितहरिवंश के शिष्य, भक्तकवि व्यास नामक सग्रह में संकलित पद।

११. ध्रुवदास—कविता काल १६८२, रचनाएँ-बानी, सिद्धान्त, विचार, नामावली आदि।

निम्बार्क सम्प्रदाय—

१२. श्रीभट्ट— आविर्भावकाल-सम्प्रदाय के अनुसार १३-१४ वीं शताब्दी, ब्रजमाधुरीसार के अनुसार विक्रम की १६ वीं शताब्दी। ग्रन्थ-युगलशतक जाति-ब्राह्मण,

१३. श्री हरिव्यासदेवाचार्य—सम्प्रदायानुसार, गौड़ ब्राह्मण, समय-सम्प्रदाय के अनुसार १४ वीं शताब्दी। हिन्दी में रचना-महावाणी।

१४. परशुरामदेव—१६ वीं शताब्दी, हरिव्यास के शिष्य, ब्राह्मण, ग्रन्थ परशुराम सागर।

१५. रूपरसिकदेव—दक्षिणी ब्राह्मण, ग्रन्थ-वृहदोत्सवमणिमाल, हरिव्यास-यशामृत, तथा नित्यविहार पदावली।

१६. तत्ववेत्ता—१६ वीं शताब्दी, ब्राह्मण, "हस्तलिखित पदों का सग्रह।"

१७. वृन्दावनदेव—१७-१८ वीं शताब्दी। ब्राह्मण, स्फुट पद।

१८. गोविन्ददेव—१७ वी शताब्दी । युगलरसमाधुरी ।

१९. गोविन्दशरणदेव—१७-१८ वी शताब्दी, स्फुट पद ।

टट्टी सम्प्रदाय—

२०. हरिदास—आविर्भाव काल सवत् १६१७, रचनाएँ-स्फुट पद, जाति-ब्राह्मण, निम्बार्क मतावलम्बी आशुधीर के शिष्य। परम्परानुसार जन्म सवत् १५७० ।

२१. विट्ठल बिपुल—विक्रम की १६ वी शताब्दी (परम्परानुसार), रचनाएँ-स्फुट पद ।

२२. बिहारीदास—विक्रम की १६वी शताब्दी मे जन्म, रचनाएँ-स्फुट पद ।

२३. नागरीदास—विक्रम की १७ वी शताब्दी मे आविर्भाव, रचनाएँ-स्फुट पद ।

२४. ललितकिशोरी—जन्म सवत् १७३३ (परम्परानुसार) रचनाएँ-स्फुट पद ।[1]

२५. सरसदेव—नागरीदास के भाई, स्फुट वाणी ।

२६. नरहरिदेव—स्फुट वाणी ।

२७. रसिकदेव—१७ वी शताब्दी, स्फुट वाणी ।

२८. ललित मोहिनी देव—स्फुट वाणी ।

गौडीय-वैष्णव कवि—

२९. दक्षिणी ब्राह्मण—चैतन्य के समकालीन, स्फुट वाणी ।

३०. माधुरी जी—विक्रम की १७ वी शताब्दी रूप गोस्वामी के शिष्य, "माधुरी वाणी"

३१. सूरदास मदनमोहन—अकबर के समकालीन, ब्राह्मण, स्फुट वाणी ।

विशेष—वल्लभ रसिक, विश्वनाथ चक्रवर्ती, नारायण भट्ट, ब्रह्मगोपाल वैष्णवदास, रामराय आदि गौडीय सम्प्रदाय के भक्तकवियो की वाणियाँ और अन्य कृतियाँ श्री माध्व गौडेश्वर ग्रन्थ माला, मथुरा से प्रकाशित हुई हैं ।

विशेष कवि—मीरा-पदावली—

---

१. द्रष्टव्य हरिदासवशानुचरित्र, नवनीत चतुर्वेदी, प्रथम सस्करण सन् १९१०, इटावा ।

रामतत्प्रभाव—

१. तुलसीदास—विक्रम की १७ वीं शताब्दी, जाति ब्राह्मण, रचनाएँ-रामचरित मानस, दोहावली, कृष्णगीतावली, विनय-पत्रिका, कवितावली, आदि।

२. केशवदास—विक्रम की १७ वीं शताब्दी, जाति ब्राह्मण, रचनाएँ-रामचंद्रिका, रसिक प्रिया, कविप्रिया आदि।

३. अग्रदास—आविर्भाव काल संवत् १६३२, हितोपदेश उपाख्यान बावनी, तथा ध्यानमंजरी।

४. नाभादास—आविर्भाव संवत् १६५७, जाति-डोम, ग्रंथ-भक्तमाल।

५. हृदयराम—संवत् १६८० आविर्भावकाल, रचनाएँ-हनुमन्नाटक।

६. लालदास—संवत् १७००, रचना अवधविलास।

अध्याय षष्ठ

वैष्णव काव्य में तांत्रिक प्रवृतियां

१

वैष्णव काव्य में तांत्रिक प्रवृतियां

कृष्ण काव्य

दर्शन---हिन्दी के कृष्णकाव्य मे आचार्य वल्लभ हितहरिवंश व हरिदास के सम्प्रदायो के कवियो ने ही विशेष रूप से कार्य किया है क्योकि गौडिया वैष्णवों का कृतित्व अधिकतर बंगला भाषा मे है या संस्कृत मे। अत सर्वप्रथम हम आचार्यों की विचारधारा मे प्राप्त तात्रिक तत्वो पर विचार कर लेना उचित समझते हैं, क्योकि इन्ही तत्वो को कवियो ने वाणी दी है।

आचार्य वल्लभ का सिद्धान्त आगमो के सिद्धान्त की तरह अविकृत परिणामवाद कहलाता है। सांख्य और शाकरवेदान्त इन दो अतियो के मध्य अविकृत परिणामवाद ही आगमों को ग्राह्य है। महायानी बौद्धमत व शाकर वेदान्त किसी न किसी रूप म जगत् की सत्ता का अवश्य ही निषेध करते हैं क्योकि जब एक ही सत्ता को सिद्ध करना है तो चैतन्य ही 'सत्' माना जा सकता है और जड जगत् का निषेध अनिवार्य हो जाता है। उधर जगत् को सत् सिद्ध करने के लिए साख्य को दो अलग-अलग सत्ताएँ माननी पडी। इन दो परस्पर विपरीत तत्वों-पुरुष और प्रकृति मे, परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न के समाधान मे साख्य को बडी कठिनाई का सामना करना पडा, अतः शाक्त, शैव तथा पाचरात्र आगमो ने शक्तिवाद को अपनाकर अर्थात् जगत को

ब्रह्म की शक्ति का विस्तार मानकर इस कठिनाई को दूर कर लिया था। शक्तिवाद के अनुसार चैतन्य स्वशक्ति से जगत् के रूप में परिणत होकर भी 'अविकृत' ही माना जाता है, यही दृष्टि वैष्णवों द्वारा भी स्वीकृत हुई। इसी शक्तिवाद के द्वारा शंकर के मायावाद का विरोध किया गया था। चूंकि यामुनाचार्य और रामानुज के प्रयत्न से पांचरात्र आगमों को वैदिक मान लिया गया था, अतः वल्लभ को उनका दृष्टिकोण अपनाने में कोई कठिनाई नहीं थी।

वल्लभ ने पुराण और परवर्ती उपनिषदों को भी प्रमाण माना है और पुराणों में आगममूलक सिद्धान्त भी स्वीकृत है।

वल्लभ ने ब्रह्म को सर्वशक्तिमान और विरुद्धधर्माश्रयी माना है। सत्ता को विरुद्धधर्माश्रयी मान लेने से दर्शन विषयक सारी कठिनाइयाँ ही समाप्त हो जाती हैं। मूल प्रश्न यह था और है कि जब ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है तो उससे जड़ तत्व कैसे निःसृत हुआ? क्योंकि चेतन तत्व को शुद्ध कहना और फिर उसमें जड़ तत्व की स्थिति मान लेना 'वदतोव्याघात' है। शंकराचार्य ने इसीलिए जगत् को प्रपंच कहा था क्योंकि यदि जगत् को भी सत् तत्व माना जाय तो या तो सांख्य की तरह ब्रह्म और प्रकृति दो सत्ताएं माननी होंगी, अथवा जड़वाद का आश्रय लेना होगा, जिसके अनुसार चेतना को जड़ तत्व का ही विकास, परिणाम या रूपान्तर मानना होगा। ये दोनों स्थितियाँ शंकर को इष्ट नहीं थी अतः उन्होंने दृढ़ता से एक चैतन्य को ही सत् तत्व माना और जगत् को अज्ञानजन्य भ्रांति।

शंकर के पश्चात्, उनके द्वारा निरूपित 'माया' और ब्रह्म के सम्बन्ध पर पुनः विवाद उपस्थित हुआ। आगमों ने एक स्वर से ब्रह्म को सर्वशक्तिमान मानकर यह सिद्ध किया कि ब्रह्म अपनी शक्ति से जगत् के रूप में परिणत होकर भी विकार रहित रह सकता है। आचार्य वल्लभ ने भी ब्रह्म में आविर्भाव और तिरोभाव-शक्ति की स्थिति मानकर ब्रह्म की सामर्थ्य से ही सारा कार्य लिया।

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता से जगत् की रचना में समर्थ है।[1] अतः ब्रह्म ही स्वयं 'समवायिकारण' है[2] अर्थात् जगत्

---

१ तस्मात् सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्वच सिद्ध जगत्कर्तृत्वेन-अणुभाष्य, पृ० १४ सम्पादक हेमचन्द्र विद्यारत्न, एसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता, १८९७ ई०

२ तत् ब्रह्मैव समवायिकारणम् वही, पृ० १६

की रचना के लिए उसे बाह्य उपादान की आवश्यकता नहीं है। यदि कहो कि ब्रह्म अपने को ही समवायिकारण बनाकर नानात्व क्यों धारण करता है तो इसका उत्तर यह है कि नानात्व ऐच्छिक है।[१] अर्थात् ब्रह्म स्वेच्छा से ही जगत् व जीव का रूप धारण करता है।

इस इच्छा-सिद्धान्त का पल्लवन आगमो व पुराणो में विशेष रूप से हुआ है। सम्पूर्ण प्रमाणों से अतीत होने पर भी ब्रह्म इच्छा करता है क्योंकि वह लोकसृष्टि द्वारा व्यवहार्य होना चाहता है।[२] भगवान क्रीड़ा की इच्छा पूर्ण करने के लिए ही जगत के रूप मे आविर्भूत होता है।[3] इसीलिए वल्लभ ने ब्रह्म के क्रीड़ाशील रूप को अधिक महत्व दिया है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म सभी लोको मे 'कामचारी' होता है।[४] और क्योंकि काम चेतन का धर्म है,[५] अतः ब्रह्म को आनन्दमय कहना तर्क विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार वल्लभ पर आगमो की आनन्दवादी परम्परा का प्रभाव दिखाई पडता है। उन्होंने ब्रह्म के आनन्दमय रूप पर इतना बल दिया है कि लीलारहित निर्गुण ब्रह्म या अक्षर मे आनन्द का ईषत् तिरोभाव[६] मानकर उसे सगुण ब्रह्म से कम महत्व दिया है। तंत्रो से यहाँ वल्लभ इस बात मे भिन्न प्रतीत होते हैं कि तंत्रो मे एक स्वर से निर्गुण ब्रह्म को अधिक महत्व दिया है। यद्यपि सगुण ब्रह्म अर्थात् शक्तिमान की लीलाओं का तत्र भी वर्णन करते हैं।

वल्लभ ने पुरुषोत्तमपद गीता से लिया है, तथापि पुरुषोत्तम के आनन्दमय रमण की अधिकता पर भागवतपुराण के माध्यम से तंत्रो का प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि कृष्णभक्तों की मधुराभक्ति गीता की कर्मठता से रहित है। श्री मद्भागवत के दशम स्कन्ध की लीलाओ द्वारा वल्लभ को गीता के

---

१ नानात्वं त्वैच्छिकमेव, वही, पृ० १६

२ सर्वव्यवहार प्रामाणातीतोपि ईक्षाचक्रे लोक सृष्टि द्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीति—वही, पृ० २२, २३

३ भगवान् स्वक्रीडार्थमेव जगद्रूपेणाविर्भूय क्रीड़तीति—वही, पृ० २८

४ आत्मरतिरात्मक्रीड़, आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीति वही, पृ० ३३

५ सकामश्चेतनधर्मः वही, पृ० ४४

६ पुरुषस्य ब्रह्मत्वं निःसंदिग्धमेव ईषदानन्द तिरोभावेन ब्रह्माक्षरमुच्यते अणुभाष्य, पृ० ७७

विष्णु को रसरूप कृष्ण में बदलने में बड़ी सुविधा होगई थी। ब्रह्म या विष्णु रूप वेद मर्यादा की रक्षा तथा सात्त्विक धर्म के संस्थापन के लिए समय-समय पर अवतार लेता है, वह चतुर्व्यूहात्मक है, किन्तु संसार को केवल आनन्द देने के लिए जो अवतार होता है, वह भगवान का रसरूप है। कृष्णावतार में श्रीकृष्ण ने अपने दोनों रूपों में अवतार लिया था।[१] साराश यह है कि वल्लभ ने रसमय ब्रह्म पर अधिक बल दिया है। और आगमों के आधार पर ऐसे गोलोक की कल्पना की है जहाँ भगवान का मुक्तजीवों और अपनी शक्तियों के साथ 'नित्य विहार' चलता रहता है। यह स्मरणीय है कि पांचरात्र आगमों में प्रतिपादित वैकुण्ठ में जो लीलाएँ होती हैं, उनमें कामकेलि का वर्णन कम मिलता है, जबकि वल्लभ के गोलोक में रतिक्रीड़ाओं की मात्रा बढ़ती दिखाई पड़ती है।

निम्बार्कमत में भी शक्तिवाद को स्वीकार किया गया है। इस मत में भी ब्रह्म सगुण और अनन्त शक्तिसम्पन्न है। अर्थात् माया से कार्य न लेकर निम्बार्क भी शक्ति से कार्य लेते हैं। ब्रह्म अपनी इच्छा से अपनी शक्तियों के द्वारा, लोकहित के लिए अपने को जगत् के रूप में परिणत करता है।[२] ब्रह्म अशेष गुणों का निधान माना गया है, वह दृश्यमान जगत् में व्याप्त है।[३] सिद्धांत की दृष्टि से यह मत भेदाभेदवाद कहलाता है। ब्रह्म की इच्छा से उसकी शक्ति के कारण ही जगत और ब्रह्म में भेद प्रतीत होने पर भी वस्तुतः अभेद ही रहता है क्योंकि जगत ब्रह्म से शक्तिरूप होने के कारण भिन्न नहीं है।

चैतन्यमत का सम्बन्ध मूलतः मध्वमत के द्वैतवाद से रहा है, और मध्वमत में भी ब्रह्म को अनन्त गुणों और अनन्त शक्तियों से युक्त माना गया है तथा द्वैतवाद की जगह अचिन्त्यभेदाभेदवाद ही स्वीकृत हुआ है। एक ही पुरुषोत्तम में शक्तिवाद के द्वारा ही एकत्व और पृथक्त्व तथा अंशत्व और

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीन दयालु गुप्त, पृ० ४०४

२ स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्तित्यनुसारेण परिणमयति—भास्कराचार्य, द्रष्टव्य भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३१८

३ यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः—सिद्धांत जाह्नवी, द्रष्टव्य,

अशित्व की स्थिति युक्तियुक्त मानी जा सकती है। इस मत मे भगवान की अचिन्त्य शक्ति के कारण यह प्रपच न तो भगवान के साथ पूर्णतः अभिन्न माना गया है और न पूर्णतः भिन्न। इस मत के अनुसार जो अद्वय ज्ञान है उसी को तत्व कहा गया है।[1] तत्व को ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान भी कहा गया है। इस मत की विशेषता यह है कि ब्रह्म के अन्दर 'शक्ति' का न्यूनतम विकास माना गया है, जबकि भगवान के अन्दर शक्ति का पूर्णतम विकास माना गया है, अत ब्रह्म से भगवान श्रेष्ठ है, ब्रह्म अश व भगवान अशी है। अर्थात ब्रह्म तत्व को भगवान के अन्तर्गत ही माना गया है। भगवान मे वल्लभ की तरह परस्पर विरोधी गुण माने गये है, वह अपनी स्वरूप शक्ति के विलास रूप अद्भुत गुण लीलादि द्वारा भक्तो के चित्त चमत्कृत करते रहते हैं।[2]

राधावल्लभ सम्प्रदाय के एक लेखक ने यह मानने से इन्कार किया है कि उनके सम्प्रदाय के सिद्धान्तो पर शक्तिवाद का प्रभाव है, उनके अनुसार राधावल्लभ सम्प्रदाय भगवान की शक्ति को स्वतत्र नही मानता क्योकि यदि शक्ति को स्वतत्र तत्व माना जाय तो उनके मत से वैष्णव सिद्धान्त व शाक्तमत मे बहुत थोडा अतर रह जाता है, जो अभीष्ट नही हो सकता, अतः उनके अनुसार राधावल्लभ सम्प्रदाय म प्रेम को ही परमसाध्य माना गया है। भगवान या परमतत्व का अन्यतम गुण प्रेम है।[3] परन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं हुआ कि तत्वत परमतत्व की कल्पना मे वैष्णव-दर्शन शाक्त-दर्शन से भिन्न है। वैष्णवो की विशेषता है, सर्वशक्तिमान भगवान को प्रेम के अधीन मान लेना, परन्तु जगत् और जीव की सृष्टि म अद्वैतवाद की रक्षा के लिए शाक्त दृष्टिकोण को अपनाकर ही वैष्णव चले हैं, क्योकि पाचरात्र आगम म भी यही दृष्टिकोण स्वीकृत था, अत. लीलावादी दर्शन शाक्त मत के अनुसार ब्रह्म को सर्वशक्तिमान मानकर ही जगत् की सत्यता सिद्ध कर सकते थे।

---

१ वदन्ति तत्तत्व विदस्तत्व यज्ज्ञानम द्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते—श्रीराधा का क्रमिक विकास डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १८५, काशी १६५६

२ श्री राधा का क्रमिक विकास, पृ० १८६

३ श्री हितहरिवश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, ललिताचरण गोस्वामी, वृन्दावन, सवत् २०१४ विक्रमी, भूमिका, पृ० ३

तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कृष्णभक्त आचार्य सिद्धान्ततः शक्तिवादी हैं, किसी में शुद्धाद्वैतवाद, किसी में अचिन्त्यभेदाभेदवाद, किसी में भेदाभेदवाद तथा किसी में द्वैतवाद स्वीकृत हुआ है, किन्तु द्वैतवादी मध्व को छोड़कर अन्य आचार्यों ने द्वैत और अद्वैत में सामञ्जस्य करने का प्रयत्न किया है जो शैवागमों की परवर्ती व्याख्याओं से सादृश्य रखता है। परवर्ती शैवागमों की कश्मीरी शाखा में प्राप्त व्याख्याओं का झुकाव निर्गुण ब्रह्म और अद्वैतवाद पर अधिक है, जबकि पूर्ववर्ती आगमों में ईश्वरवाद की ओर (थीइज्म) झुकाव अधिक दिखाई पड़ता है। हमारे वैष्णव आचार्यों में भी निर्गुणवाद की जगह ईश्वरवाद की ओर अधिक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

शक्ति—ब्रह्म में आविर्भाव व तिरोभाव—शक्ति की स्थिति मानना वल्लभ की विशेषता है, इससे मायावाद का खंडन सम्भव हुआ है। वल्लभमत में 'माया' ब्रह्म की 'शक्ति' है जो ब्रह्म के ही आधीन है। ब्रह्म तिरोधान-कार्य अपनी शक्ति द्वारा ही करता है। विद्यामाया और अविद्यामाया भगवान के संकेत पर ही कार्य करती हैं। भगवान की कृपा होने पर उसकी शक्तियाँ जीव पर पड़े हुए अज्ञान के आवरण को हटा लेती हैं और जीव ब्रह्मोन्मुख हो जाता है। आगमों में भी यही दृष्टिकोण स्वीकृत है।

शक्ति का दूसरा रूप रास में दिखाई पड़ता है जहाँ शक्तिमान अपनी शक्तियों के साथ विहार करता है। नित्यगोलोक में रसरूप कृष्ण के नित्यरास की गोपिकाएँ भगवान की आनन्दप्रसारिणी सामर्थ्यशक्ति मानी गई है। राधा भगवान के आनन्द की पूर्ण 'सिद्ध-शक्ति' के रूप में स्वीकार की गई है।[1] राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चंद्र-चंद्रिकावत् माना गया है। राधा को सम्पूर्ण शक्तियों की "स्वामिनी" कहा गया है।

गौडिया वैष्णवों में शक्तियों का विपुल विस्तार मिलता है। भगवान की तीन शक्तियाँ हैं—

१—अंतरंगाशक्ति—इसे आगमों की तरह चिद्शक्ति कहा गया है यही स्वरूपशक्ति है। इसके तीन रूप होते हैं संधिनी—यह शक्ति ब्रह्म के भी सत्ताधारण में सहायक है। संवित्शक्ति—इस शक्ति के द्वारा भगवान अपने को जानते हैं और दूसरों को ज्ञान प्रदान करते है। ह्लादिनी शक्ति—इस शक्ति द्वारा भगवान स्वयं आनन्द का अनुभव करते है और दूसरों को आनन्द देते हैं। उज्ज्वलनीलमणि में राधा को ह्लादिनी शक्ति माना गया है—

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५०६

भी जीव के आनन्द, स्वातन्त्र्य आदि गुणों को परिच्छिन्न करने वाले तत्व नष्ट हो जाते हैं, ऐसा माना गया है। निम्बार्कमत में ईश्वर की नियतिशक्ति का विशेष महत्व माना गया है। ईश्वर नियन्ता है और जीव नियम्य है, अतः वह ईश्वराधीन है। ईश्वर इच्छा से जीव मायाबद्ध होता है और ईश्वर इच्छा से ही मुक्त होता है।

वैष्णवों की जीव कल्पना व शैवों की जीव कल्पना में अन्तर बताते हुए कहा गया है कि शैव सम्प्रदाय में जीव का स्वातन्त्र्य स्वीकृत है, क्योंकि ज्ञान के पश्चात् जीव अणु नहीं रहता 'विभु' हो जाता है, जबकि वैष्णवमत में जीव कभी भी 'विभु' नहीं हो सकता, वह मुक्त अवस्था में भी ईश्वर के अधीन रहता है।[1] जीव के सम्बन्ध में शैव-वैष्णव कल्पनाओं में यह अन्तर अवश्य मिलता है, परन्तु वल्लभाचार्य ने भगवान को प्रेम के अधीन बनाकर जीव को अधिक से अधिक स्वातन्त्र्य देने का प्रयत्न किया है। सख्यभाव द्वारा भी भगवान के साथ समकक्षता प्राप्त होती है और दाम्पत्य भाव में तो कृष्ण ही अधीन बन जाते हैं। सखी सम्प्रदाय के आचार्यों ने कृष्ण को राधा के अधीन ही चित्रित किया है। राधा का महत्व वल्लभमत में भी कम नहीं है। आचार्य वल्लभ ने शुद्धपुष्टिमार्ग के भक्तों के लिए स्वतन्त्रता का विधान किया है क्योंकि भगवान की प्रतिज्ञा है कि वे भक्तों के अधीन हैं—

शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वादस्य भक्तस्य स्वातन्त्र्यं भोग उच्यते।
सहभावोक्त्या ब्रह्मणो गौणत्वम्। अतएव भक्ताधीनत्वं
भगवतः स्मृतिष्वप्युच्यते। अहं भक्ताधीनः। वशे कुर्वन्ति
मां भक्त्येत्यादि वाक्यं।[2]

मुक्ति का स्वरूप—वल्लभ ने सोलहवीं शताब्दी की दुःखी जनता के लिए आनन्द का अद्भुत विधान किया था जो अत्यधिक आकर्षक और सरलता से प्राप्त है। उनके अनुसार ज्ञानमार्गी तो अक्षरब्रह्म तक ही पहुँच पाते हैं, किन्तु भक्त पुरुषोत्तम की शाश्वत आनन्दमयी लीला में प्रवेश पाते हैं। अप्राकृतिक शरीरधारी जीव गोलोक में भगवान का सायुज्य प्राप्त करके मुक्ति से भी अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं।[3]

---

१ भागवत सम्प्रदाय, पृ० ६१३
२ अणुभाष्य, पृ० ३१
३ मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपाविदोऽबला
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः—वही, पृ० २८०

पुष्टिमार्ग को अंगीकार कर लेने पर भक्त ज्ञान व कर्मकांड आदि के बिना ही भगवान को प्राप्त कर सकते हैं।[1]

वैष्णवों की मुक्ति मे जीव के अन्तःकरण का विनाश नही माना जाता। तंत्रों का भी यही दृष्टिकोण है क्योंकि तंत्रों मे राग के द्वारा ही, अन्तःकरण की सहायता से ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म में जीव के लय हो जाने से तथा ब्रह्म के लीला रस के अनुभव से अन्तःकरण का नाश-सा हो जाता है, नाश नही होता क्योंकि अन्तःकरण ब्रह्ममय हो जाता है, अतः उसका नाश नही होता।[2]

तात्पर्य यह है कि मुक्ति के लिए अतःकरण के नाश का विधान जो संन्यास मार्ग अथवा हठयोग मे है, वह वल्लभ को स्वीकार नही है। वह अन्तःकरण का रूपान्तर मानते है, क्योंकि जब ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ ही इस जगत् मे नही है तब पदार्थों मे ब्रह्मनिष्ठा का अभ्यास ही मुक्तिदाता हो सकता है।[3] इसी विधि से वह लोक प्राप्त होता है, जहाँ न सूर्य की गति है न चन्द्रमा की। विद्युत और अग्नि की भी वहाँ पहुँच नही है।[4] वह गोलोक ही भक्तों का प्राप्तव्य है। वल्लभ तंत्रों की तरह व्यापी वैकुंठ की स्थिति पिंड मे भी मानते हैं। हृदय-आकाश मे आविर्भूत जो परमव्योमाक्षरात्मक व्यापि वैकुंठ है, उसे ही पुरुषोत्तमगृह कहा गया है।[5]

निम्बार्कमत मे भगवान के अनुग्रह से जीव मे अनुरागरूपिणी भक्ति का उदय होता है। जीव इससे भगवदापन्न हो कर समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है। इस मत मे जीवनमुक्ति की कल्पना नही है। शरीर छूट जाने के बाद ही जीव भगवान का साक्षात्कार करता है और लीला मे भाग लेता है।

---

१ मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपाविदोऽबला
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सगाच्छतसहस्रशः वही, पृ० २८१

२ जीवस्य च ब्रह्मण्येव लयेन लीलारसानुभवेन नाश एव सः।
तथा च तत्तद्रूप ब्रह्म तेषु तेषु स्थितमिति न तेषां नाशः। अणुभाष्य, पृ० ३८।

३ अत. सर्व्वरसादयो ब्रह्मनिष्ठा एव धर्म्मा, वही, पृ० ४७

४ वही, पृ० ६६।

५ गुहायां हृदयाकाशे यत्राविर्भूतं परमं व्योमाक्षरात्मकं व्यापि वैकुंठ तस्य पुरुषोत्तम गृहरूपत्वात्''''', वही, पृ० ३१

राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी सखी भाव से नित्य गोलोक धाम में राधा-कृष्ण के नित्यविहार-दर्शन को मुक्ति माना गया है। इसी प्रकार चैतन्यमत में भी मधुराधाम में प्रवेश प्राप्त किया जाता है। मधुराधाम से बढ़कर धाम द्वारिकाधाम है। मत में गोपीभाव या राधाभाव अथवा महाभाव को इस मत में सबसे अधिक महत्व दिया गया है।

सारांश यह है कि कैवल्य की जगह वैष्णवमत में भगवान के साथ 'विहार' को अधिक महत्व दिया गया है, अतः वैष्णव मत मूलतः राग-मार्ग है जो तान्त्रिक परम्परा से ही विकसित हुआ है।

कृपा का सिद्धान्त—वैष्णव मतों में तन्त्रों की ही तरह शक्तिपात या कृपा के सिद्धान्त पर सबसे अधिक बल दिया गया है। हम पीछे भगवान की भक्त-अधीनता को प्रमाणित कर चुके हैं, कृपा के सिद्धान्त की यह चरमसीमा है। साधन-निरपेक्ष मुक्ति का दान ही वल्लभ के अनुसार भगवान के अवतार का कारण है। यह कार्य भगवान कृपावश करते हैं। उनके अनुसार दुष्ट-दलन, तथा सज्जन-रक्षण का कार्य तो भगवान अन्य साधनों से भी पूरा कर सकते थे, तब उनके अवतार का प्रयोजन ही क्या है। मनुष्यों को साधननिरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान के अवतार का प्रयोजन हो सकता है।[1]

जिस प्रकार तन्त्रों में भगवान का शक्तिपात सभी वर्गों या वर्णों के नर-नारियों पर होता है वैसे ही वल्लभ के यहाँ भगवान के अनुग्रह के आकांक्षी सभी भक्तों पर भगवान की कृपा होती है। केवल वेदाक्षरविचार में शूद्र को वल्लभ ने अधिकार नहीं दिया। स्मार्त और पौराणिक उपासना का अधिकार शूद्र को दिया गया।[2] गीता में भी नारी व शूद्रों के लिए मुक्ति की व्यवस्था की गई थी किन्तु तन्त्रों ने जो शताब्दियों तक संघर्ष किया था, उसी का यह प्रतिफल था कि आचार्य वल्लभ बादरायण के ३४ तथा ३५, ३६, ३७, ३८ तथा ३९ सूत्रों की व्याख्या में विस्तार से शूद्रों के लिए भक्ति करने के अधिकार

---

१ अतः स्वपर प्रयोजनाभावात् यदि साधननिरपेक्षां मुक्तिं न प्रयच्छेत, तदा व्यक्ति प्रादुर्भावो प्रयोजनरहितंव स्यात्-सुबोधिनी।

२ वेदाक्षरविचारेण शूद्र पतति—
तत्क्षणादिति। स्मार्तपौराणिकज्ञानादौ तु कारणविशेषेण शूद्रयोनिगतानां महतामधिकारः —अणुभाष्य, पृ० १११

राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी इसी भाव से और गोलोक धाम में राधा-कृष्ण के नित्यविहार-दर्शन को मुक्ति माना गया है। इसी प्रकार चैतन्यमत में भी मधुराधाम में प्रवेश प्राप्त किया जाता है। मधुराधाम से उच्चतर धाम द्वारिकाधाम है। अन्त में गोपीभाव या राधाभाव अथवा महाभाव को इस मत में सबसे अधिक महत्व दिया गया है।

सारांश यह है कि ऐश्वर्य की जगह वैष्णवमत में भगवान के साथ 'विहार' को अधिक महत्व दिया गया है, अतः वैष्णव मत मूलतः राग-मार्ग है जो तांत्रिक परम्परा में ही विकसित हुआ है।

कृपा का सिद्धान्त—वैष्णव मतों में तन्त्रों की ही तरह शक्तिपात या कृपा के सिद्धान्त पर सबसे अधिक बल दिया गया है। हम पीछे भगवान की भक्त-अधीनता को प्रमाणित कर चुके हैं, कृपा के सिद्धान्त की यह चरमसीमा है। साधन-निरपेक्ष मुक्ति का दान ही वल्लभ के अनुसार भगवान के अवतार का कारण है। यह कार्य भगवान कृपावश करते हैं। उनके अनुसार दुष्ट-दलन, तथा सज्जन-रक्षण का कार्य तो भगवान अन्य साधनों से भी पूरा कर सकते थे, तब उनके अवतार का प्रयोजन ही क्या है। मनुष्यों को साधननिरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान के अवतार का प्रयोजन हो सकता है।[1]

जिस प्रकार तन्त्रों में भगवान का शक्तिपात सभी वर्गों या वर्णों के नर-नारियों पर होता है वैसे ही वल्लभ में यहाँ भगवान के अनुग्रह के आकांक्षी सभी भक्तों पर भगवान की कृपा होती है। केवल वेदाक्षरविचार में शूद्र को वल्लभ ने अधिकार नहीं दिया। स्मार्त और पौराणिक उपासना का अधिकार शूद्र को दिया गया।[2] गीता में भी नारी व शूद्रों के लिए मुक्ति की व्यवस्था की गई थी किन्तु तन्त्रों ने जो शताब्दियों तक संघर्ष किया था, उसी का यह प्रतिफल था कि आचार्य वल्लभ बादरायण के ३४ तथा ३५, ३६, ३७, ३८ तथा ३९ सूत्रों की व्याख्या में विस्तार से शूद्रों के लिए भक्ति करने के अधिकार

---

१ अतः स्वपर प्रयोजनाभावात् यदि साधननिरपेक्षां मुक्तिं न प्रयच्छेत, तदा व्यक्तिः प्रादुर्भावो प्रयोजनरहितैव स्यात्-सुबोधिनी।

२ वेदाक्षरविचारेण शूद्र पतति—
तत्प्रकरणादिति। स्मार्तपौराणिकज्ञानादौ तु कारणविशेषेण शूद्रयोनिगतानां महतामधिकार —अणुभाष्य, पृ० १११

की वकालत करते हैं। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में भी यही सिद्धान्त स्वीकृत है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में तो प्रेम की इतनी महिमा है कि भगवान सारे कर्मफलों की उपेक्षा कर भक्त को अपनी निकुंजलीला में शामिल कर लेते हैं।

लीला—लोकवत् तु लीला कैवल्यम्—सूत्र की व्याख्या करते हुए वल्लभ ने कहा है कि भगवान लोकवत् लीला करते हैं। इस लीला का कोई प्रयोजन नही है, लीला ही लीला का प्रयोजन है। मोक्ष का ही दूसरा नाम लीला है। मोक्ष का स्वरूप है भगवान की आनन्दमयी क्रीडा का ध्यान व गायन।[1] अन्यत्र वल्लभ ने लीला को 'विलासेच्छा' कहा है।[2] सर्ग, प्रलय, भक्ति, अनुग्रह आदि सब भगवान की लीलाएं ही हैं। सम्पूर्ण सृष्टि-व्यापार को भगवान की विलास इच्छा मानने के कारण कृष्णभक्तों मे विलास का संकुचित अर्थ अधिक प्रचलित हुआ है। स्वयं वल्लभ ने गोपियों के साथ कृष्ण की विलास-लीला पर अधिक बल दिया है। अतः संतों की विलास-साधना का एक दूसरे रूप में वैष्णव मतों मे प्रवेश हुआ है। वल्लभ ने तो 'बाललीला' पर ही ध्यान केन्द्रित किया किन्तु आगे चलकर विलासवाद ही मुख्य होता गया, अन्तर केवल यह रह गया कि जहाँ तन्त्रों मे विलासक्रिया स्वीकृत है, वहाँ भक्तों मे केवल 'मानसीध्यान' के रूप मे भगवान का विलास स्वीकृत हुआ।

यों तो सम्पूर्ण सृष्टिरचना, संचालन, नाश और पुनः सृजन ही भगवान की लीला है तथापि गोलोक व व्रज मे भगवान की विशेष नित्य-लीला चलती रहती है। भगवान के अक्षररूप से सत्रूप जगत् और चित्रूप जीव, देवता आदि की उत्पत्ति के अतिरिक्त स्वयं आनन्दस्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम रूप से गो, गोप, गोपी आदि गोलोक की आनन्दरूप शक्तियों की उत्पत्ति हुई है।[3] इन्हीं के साथ भगवान की आनन्दमय लीला चलती रहती है, तभी इस लीला मे शामिल होने के लिए प्रत्येक भक्त गोपी बनना चाहता है। गोपियों में विवाहिता गोपियाँ, जो अन्यपूर्वा कहलाती हैं, जारभाव से भगवान को भजती हैं। अनन्यपूर्वा गोपियाँ अर्थात् अविवाहित कुमारियाँ कृष्ण को पति बनाने का संकल्प

---

१ अणुभाष्य, पृ० १४६

२ लीलानाम विलासेच्छा-सुबोधिनी, तृतीय स्कन्ध की व्याख्या,—भागवत सम्प्रदाय, पृ० ३८६

३ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५०६

राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी सखी भाव से जीव की गौर धाम में राधा-कृष्ण के नित्यविहार-दर्शन को मुक्ति माना गया है । इसी प्रकार चैतन्यमत में भी मधुराधाम में प्रवेश प्राप्त किया जाता है। मधुराधाम से उच्चतर धाम द्वारिकाधाम है । अन्त में गोपीभाव या राधाभाव अथवा महाभाव को इस मत में सबसे अधिक महत्व दिया गया है ।

सारांश यह है कि कैवल्य की जगह वैष्णवमत में भगवान के साथ 'विहार' को अधिक महत्व दिया गया है, अतः वैष्णव मत मूलतः राग-मार्ग है जो तान्त्रिक परम्परा से ही विकसित हुआ है ।

कृपा का सिद्धान्त—वैष्णव मतों में तन्त्रों की ही तरह शक्तिपात या कृपा के सिद्धान्त पर सबसे अधिक बल दिया गया है । हम पीछे भगवान की भक्त-अधीनता को प्रमाणित कर चुके हैं, कृपा के सिद्धान्त की यह चरमसीमा है । साधन-निरपेक्ष मुक्ति का दान ही वल्लभ के अनुसार भगवान के अवतार का कारण है। यह कार्य भगवान कृपावश करते हैं । उनके अनुसार दुष्ट-दलन, तथा सज्जन-रक्षण का कार्य तो भगवान अन्य साधनों से भी पूरा कर सकते थे, तब उनके अवतार का प्रयोजन ही क्या है । मनुष्यों को साधननिरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान के अवतार का प्रयोजन हो सकता है ।[1]

जिस प्रकार तन्त्रों में भगवान का शक्तिपात सभी वर्गों या वर्णों के नर-नारियों पर होता है वैसे ही वल्लभ के यहाँ भगवान के अनुग्रह के आकांक्षी सभी भक्तों पर भगवान की कृपा होती है । केवल वेदाक्षरविचार में शूद्र को वल्लभ ने अधिकार नहीं दिया । स्मार्त और पौराणिक उपासना का अधिकार शूद्र को दिया गया ।[2] गीता में भी नारी व शूद्रों के लिए मुक्ति की व्यवस्था की गई थी किन्तु तन्त्रों ने जो शताब्दियों तक संघर्ष किया था, उसी का यह प्रतिफल था कि आचार्य वल्लभ बादरायण के ३४ तथा ३५, ३६, ३७, ३८ तथा ३९ सूत्रों की व्याख्या में विस्तार से शूद्रों के लिए भक्ति करने के अधिकार

---

१ अतः स्वपर प्रयोजनाभावात् यदि साधननिरपेक्षां मुक्तिं न प्रयच्छेत, तदा व्यक्तिः प्रादुर्भावा प्रयोजनरहितैव स्यात्-सुबोधिनी ।

२ वेदाक्षरविचारेण शूद्रः पतति—
तत्क्षणादिति । स्मार्तपौराणिकज्ञानादौ तु कारणविशेषेण शूद्रयोनिगतानां महतामधिकारः—अणुभाष्य, पृ० १११

की वकालत करते हैं। अन्य वैष्णव सम्प्रदायो मे भी यही सिद्धान्त स्वीकृत है। राधावल्लभ सम्प्रदाय मे तो प्रेम की इतनी महिमा है कि भगवान सारे कर्मफलो की उपेक्षा कर भक्त को अपनी निकुंजलीला मे शामिल कर लेते हैं।

लीला—लोकवत् तु लीला कैवल्यम्—सूत्र की व्याख्या करते हुए वल्लभ ने कहा है कि भगवान लोकवत् लीला करते हैं। इस लीला का कोई प्रयोजन नही है, लीला ही लीला का प्रयोजन है। मोक्ष का ही दूसरा नाम लीला है। मोक्ष का स्वरूप है भगवान की आनन्दमयी क्रीडा का ध्यान व गायन।[1] अन्यत्र वल्लभ ने लीला को 'विलासेच्छा' कहा है।[2] सर्ग, प्रलय, भक्ति, अनुग्रह आदि सब भगवान की लीलाएं ही हैं। सम्पूर्ण सृष्टि-व्यापार को भगवान की विलास इच्छा मानने के कारण कृष्णभक्तो मे विलास का सकुचित अर्थ अधिक प्रचलित हुआ है। स्वय वल्लभ ने गोपियो के साथ कृष्ण की विलास-लीला पर अधिक बल दिया है। अतः तन्त्रो की विलास-साधना का एक दूसरे रूप मे वैष्णव मतो मे प्रवेश हुआ है। वल्लभ ने तो 'बाललीला' पर ही ध्यान केन्द्रित किया किन्तु आगे चलकर विलासवाद ही मुख्य होता गया, अन्तर केवल यह रह गया कि जहाँ तन्त्रो मे विलासक्रिया स्वीकृत है, वहाँ भक्तो मे केवल 'मानसीध्यान' के रूप मे भगवान का विलास स्वीकृत हुआ।

यो तो सम्पूर्ण सृष्टिरचना, संचालन, नाश और पुनः सृजन ही भगवान की लीला है तथापि गोलोक व व्रज मे भगवान की विशेष नित्य-लीला चलती रहती है। भगवान के अक्षररूप से सत्रूप जगत् और चित्रूप जीव, देवता आदि की उत्पत्ति के अतिरिक्त स्वयं आनन्दस्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम रूप से गो, गोप, गोपी आदि गोलोक की आनन्दरूप शक्तियो की उत्पत्ति हुई है।[3] इन्ही के साथ भगवान की आनन्दमय लीला चलती रहती है, तभी इस लीला मे शामिल होने के लिए प्रत्येक भक्त गोपी बनना चाहता है। गोपियों मे विवाहिता गोपियां, जो अन्यपूर्वा कहलाती हैं, जारभाव से भगवान को भजती हैं। अनन्य-पूर्वा गोपियां अर्थात् अविवाहित कुमारियाँ कृष्ण को पति बनाने का संकल्प

---

१ अणुभाष्य, पृ० १४६

२ लीलानाम विलासेच्छा-सुबोधिनी, तृतीय स्कन्ध की व्याख्या,—भागवत सम्प्रदाय, पृ० ३८६

३ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५०६

करके उनसे मिलती हैं। 'रासलीला' में ये ही दो प्रकार की गोपियाँ आ सकती हैं। यशोदा आदि सामान्या गोपिया रास में शामिल नहीं हो सकती।

महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वल्लभमत में जारभाव से भगवान से मिलने वाली गोपियों की भक्ति को पुष्टि पुष्ट-भक्ति माना गया है, जो भक्ति का उच्चतम रूप है। अर्थात् जिन्हें योग व ज्ञान पसन्द नहीं है, ऐसे साधन हीन भक्त गोपी भाव से भगवान के साथ रति क्रीडा को ही पुरुषार्थ मानते हैं। स्त्रियों के लिए इसकी विशेष उपयुक्तता है। पुरुष भी सखीभाव से रासलीला में शामिल हो सकते हैं और स्वामिनीजी की कृपा से भगवान के साथ रतिक्रीडा भी कर सकते हैं। अष्टछाप के आठ कवि, चम्पकलता, चन्द्रभागा, आदि सखियों के भी अवतार कहे गए हैं। ये दिन में सखाभाव धारण करते थे और रात में सखीभाव।

वल्लभ के अनुसार लीला का उद्देश्य ज्ञानियों का ब्रह्मानन्द नहीं अपितु भजनानन्द है। लीलारस लौकिक विषय रस व काव्यरस से भिन्न है। यह मानसिक अनुभव से उत्पन्न होता है। आगमों में भी गुह्य रति के समय मानसिक अनुभव पर ही बल दिया गया है, केवल शारीरिक रति पर नहीं। क्योंकि साधना में मानसिक स्थिति ही सिद्धि देती है अन्यथा प्रत्येक भ्रष्ट व्यक्ति को 'सिद्ध' मानना होगा।

वल्लभाचार्य ने उक्त मधुराभक्ति को उच्चतम और गोप्य बताया है। भागवतपुराण के दशम स्कंध के ३१ वें अध्याय में गोपियाँ कृष्ण से प्रार्थना करती हैं कि भगवान उनके कुचों पर अपने चरणकमल स्थापित करें।[1] इस श्लोक की व्याख्या करते हुए आचार्य वल्लभ ने कहा है कि यहाँ "विपरीतरति" संकेतित है। इस प्रकार भगवान की अश्लील लीलाओं का ध्यान ही भक्तों के लिए सर्वस्व बनता गया।

भगवान की रतिक्रीडा का वास्तविक अभिप्राय तन्त्रों की ही पद्धति पर बताते हुए वल्लभ कहते हैं कि भगवान अन्तर्यामी हैं, अतः न वह स्त्री हैं, न पुरुष हैं और न षंढ हैं। अत उनकी दिव्य लीला आन्तरिक है। इसमें दोष

---

१ "ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु न" की व्याख्या "अनेन विपरीत रस उच्यते अथ विशेषो वा" • सुबोधिनी।

की आशंका नहीं है,[1] क्योंकि यह लीला साधक की चेतना मे होती है।

भैरवीचक्र और भगवान का रतिचक्र—आचार्य वल्लभ के अनुसार रस-पोषण के लिए ही मर्यादा भंग का वर्णन भागवत में किया गया है क्योंकि रस मन्द रहने तक ही शास्त्र का उपदेश है किन्तु 'रतिचक्र' मे प्रविष्ट होने पर न शास्त्र रह जाता है न क्रम। भागवत की शारदी निशा इसलिए लौकिक नहीं है, यह निशा 'काव्योक्ता' है और काव्य के विषय मे कहा ही गया है कि काव्य-कला नियतिकृत नियमों से रहित होती है—

मर्यादाभंगः रसपोषाय। तदुक्तम्—
शास्त्राणांविषयस्तावत् यावन्मंदरसा नराः
रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रम इति।
निशा एता न लोक प्रसिद्धाः किन्तु काव्योक्ता एव तत्रहि
नियतकृत्यादिराहित्यं''''ह्लादैकता अनन्याधीनता।[2]

उपर्युक्त श्लोक "भैरवीचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रम" का ही अनुकरण है। भैरवी चक्र के साधक भी ब्रह्मानन्द प्राप्त करने के लिए ही रतिचक्र का आयोजन करते थे, अतः वैष्णवो ने भगवान के रतिचक्र का विधान तान्त्रिको के भैरवी चक्र के आधार पर ही कल्पित किया है। वे तान्त्रिको की तरह शारीरिक रति को महत्व न देकर, भगवान के रतिचक्र की कल्पना मे ही मग्न रहना चाहते हैं। इस प्रकार वल्लभ की आत्मस्वीकृति हमारी इस स्थापना मे सहायक है कि वैष्णवो की मधुराभक्ति का "पैटर्न" तान्त्रिक है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में वल्लभमत से भी अधिक शक्ति व शक्तिमान की शृंगारिक लीला का अद्भुत विस्तार मिलता है। आगमो का 'रतिविधान' भी इसके सम्मुख फीका पड जाता है। 'युगललीला' मे लौकिक प्रेम का ही दिव्य-स्तरों पर वर्णन किया गया है। कृष्ण मे 'प्रेम' की तृषा तथा राधा मे अनंग-वेलि की प्रमुखता मानकर 'रतिरहस्य' का पूर्ण उद्घाटन इस सम्प्रदाय में किया गया है। रूपदर्शन, उरजस्पर्श, परिरंभन से लेकर विपरीतरतिविवरण तक

---

१ वस्तुतस्तु नायं पुमान् नचस्त्री नाप्यन्यः कश्चित् न स्त्री न षंढो न पुमानि-नित्युतेः अतः केनापि विचारेण नास्या दोषसम्भवः—भागवतपुराण, १०-३३-३६ की सुबोधिनी में की गई व्याख्या।

२ भागवतपुराण १०, ३३, २६ पर सुबोधिनी में वल्लभकृत व्याख्या।

कामशास्त्र के सभी विधिविधान 'दिव्यलीला' में स्वीकृत हैं।[1] रसमय भाव की रसमय लीला का गुणगान रूप इस सम्प्रदाय में मिलता है किन्तु सखीभाव से इस 'लीला' का दर्शन ही किया जाता है, तांत्रिकों की तरह स्वयं रतिक्रिया द्वारा तत्व का साक्षात्कार यहाँ उद्देश्य नहीं है।

चैतन्यमत में भी 'लीला' का गुणगान ही अधिक है। वल्लभ ने बालकृष्ण लीला पर अधिक बल दिया था, परन्तु अन्य मतों में आगमों की कामक्रीड़ा को वल्लभमत से भी अधिकता दिखाई पड़ती है। इस मत में "परकीयाभाव" की बड़ी महिमा है जो तांत्रिक साधनाओं का अवशेषमात्र है।

'लीला' का उद्देश्य आनन्द की सृष्टि है और जीव में आनन्द का ही अभाव है। क्योंकि जीव कामक्रीडा में ही सबसे अधिक आनन्द लेता है अतः मनोहरलीलाओं का ही कृष्णभक्तों ने अधिक विधान किया है और केवल 'मानसोद्यान' के रूप में भगवान की कामक्रीडाओं को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार आचार्यों ने संन्यास और भ्रष्टाचार इन दो अतियों से बचने का प्रयत्न किया है। फिर भी 'मानसिक' रूप में ही सही, तन्त्रों ने जो सर्वप्रथम 'राग' को साधना का माध्यम बनाया था, वही सिद्धान्त मूलतः इस लीलावाद का आधार है।

गोलोक—वल्लभ परब्रह्म के लोक को 'गोलोक' कहते हैं। आनन्दमय लोकों की कल्पनाएं पाचरात्र आगम में हम देख चुके हैं। बौद्धों का सुखावती-स्वर्ग, शैवों का कैलास तथा वैष्णवों का विष्णुधाम, ११वीं शताब्दी के पूर्व ही जनप्रिय हो चुके थे। वल्लभ ने गोलोक को और भी मनोहर रूप दिया। सन्त-कवियों ने भी लोकों की कल्पनाएं की हैं। तान्त्रिक दृष्टिकोण से आध्यात्मिकता की जागृति ही इनका उद्देश्य है। १५वीं, १६वीं शताब्दियों के आचार्यों ने धर्म को सरल और आकर्षक बनाया था, अतः विलासिता की ओर बढ़ती हुई रुचि को भगवान के 'नित्यविहार' में ही उलझा रखने की आवश्यकता का अनुभव उन्हें हुआ था, अतः गोलोक की कल्पना में वल्लभ और उनके शिष्यों ने महान् प्रतिभा का परिचय दिया था।

वैष्णवों के गोलोक पर ललिताचरण गोस्वामी ने भी आगमों का प्रभाव स्वीकार किया है। उनके अनुसार वैष्णव सम्प्रदायों के उदय के साथ प्रधानतया आगमों और पुराणों पर आधारित, वैष्णव उपास्यतत्त्व का विकास

---

१ ललिताचरण गोस्वामी, पृ० १६६ से १८६ तक।

हुआ और विभिन्न उपास्य स्वरूपों के अनुरूप वैकुण्ठ, गोलोक आदि स्थानों की योजना को महत्व मिला। इस योजना में वृन्दावन गोलोक का एक विशेष भाग है और रासलीला का स्थान होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है। प्रकट लीला और अप्रकट लीला के भेद से वृन्दावन के दो रूप माने गए हैं, एक भू वृन्दावन और दूसरा "त्रिपादविभूतिस्थ किंवा गोलोकस्थ वृन्दावन' और दोनों का अभेद प्रतिपादित किया गया है''''वृन्दावन भगवान की संधिनी शक्ति का विलास है और चिन्मय रूप है।[1]

चैतन्यमत में भी स्वरूपशक्ति तथा उसके द्वारा निर्मित वैकुंठधाम, परिकर, सेवकादि वैभव के साथ भगवान की लीला का विधान किया गया है। भगवान और उनके धाम को एक माना गया है क्योंकि वैकुंठधाम उनके स्वरूप के ही शुद्ध सत्वमय विस्तार हैं। वैकुण्ठ में एक अप्राकृत विरजा नदी मानी गई है, इस विरजा के उस पार परमव्योम है, इसमें विशुद्धसत्वमय नित्य वैकुण्ठादि का अवस्थान है। वैकुण्ठादिधामों में सर्वोच्चधाम 'गोलोक' ही माना गया है। इसी गोलोक से गोकुल बना है। क्योंकि गोलोक प्रकट भी हो सकता है और अप्रकट भी रह सकता है, प्रकट रूप में वह 'गोकुल' है। इस प्रकट व अप्रकट लोकों में एक ही साथ लीलाएँ होती रहती हैं। इसके भी तीन रूप हैं द्वारिका, मथुरा व वृन्दावन, इनमें लीला भी तीन प्रकार की होती है। द्वारिकाधाम में यादवों व वृन्दावन में गोप-गोपियों के साथ लीला होती है।[2]

साधना—उपासना और आचार, ज्ञान, योग, कर्मकाण्ड से रहित शुद्ध प्रेमारूपा भक्ति का रूप हम 'पुष्टिपुष्टभक्ति' में देख चुके हैं। वल्लभ की विशेषता यह है कि उन्होंने मनुष्य के सम्पूर्ण रागात्मक जीवन का विषय भगवान को बनाकर उसे दिव्यराग में परिणत करने पर बल दिया—

सर्वदासर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य. क्वापि कदाचन।[3]

अर्थात् सर्वदा सब प्रकार के भावों से केवल कृष्ण ही भजनीय हैं, यही

---

१ हितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० १४६

२ द्रष्टव्य, राधा का क्रमिक विकास, पृ० १९७, १९८, १९९

३ चतुः श्लोकी, षोडश ग्रंथ, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ५२०

धर्म है। अन्य कोई धर्म नहीं है क्योंकि भगवान के स्नेह से संसार के प्रति जो राग है, उसका नाश होता है।[1]

वल्लभमत में गौणी तथा पराभक्ति स्वीकृत है। गौणीभक्ति के वैधी व रागानुगा दो भेद हैं। वैधीभक्ति में शास्त्रोक्त नियमों का पालन होता है। यह मर्यादाभक्ति भी कहलाती है। रागानुगाभक्ति में भगवान की कृपा व उनके प्रति भक्ति में भाव की मुख्यता है। इससे चित्त शान्त हो जाता है और तब शुद्ध पराभक्ति उत्पन्न होती है।

वैधीभक्ति में पूजा, अर्चा, मूर्ति का ध्यान, नाम-स्मरण आदि का विधान है। स्पष्ट ही यह तान्त्रिक विधि है। वैदिक कर्मकांड के समानान्तर जिस तान्त्रिक उपासना का प्रचार आगमों व पुराणों में मिलता है, उसे वल्लभ ने यथावत् स्वीकार किया है। किन्तु इन सबको प्रेमलक्षणाभक्ति के साधना रूप में ही माना गया है। नवधाभक्ति भी साधनरूप में ही स्वीकृत है। साध्य तो प्रेमलक्षणाभक्ति ही है।

शाण्डिल्य ने भक्ति का आविष्कार ही इसलिए किया था कि इसमें जाति, तप, शील तथा विस्तृत साधना-पद्धति की आवश्यकता नहीं पड़ती—

न जातिर्न तपः शीलं नाल साधनपद्धतिः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य पूर्णकामस्य नित्यशः॥[2]

अतः वैदिक कर्मकांड के समानान्तर 'लोकसाधना' का आविष्कार, जो आगमों में किया गया था, उसी परम्परा में शाण्डिल्य भी आते हैं।

वल्लभमत में "कृष्ण" इष्टदेव हैं, उनकी मूर्ति का ध्यान किया जाता है। इस सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट मन्त्र है। इस मत में गुरु के द्वारा जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित कराया जाता है। "श्रीकृष्ण शरणं मम" इस मन्त्र को शरणमन्त्र कहा जाता है। इसके अतिरिक्त नितान्त "गोप्य" दीक्षामन्त्र इस प्रकार है—

सहस्रपरिवत्सरमितकालजात कृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं

---

१ स्नेहाद्रागविनाशः स्यात्
  वही, पृ० ५२५

२ शाण्डिल्यसंहिता, भाग १, पृ० २, सरस्वती भवनसीरीज, बनारस, १६३५

भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्माश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ।[1]

इस मंत्र से शिष्य गुरु अथवा कृष्ण को अपना सब कुछ समर्पण कर देता है। गुरु व कृष्ण में इस सम्प्रदाय में अंतर नहीं माना जाता।

पुष्टिमार्ग की पूजा-पद्धति बहुत ही विशद है। आठोयाम श्रीकृष्ण सेवा-विषयक कुछ न कुछ कार्यवाही होती रहती है। पूजा में आठ प्रकार बताये गये हैं, मंगलारति, शृंगार, गोपाल, राजभोग, उत्थान, भोग, साध्य और शयन। ये सब मूर्ति से सम्बन्धित हैं और मूर्तिपूजा शुद्ध आर्येतर पूजा है। तांत्रिक परम्परा में ही इसका विकास हुआ था। जिस प्रकार तंत्रों में सामान्य जनता के विश्वासों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति है उसी प्रकार वल्लभमत में भी अनेक उत्सवों, त्यौहारों पर किए गये समारोहों आदि को धार्मिक रूप दे दिया गया है, फलतः सभी लोक-उत्सवों का सम्बन्ध भगवान से जोड़ने की प्रवृत्ति वैष्णवमतों की विशेषता है।

वल्लभ ने अपने साधन पक्ष के लिए परवर्ती उपनिषदों की बार-बार चर्चा की है। ये उपनिषदें तांत्रिक साधनपद्धति से ही सम्बन्धित हैं।[2] वल्लभ, निम्बार्क आदि मतों के लिए परवर्ती उपनिषदें 'शुद्धवैदिक' थीं, क्योंकि तब तक धार्मिक अन्तर्भुक्ति का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो चुका था।

वल्लभमत की तरह अन्य सभी वैष्णव सम्प्रदायों में कृष्ण-मूर्ति की सेवा के विराट आयोजन किये जाते हैं। कुछ थोड़ी-सी भिन्नता को छोड़कर सभी कृष्णसम्प्रदायों में साधन-पद्धति एकसी ही दिखाई पड़ती है।

भगवान की इस विराट सेवा के आयोजन में वित्तजा तथा तनुजा सेवा से 'मानसी' सेवा को अधिक महत्व दिया गया है क्योंकि तांत्रिकों की ही तरह बाह्याचार को वैष्णवों ने अधिक महत्व नहीं दिया। देवता के साथ आन्तरिक तादात्म्य यहां भी मुख्य है।

इस उपासना का उद्देश्य 'प्रेमाभक्ति' का उदय है। यह भक्ति 'लोक और वेद' से अतीत मानी गई है। इसमें मर्यादामार्ग का निषेध है। यद्यपि वल्लभ ने बालकृष्ण-उपासना पर अधिक बल दिया है तथापि जारभाव से गोपी वनचर

---

१ भागवत सम्प्रदाय, पृ० ३६७

२ अथर्वोपनिषत्सु नृसिंहोपासनादिषु मत्स्यकूर्मादिरूपत्वेनापि स्तुतिः श्रूयते—
—अणुभाष्य, पृ० ३२४

भगवान के साथ रति प्राप्ति का लक्ष्य उन्होंने स्वीकार किया है। अतः रास-लीला चक्रसाधना का ही एक उदात्तरूप है, यों कृष्ण की शृंगारिक चेष्टाओं के ध्यान से मर्यादावादी आज तक 'उदात्त' कहने को प्रस्तुत नहीं हैं। तथापि तांत्रिकों की चक्रसाधना की तुलना में रासलीला अधिक पवित्रपूर्ण व उदात्त है।

वैष्णवभक्ति का मर्म—वैष्णव आचार्यों का भक्ति-रहस्य गम्भीर है। भक्त-कवियों ने इसी रहस्य को वाणी दी है, अतः उनकी कविता कोरी कविता नहीं है, वह एक विशिष्ट साधना-पद्धति से सम्बन्धित वाणी है, अतः वैष्णव काव्य को समझने के लिए साधना को समझना पड़ता है।

नाम या मन्त्र—वैष्णवों की नामसाधना आगमों की मंत्र-साधना का ही दूसरा नाम है। यह नाम-साधना तन्त्रों की ही तरह साधना की प्रथम अवस्था मानी गई है। नाम के साथ भगवान के रूप का नित्य सम्बन्ध रहता है। 'नाम' प्राकृत न होकर 'चिन्मय' है। परन्तु नाम में चित् व आनन्द की अभि-व्यक्ति साधना द्वारा मानी गई है, यद्यपि वे अव्यक्त रूप से नाम में अवस्थित हैं। गुरु की शक्ति से संयुक्त होकर 'नाम' की निजी शक्ति आवरणमुक्त होकर फूट पड़ती है।

नामसाधना का उद्देश्य शुद्धदेह की प्राप्ति है। क्योंकि प्राकृत शरीर से साधना हो नहीं सकती, इसीलिए 'बीजमंत्रों' का महत्व माना गया है। नाम साधना से भावदेह की उपलब्धि होती है। इसीलिए तंत्रों में काया सिद्धान्त पर इतना बल दिया गया है।

'भावदेह' क्षुधा-पिपासा, काम-क्रोधादि से परे होती है। इस देह की प्राप्ति के बाद भक्त भगवान की लीलाओं में शामिल हो सकता है।

भक्तिशास्त्रों के अनुसार क्रियारूपाभक्ति 'फलरूपा' भक्ति में परिणत हो जाती है। यह नवधाभक्ति से भी परे की अवस्था है क्योंकि जिस नवधाभक्ति का इतना प्रचार किया जाता है उसमें अहंभाव मिट नहीं पाता अतः महाभाव जो कि प्रक्रिया या सेवा का फल है, वह भगवान की कृपा से ही प्राप्त होता है क्योंकि कभी कभी जीवन भर क्रिया करने पर भी भाव का उदय नहीं होता।

भाव का उदय होने पर प्राकृत शरीर जड़वत् हो जाता है। भावदेह साधक की मानसिक भावना के अनुसार बनती है। सख्य, वात्सल्य, दाम्पत्य, जिस प्रकार का भाव होगा, साधक की उसी प्रकार की काया प्रकट हो जाती है।

भावदेह मे बाह्य नियमो की अपेक्षा नही रहती। उदाहरणत: जो भक्त आराध्य को जननी के रूप मे भजता है उस पर शिशुभाव छा जाता है, उसके मुख पर शिशु जैसी सरलता आ जाती है और वह अपनी 'जननी' के सम्मुख स्वभावत: बच्चो जैसी चेष्टाएँ करने लगता है।

भाव का विकास ही प्रेम है। यद्यपि भाव व प्रेम एक ही है तथापि प्रेम भाव की परिपक्वावस्था है।

बिना प्रेम के भगवान का अपरोक्ष साक्षात्कार नही होता। भाव द्वारा इष्टदेव का अन्वेषण किया जाता है। साधक अनेक आवर्तों को पार कर जब अन्तिम बिन्दु तक पहुँचता है तब रस का उदय हो जाता है, यही सिद्धावस्था है, यहाँ साधना छूट जाती है। प्राकृतदेह छूटने के बाद शुद्धभावदेह प्राप्त होने पर ही 'हरिलीलाधाम' मे प्रवेश मिलता है। आचार्यों के अनुसार मायिक शरीर की निवृत्ति के बाद भी कभी-कभी विशुद्ध 'भावदेह' की प्राप्ति नही होती, यही 'कैवल्य' की अवस्था है। यह 'विदेह' स्थिति है। केवली जीव भगवान के धाम के बाहर सुप्तवत् पडे रहते हैं, ऐसा भक्ति के आचार्यों ने कहा है। तभी ज्ञानियों की मुक्ति को भक्त पसन्द नही करते।

साधक के भाव के अनुसार हरिधाम अनेक हैं। कुंठाहीन होने के कारण ही इसे वैकुंठ कहा गया है। इसी को आगम शास्त्रो मे 'वैन्दवजगत्' कहते हैं। शुद्धभाव प्राप्त साधक इसमे प्रवेश पाते हैं।

भावदेह मे भाव के विकास के साथ 'हृदय' म प्रवेश होता है। सचारीभाव से स्थायीभाव की उपलब्धि की स्थिति यही है। कहते हैं कि हृदय मे अष्ठ दलकमल है जो षट्चक्रो मे द्वादशदलवाले कमल से भिन्न है। इस अष्ठदलकमल मे एक-एक दल एक-एक भाव का रूप है। भाव मे प्रविष्ट होकर उसे महाभाव मे परिणत करना पडता है, यही भावसाधना का रहस्य है। कमल को जिस प्रकार प्रकाश व जल की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार भाव के विकास के लिए ज्ञानरूपचिदाकाश मे स्थित सूर्यमडल तथा दूसरी ओर स्थायी भाव की आवश्यकता होती है, तभी "हृदयकमल" खिलता है।

हृदयकमल से विकसित होने पर ही लक्ष्योन्मेष होता है और उसके साथ ही 'खेचरीमांड' अथवा 'अमृतपात्र' से अमृतक्षरण प्रारम्भ हो जाता है। यह लक्ष्योन्मेष भी कामसूर्य का ही उदय है, इसी को शैव-दर्शन मे कामकला-तत्व कहा गया है।

उपर्युक्त आठ भावों मे एक ही महाभाव को प्राप्त किया जाता है। भक्ति

शास्त्रों में पांच भावों की प्रमुखता है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इन भावों की विशिष्टता के अनुसार भगवान का भी वैशिष्ट्य होता है। आचार्यों के अनुसार यद्यपि शान्तभक्ति एक है। तथापि उसमें अनन्त भेद होते हैं। व्यक्ति अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करके ही भाव का आस्वाद लेता है। एक ही व्यक्ति शान्त, दास्य, सख्य तथा वात्सल्य के क्रम से विकास प्राप्त करता हुआ अन्त में माधुर्यभाव को प्राप्त करता है, परन्तु इतना विकास होने पर भी उसका व्यक्तित्व रहता है, अन्यथा लीला का आस्वादन नहीं हो सकता, यही व्यक्तित्व की महिमा है। भावसाधना भक्ति साधना में एक ओर रस की अभिव्यक्ति होती है और दूसरी ओर महाभाव का विकास होता है। महाभाव के बिना रस का शुद्धरूप प्राप्त नहीं होता।

उपर्युक्त अष्टदलकमल के लिए ही आठ सखियों का विधान भक्तिशास्त्रों में किया गया है। जैसे कमल का मध्यबिन्दु मधुर होता है, उसी तरह अष्टदलों या भावों के बाद मध्यबिन्दु या महाभाव में प्रवेश प्राप्त होता है। मध्यबिन्दु भी आठ भागों में विभक्त है। इनमें प्रत्येक 'कला' कहलाता है। ये ही आठ सखियाँ हैं। इनके विकास की चरम परिणति ही 'राधातत्व' कहलाता है। भावसाधना द्वारा साधक अष्टदलकमल या भाव से आवर्तित होते होते अंत में महाभाव को प्राप्त करता है, उस समय पूर्णरस की उपलब्धि में पूर्णतम-मिलन या 'सामरस्य' होता है।

भक्ति का उपर्युक्त विवेचन कविराज गोपीनाथ जी के अनुसार है।[1] निश्चितरूप से गौड़ियावैष्णवों की भक्ति को ही कविराज जी ने विवेच्य बनाया है परन्तु महाभाव व मधुराभक्ति, सभी कृष्णभक्तों द्वारा स्वीकृत है, अतः कवियों की वाणी का वास्तविक मर्म उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है। यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि आगमों की दृष्टि का ही कृष्ण-भक्ति में विस्तार है। रति चक्र का वास्तविक अभिप्राय यही लिया जाता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि यह महाभाव, मधुराभक्ति अथवा रतिचक्र को वैष्णवों ने क्यों ग्रहण किया? इसका यही उत्तर हो सकता है कि वैष्णव आचार्य ऐसी साधना-पद्धति का विकास करना चाहते थे जिसमें मनुष्य के रागात्मक जीवन का विनाश न हो। भाव राग का ही विकसित रूप है और

---

१ विस्तार के लिए द्रष्टव्य – कल्याण का हिन्दू संस्कृति अंक, पृ० ४३६-४४४-कविराज गोपीनाथ का लेख

प्रत्येक साधक को चित्तवृत्ति के अनुकूल कोई एक भाव चुन लेने की छूट दे दी गई है, उसी भाव द्वारा प्रत्येक भक्त अपने इष्ट का अन्वेषण करता है। यह पद्धति हठयोग और सन्यासमार्ग से सरल और आकर्षक होने के कारण जनता मे अधिक प्रचलित हुई। तान्त्रिकों के वाममार्ग और हठयोग जैसी कृच्छ्र साधनाओं को छोडकर एक मध्यम मार्ग के आविष्कार का श्रेय वैष्णव आचार्यों को अवश्य है। किन्तु यह आविष्कार आगमों के ही आधार पर होने के कारण आगममूलक साधना और वैष्णवसाधना मे अद्भुत साहश्य दिखाई पड़ता है। तान्त्रिकों की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों में जहाँ आकर्षण था, वही भ्रष्टाचार का भय भी उपस्थित रहता था। वैष्णवों ने इसीलिए भगवान के रतिचक्र को केवल मानसी ध्यान के रूप मे ग्रहण किया है और भावविभोर होकर भगवान की मनोहर लीलाओं का गायन किया है।

इस प्रकार वैष्णव साधना की पृष्ठभूमि मे आगमों और तन्त्रों का विपुल साहित्य आचार्यों और कवियों के लिए उनकी "मौलिकता" और नूतन लीलाओं के आविष्कार मे सहायक रहा है। आगमों के अनुशीलन के बिना वैष्णव साधना को उस भारतीय चिन्तनधारा के ही विकसित रूप मे नही देखा जा सकता जो मनुष्य के रागात्मक जीवन और आध्यात्मिक जीवन के विरोध को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील रही है तथा जिसमे वैदिक कर्मकाड के स्थान पर लौकिक विश्वासों और लौकिक देवी देवताओं को स्वीकार करके चलने की प्रवृत्ति रही है।

अष्टछापकाव्य मे तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ—वल्लभसम्प्रदाय के कवि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भक्तितत्व के मर्म के ही गायक है। उनकी कल्पना को पंख देने वाला गुरुप्रदत्त "हरिलीलातत्व" है।

दर्शन—हम वल्लभ की विचारधारा पर विचार कर चुके हैं। सूरदास ने आचार्य के अनुसार ही ब्रह्म के सगुणरूप की ही वन्दना की है और निर्गुण उपासना को निरालम्ब उपासना होने के कारण स्वीकार नही किया है।[1] छीतस्वामी और नन्ददास आदि अन्य कवि भी सगुण ब्रह्म के ही गायक हैं।[2]

---

१ द्रष्टव्य-अविगत गति कछु कहत न आवै, सूरसागर, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सवत २००५, जिल्द १, पृ० २

२ छीतस्वामी-जीवनी और पद सग्रह-शास्त्रीजी, राजस्थान, सवत् २०१२, पृ० ६ तथा श्रीकृष्णसिद्धान्तपञ्चाध्यायी-नन्ददास ग्रथावली, ब्रजरत्नदास, काशी, प्रथम सस्करण सवत् २००६, पृ० ४०

कृपा या शक्तिपात—कवियों ने सगुणब्रह्म की कृपा या शक्तिपात की महिमा का विस्तृत गायन किया है। इन कवियों का भगवान भक्त की पुकार सुनकर ही सहायतार्थ अवतरित होने के लिए सर्वथा सन्नद्ध रहता है, क्योंकि वह भक्त के भाव को देखता है, उसके कर्मों को नहीं देखता—

तुम हरि साँकरे के साथी,
सुनत पुकार, परम आतुर ह्वै, दौरि छुड़ायो हाथी।[1]

भगवान की प्रतिज्ञा है—

हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुनि अर्जुन परतिग्या मेरी, यह व्रत टरत न टारे।[2]

कृपा की स्थिति में कृपालु अपनी सामर्थ्य का अनुसंधान करता है और यह तथ्य कवियों को ज्ञात है कि भगवान सर्वशक्तिमान है, अतः सूरदास का यह विश्वास है कि जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में हो रहा है वह सब "हरि इच्छा" से ही हो रहा है। भगवान की इच्छा की तरह ही उसकी कृपा भी निराली है, क्योंकि वह कृपावश भक्तों के अधीन हो जाता है—

निगम ते अगम हरिकृपा न्यारी।
प्रीतिवस स्याम है राव कं रक प्रोद, पुरुष के नारि नहिं भेद।[3]

वस्तुतः "वेद" ऐसे ब्रह्म की कल्पना भी नहीं कर सकता था जो अपने बनाये हुए सारे नियमों को तोड़कर मनुष्य की पुकार पर उसकी रक्षा व रंजन के लिए विकल हो उठता हो। भगवान की कृपा से सम्बन्धित पद जनता में प्रसिद्ध हो हैं, अतः यहाँ अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं है। यह कृपा का सिद्धान्त शुद्ध आगमों की देन है।

शक्ति-शक्तिमान की काव्यरूप में परिणति

वल्लभमत के सभी कवि अपने भगवान की क्रीडाओं के गुण ही गाते हैं। ये क्रीडाएं भगवान अपनी शक्तियों के साथ करता है। नन्ददास के अनुसार भगवान की शक्ति को उनसे अलग नहीं किया जा सकता—

किन कीहौं चन्द्र तें चारु चन्द्रिका न्यारी।[4]

---

१ सूर सागर, जिल्द १, पृ० ३७
२ वही, पृ० ८७
३ सूरसागर, जिल्द २, पृ० ९४२
४ श्रीकृष्ण सिद्धान्तपञ्चाध्यायी, पृ० ४५

नन्ददास ने व्रजसुन्दरियों और व्रजाधीश को शक्ति व शक्तिमान के रूप मे ही ग्रहण किया है—

पुनि व्रजसुन्दरि संग मिलि सोहैं सुन्दर वर यों।
अनेक शक्ति करि आवृत सोहै, परमातम ज्यों।[1]

सूरदास ने 'प्रकृति-पुरुष' के रूप मे ही इस देव व देवी को ग्रहण किया था—

प्रकृति, पुरुष, श्रीपति, सीतापति, अनुक्रम कथा सुनाई।
सूर इती रस रीति स्याम सौं, तैं व्रज बसि बिसराई।[2]

सूरदास ने राधा व कृष्ण का सम्बन्ध बहुत ही कवित्वपूर्ण पद्धति पर समझाया है कि राधा व कृष्ण दो नही हैं, वस्तुतः एक हैं, जलतरंगवत् वे दोनो अभिन्न हैं। "प्यारी मे पिय और पिय मे प्यारी" के सिद्धान्त का तात्पर्य यही है कि स्पन्दन को स्पंदित होने वाले तत्व से भिन्न नही किया जा सकता—

तुम वे एक न दोई पियारी, जल तैं तरंग होइ नहिं न्यारी।
प्यारी मैं तुम तुम मैं प्यारी, जैसे दरपन छांह विहारी।
अति आनंद भरे दोउ राजें, अरस परस निरखत छवि छाजें।[3]

अतः संयोग, मान, विरह, पुनः संयोग वस्तुतः एक ही सत्ता का अंतरस्थित स्वतः व्यापार है, वहाँ संयोग मे भी वियोग है और वियोग मे भी संयोग। *कभी राधा, कृष्ण हो जाती है और कभी कृष्ण, राधा हो जाते है, अतः एक* ही तत्व लीलार्थ दो वपु धारण करता है—

---

१ श्रीकृष्णसिद्धान्त पंचाध्यायी, पृ० ४६
बृहद्ब्रह्मसंहिता, (२-४,१७३) में गोपियो को शक्ति माना गया है—
गोपायति जनान् यस्मात् प्रपन्नानेव दोषतः
अतो गोपीति, विख्याता लीलाख्या पर देवता—अर्थात् गोपी, लीला नाम वाला की शक्ति का नाम है। यह शक्ति शरणागत भक्तों का दोषमोचन करती है—भारतीय साधना और सूरसाहित्य, पृ० २६१, डा० मुंशीराम शर्मा—संवत २०१० वि०, आचार्य शुक्ल साधना-सदन कानपुर।
२ सूरसागर, जिल्द २, पृ० ११८२
३ वही, पृ० ११६५

किधौं वै पुरुष में नारि की वै नारि मैं ही हो पुरुष तन सुधि बिसरी ।[1]

शक्ति व शक्तिमान के रूप, श्री, सौभाग्य, समृद्धि व सामरस्य को विचारकों ने जिस निपुणता से तंत्रों व भक्तिशास्त्रों में प्रतिपादित किया था वह कंकालवत् था, सूक्ष्म और ऊहापोह से युक्त था, उसके विषय में प्रतिपक्षी नाना सन्देह उत्पन्न कर सकते थे, किन्तु जब साधक-कवियों के मानसिक क्षितिज पर वे सूक्ष्म सिद्धान्त रूप धारण करने लगे, जब गुरु ने साधक कवियों के प्राकृत शरीर में अप्राकृतिक के प्रति दिव्य भाव जगा दिया तो वे शक्ति व शक्तिमान की राशि राशि रूपावली प्रस्तुत करने लगे। "नख-शिख" वर्णन का यह मनोवैज्ञानिक कारण था।[2] इस प्रकार सिद्धान्त और सहृदयता एक होकर ध्वनित होने लगी। भगवान के जन्म से लेकर यौवनावस्था तक के नित्निए वृद्धिमान सौन्दर्य को रूपायित कर सकने का यही कारण था। जैसे काष्ठ में मूर्ति छिपी रहती है, उसी प्रकार शक्ति-शक्तिमान के सिद्धान्त में भी जो सौन्दर्य छिपा हुआ था, उसे वैष्णव कवियों ने उद्घाटित किया है। छीतस्वामी ने इसीलिए राधा शक्ति के विषय में लिखा है—

> सकल भवन की सुन्दरताई, वृषभानु गोप कैं आई री।
> जाकी जस गावत सिव मुनिजन, निगम, चतुरमुख थाईरी।
> नवलकिशोरी, रूपगुन स्यामा, कमला सी ललचाई री।
> प्रगटे पुरुषोत्तम श्री राधा, द्वै विध रूप बनाई री।[3]

अर्थात एक ही 'तत्व' पुरुष और प्रकृति—ये दो रूप बनाकर प्रकट हुआ है।

---

१ सूर सागर, जिल्द २, पृ० ६८३

२ मोर भए गिरिधर मेल देखु
सुगम कपोल लोल लोचन छबि, निरखि नैन सफल करि लेखु।
छीतस्वामी, पृ० ३७
देखिरी देखि आनन्दकंद।
चलित कुंडल गंडमंडल झलक ललित कपोल।
सुधा सर जनु मकर क्रीड़त, इन्दु बह बह डोल। सूरसागर, जिल्द १, पृ० ४८३

३ छीतस्वामी, पृ० २

यह जो युगल स्वरूप है उसमे परस्पर सम्मोहन और प्रेम का वर्णन छीत-स्वामी इस प्रकार करते हैं।

> आधो आधो अखियन चितवति प्यारी जू।
> आधो-आधो मन भयो जात गिरधर को।[1]

इसी प्रकार कुम्भनदास ने भी कहा है—

> बनी राधा गिरिधर की जोरी।
> मनहुँ परस्पर कोटि मदनरति की सुन्दरता चोरी।[2]

इसी को सूक्ष्म सिद्धान्तो का रूपायित करना कहा जाता है। कृष्णभक्तो और रामभक्तो का इस क्षेत्र पर एकाधिकार दिखाई पडता है।

सूरदास ने शक्ति-शक्तिमान की क्रीडा को शुद्ध प्रेमियो की पद्धति पर रूपायित किया है और यह वर्णन लौकिक कामकला की पद्धति पर हुआ है ताकि प्रत्यक मनुष्य उसमे अपने हृदय की धडकनें सुन सके—

> सोचत चली कुअरि घर ही तें, खरिक गई समुहाइ।
> कब देखों वह मोहन मूरति, जिन मन लियौ चुराइ।
> देखे जाइ तहा हरि नाहीं, चकृत भई सुकुमारि।
> कबहू इत, कबहू उत डोलत, लागी प्रीति खमारि।[3]

इस सन्दर्भ मे अन्य कवियो के उद्धरण भी द्रष्टव्य हैं।[4] इन कवियो ने

---

१ छीत स्वामी पृ० ४

२ कुम्भनदास जीवनी और पदसग्रह, कांकरोली, सवत् २०१०, पृ०४

३ सूरसागर, जिल्द १, पृ० ४६६

४ कठ लगाइ भुज दै सिरहानें, अधर अमृत पीवति सुकुमारी।
कठमेलि भुज केलि करत हैं, ज्यों दामिनि घन होत न न्यारी।
—कुम्भनदास पृ० १०२

(अ) रस भरे दम्पति कुज महल मे सुरति रसी।
नवसगम री अर्ध घू घट पर अवलोकन मे ईषद् हास्य हसी।
स्याम भुजन बीच प्यारी विराजत गोविन्दस्वामी, कांकरोली, पृ० १६

(ब) परमानन्दसागर, सम्पा० गोवर्धननाथ शुक्ल, अलीगढ, १९५८, भूमिका भाग, पृ० २२
कठ बाहु धरि अधरि पान दें, प्रमुदित हसत बिहार को
गाढ़ आलिगन दै दै मिलबो, बीच न राखत हार को-वही, पृ० १३९

शक्ति को कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति माना है अतः युगल के विहार का वर्णन इन्होंने बड़ी उमंग से किया है।

अष्टछाप के कवियों ने गोपियों को भी शक्तिरूप में ही चित्रित किया है, यह हम कह चुके हैं। इनमें परकीया रूप वाली गोपियों के अतिरिक्त ऐसी गोपियाँ भी मिलती हैं जिन्होंने भगवान को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए भगवान शंकर की आराधना की थी।[1] और उनका तप देखकर भगवान ने उनके साथ रतिक्रीड़ा भी की थी।[2]

चीरहरण,[3] गोदोहन,[4] कुंजविहार,[5] दधिदान[6] तथा गारुडी वेष बनाकर

(ग) नीवी ललित गही जदुराई।
जबहिं सरोज धरयो श्रीफल पर, तब जसुमति गई आई।
सूरसागर, पृ० ४६६

(ड) हरि हृति भामिनी उर लाइ।
सुरति अंत गोपाल रीझे, जानि अति सुखदाइ।—वही, पृ० ५०२

१ गौरीपति पूजति व्रजनारि।
नेमधर्म सौं रहनि क्रिया जुत, बहुत करति मनुहारि।
यहै कहति पति देहु उमापति गिरिधर नन्द कुमार।—सूरसागर, पृ० ५२४

२ अति तप देखि कृपा हरि कीन्हो।
तन की जरनि दूरि भई सबकी, मिलि तरुनिनि सुख दीन्हों।
—सूरसागर, जिल्द १, पृ० ५२५

३ लाज ओट यह दूरि करौ।
जोइ मैं कहौं करौ तुम सोई, सकुच बापुरिहिं कहा करौ।
अब अन्तर मोसों जनि राखहु, बार बार हठ वृथा करौ।
वही, पृ० ५३१

४ नद बबा की बात सुनौ हरि।
मोहि छाँड़ि जो कहू जाहुगे, ल्याऊँगी तुमकों धरि।
—सूरसागर, खंड १, पृ० ४६६

५ क्रीडत दोऊ नवनिकुंज।
स्यामस्यामा ललित लपटनि बढ्यो आनन्दपुंज।
बढ्यो सुरत सजोग रस मन भए प्रेम तरंग।—गोविन्दस्वामी, पृ० १६४

६ हमारो दान देहु सुकुमारी।
बिनु दिए कहाँ मजिय जाति हौ, धाइ गह्यो है सारो।
—वही, पृ० १२

राधा से मिलन,[1] आदि अवसरों पर भगवान का जो "कामकेलिमय" रूप दिखाई पडता है, वह शक्ति-शक्तिमान के सिद्धान्त का ही प्रतिफल है। इन कवियों ने होली खेलने[2] हिंडोला झूलने,[3] तथा फूल मण्डली रचने[4] आदि लोक-उत्सवों का उपयोग भी उक्त सिद्धान्त को रूपायित करने में किया है। नाना मौलिक उद्भावनाओं द्वारा इस प्रकार उक्त सिद्धान्त को कवित्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

रासमण्डल—कामेश्वर, कामेश्वरी की कामक्रीडा का अन्तिम चमत्कार रास-मंडल में दिखाई पडता है जिसमें युगल के अतिरिक्त जारभाव से भगवान को भजनेवाली तथा पतिभाव से अनुरक्ता शक्तियाँ भी भाग लेती हैं। शक्तियों की कामवासना को सन्तुष्ट करने का विराट आयोजन रासमंडल द्वारा ही किया जाता है। जिस प्रकार तान्त्रिक साधक चक्रसाधना में एक या कई शक्तियों के साथ विहार करते थे और इन्द्रियजन्यआनन्द की आहुति 'ब्रह्मानन्द' में देकर उसे पुनः पुनः उद्दीप्त करते थे, कृष्ण उस प्रकार के साधक न होने पर भी तान्त्रिक साधकों की ही तरह शक्तियुक्त अवश्य दिखाये गए हैं। दूसरी दृष्टि से यही भगवान का "रतिचक्र" शक्तिमान के अन्तर्यामी होने के कारण विराट ब्रह्मांड की सृष्टि और संहार का भी प्रतीक है। यह स्मरणीय है कि वल्लभ

---

१ मोके विर्षाहि उतारयो श्याम।
बडे गारुडी अब हम जाने, संगहि रहत सु काम।
हम समझी सब बात तुम्हारी, जाहु आपने धाम।—सूरसागर, पृ० ५२३

२ रसिक फागु खेलें नवल नागरी सों, सरस वर रितुराज की रितु आई।
पवनमंद अरविंद और कुंद विकसे, विसद चद पिय नन्दसुत सुखदाई॥
—छीतस्वामी, पृ० २६ तथा द्रष्टव्य-गोविन्दस्वामी, पृ० ५६, कुम्भनदास पृ० ३६, परमानन्दसागर पृ० ११-११३ तथा सूरसारावली में होली प्रसग।

३ कान्ह कनक हिंडोरें झूलत रितु बसत मुरारी।
वामभाग अब लावत राधा, अंग अंग सकुंआरी।—गोविन्दस्वामी, पृ० ७६

४ रस भरे पिय प्यारी बैठे कुसुम भवन।
गोविंद बलि बलि जोरी सदाई विराजो। सुख वरसत लालन राधिका-रवन।—गोविन्दस्वामी, पृ० ७७

सम्प्रदाय में प्रत्येक गोपी (जीव) भगवान के साथ रासरास के लिए उत्सुक दिखायी गयी है। स्वामिनी जी की कृपा से यह उसे प्राप्त भी कर सकता है अन्यथा सखी रूप से इस नित्यविहार के दर्शन का आनन्द ले सकता है। यह भी कहा गया है कि कृष्ण को "सुख" देना ही गोपियों का उद्देश्य है। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखें रासमंडल और चक्रसाधना में साम्य दिखाई पड़ता है।

नन्ददास के अनुसार कामवासना पर विजय प्राप्त करने के लिए ही ऐसी साधना का विधान किया गया है अर्थात् काम को काम द्वारा और राग को राग द्वारा जीतने का प्रयत्न जो आगमों में मिलता है वही उद्देश्य यहाँ कार्य कर रहा है। भागवत् में जब परीक्षित ने शुकदेव से पूछा कि श्यामसुन्दर लम्पट कैसे हो गये, तब शुकदेव ने भगवान को 'सर्वभाव' कहकर समझाया था कि जो जिस भाव से भजता है भगवान उसको उसी रूप में प्राप्त होते हैं। शिशुपाल ने शत्रुभाव से भगवान का भजन किया था, अतः भगवान ने शत्रु बनकर उसे गति दी।[1] इसी प्रकार जारभाव से भजने वाली गोपियों को, प्रत्यक्ष प्रकट होकर भगवान ने सन्तुष्ट किया था।

इस तर्क के अतिरिक्त नन्ददास ने यह भी कहा है कि इस मधुरलीला में शृंगार नहीं है—

> जे पंडित शृंगारग्रन्थ मत यामें सानैं।
> ते कछु भेद न जानैं, हरि को विषई मानैं।[2]

इसका आशय यह है कि कृष्णभक्त कवियों ने हरि को 'विषयी' रूप में जो चित्रित किया है, उसे वैसा न समझना चाहिए परन्तु इससे यह तो स्पष्ट हुआ ही कि कृष्णभक्तों ने हरि को 'विषयी' चित्रित किया है, उनका उद्देश्य भले ही विषयवासना पर सरल ढंग से विजय प्राप्त करना रहा हो और यदि यह सही है तो 'शक्ति-शक्तिमान' की रतिलीलाओं को मुखरित करने वाले आगमों

---

१ जाकौं सुन्दर श्याम कथा छिन छिन नइ लागै, ज्यों लंपट पर जुवति बात सुनि अति अनुरागै। तब कहि श्री शुकदेव देव यह अचरज नाहीं।
सर्वभाव भगवान कान्ह जिनके हिय मांही।
—रासपंचाध्यायी, नन्ददास ग्रन्थावली, ब्रजरत्नदास, पृ० १०

का प्रभाव उन पर स्पष्ट है। 'शुद्ध देहधारी' चाहे इस लीला को अपनी चेतना मे ही उत्पन्न और लय करते हो, अथवा वे 'हरिधाम' में उसे दिव्यदृष्टि से देखते हो परन्तु जनसाधारण के सम्मुख "महानसाधना" को शृंगारिक पदावली मे रखने की प्रवृत्ति जो तन्त्रों व आगमों में मिलती है, वही कृष्ण-भक्तो मे है और दोनो सम्प्रदायों मे शक्ति-शक्तिमान की क्रीडा ही इसे बताया गया है—यह कहना सही नही है कि चक्रसाधना मे तान्त्रिक बिना किसी भाव के साधना करते थे—"शारीरिकरति" स्वयं अपने मे मुक्तिदायी नही है, वह सहायकतत्व है, मुक्तिदात्री तो मानसिक स्थिति है। किस प्रकार साधक ऐन्द्रिक आनन्द को ग्रहण करता है, किस प्रकार वह उसे अतीन्द्रिय आनन्द मे सहायक बनाता है, इसी बात को तन्त्रो मे महत्वपूर्ण माना गया है, अत मानसिक स्थिति बदल जाने पर एक ही क्रिया जो बन्धक थी व मुक्तिदा बन जाती है, अतः 'शक्तिवादियों' ने सभी इन्द्रियो की तृप्ति के आवश्यक उपकरण जुटाने को आवश्यक माना था। इसी तरह कृष्णभक्त आचार्य एक विशेप मानसिक स्थिति बनाकर तब शक्ति-शक्तिमान की "रमणलीला" का आस्वादन करते है, विशिष्ट मानसिक स्थिति के अनुसार ही लीला का फल मिलता है, एक 'कामी'—भावहीन व्यक्ति उक्तपदो को पढ़कर पतनोन्मुख होगा और भावपूर्ण व्यक्ति कामवासना पर विजय प्राप्त कर लेगा। विलासियो और विरक्तो ने एक साथ इस 'रमणलीला' से लाभ उठाया, वर्णन एक किन्तु फल दो। प्रश्न हो सकता है कि ऐसी खतरनाक साधना के आविष्कार से क्या लाभ है? तन्त्रों ने कहा था कि कलियुग मे कामी लोगो के लिए यह साधना आकर्षक लगेगी अतः उनके साधनोन्मुख हो जाने पर विवेक की उत्पत्ति की सम्भावना रहेगी। पहले साधना अनिवार्य है, फिर चित्त शुद्ध होने पर साधना का मर्म स्वय समझ मे आ जाता है, अत येन केन प्रकारेण साधना मे मन लगाना ही श्रेयस्कर है। इसीलिए कृष्णभक्तो ने भी 'रुचि' का ध्यान रख कर किसी भी प्रकार भगवान की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए मधुराभक्ति का प्रचार किया था। नन्ददास ने भगवान के कामकलाविलास द्वारा कामदेव को पराजित करने की बात कही है—

> बिलसत विविध विलास हास नीवी कुच परसत।
> सरसत प्रेम अनग, रग नव घन ज्यों बरसत।
> तह आयो यह मौन पचसर कर हैं ताके।
> ब्रह्मादिक कों जीति अधि रह्यौ मति मद ताके।

निरखि ब्रजबधू संग रंग भरे नवकिसोर तन।
हरि मनमथ करि मथ्यो उलटि वा मन्मथ को मन।
मुरछि पर्यो तब मैन कहूँ तनु कहूँ निषंग सर।[1]

मन्मथ-विजय की सरलतम विधि क्या हो सकती है? मन्मथमोहन भगवान का आविष्कार और मन्मथ को भी स्तम्भित कर देनेवाली रतिलीलाओं का ध्यान! यही काव्य की आवश्यकता है क्योंकि वर्णन यदि नीरस है तो साधना का लक्ष्य पूर्ण नहीं होगा। और यदि वर्णन सरस और सुन्दर है तो सहृदय-मात्र को आकर्षित करेगा चाहे वे किसी धर्म, जाति या वर्ग के हों। चूँकि मनुष्यमात्र शृंगारप्रिय हैं अतः शृंगार द्वारा वासनाविजय का परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाला सिद्धान्त आविष्कृत हुआ और उसका कवियों ने प्रचार किया। यह स्मरणीय है कि श्रीमद्भागवत का कृष्णभक्तों के पूर्व अधिक प्रचार न था। रामानुज ने भागवत को अधिक महत्व नहीं दिया था, किन्तु वल्लभ, चैतन्य आदि आचार्य श्रीमद्भागवत को ही आधार मानकर चले और इस प्रकार उसके माध्यम से तान्त्रिक प्रभाव का प्रवेश हुआ।

नन्ददास के अनुसार रासलीला वासनाविजय के लिए है।[2] सूर के रास-वर्णन में भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। गोपियाँ रास के पूर्व भगवान से प्रार्थना करती हैं कि आप हमें "कुलधर्म" का उपदेश न करो, अपनी भुजाओं में हमें भर लो और अंक में बैठाकर संसार से पार लगाओ।[3] और तब भगवान ने सोचा कि मुझे छोड़कर यह अन्य किसी की आराधना नहीं करती हैं, इन्होंने 'विधि' मर्यादा और 'लोक की लज्जा' दोनों पर विजय प्राप्त करली है, अतः इनके साथ 'रासरस' रचकर इन सबके साथ विलास करना चाहिए।[4]

इस रासरस की 'नायिका' या स्वामिनी श्री राधा हैं।[5] इस रास द्वारा भगवान ने अनुपम लीला प्रदर्शित की और सभी गोपियों की विलासकामना को एक साथ ही पूर्ण किया।

---

१ रासपंचाध्यायी, नन्ददासग्रन्थावली।
२ भाषा दशमस्कन्ध, नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० २१८
३ सूरसागर, भाग १, पृ० ६१५
४ वही, पृ० ६१६, ६१७
५ वही, पृ० ६१८

इसका तात्पर्य यही है कि काम को भी साधना में सहायक बनाया जा सकता है।

इस राससाधना का अद्भुत वर्णन वैष्णव कवियों ने किया है।[1] इस रास में भगवान के साथ रति करने के लिए देवताओं को भी उत्सुक बताया

---

१ जुवती जुरि मडली विराजें, बिच बिच कान्ह तरुनि-बिच भ्राजें।
अनुपम लीला प्रकट दिखाई, गोपिन को कीन्ही मनभाई।
बिच थी स्याम नारि बिच गोरी, कनककलस मरकत छवि ढोरी।
—सूरसागर, पृ० ६१८

रास मंडल बने स्याम स्यामा।
नारि दुहुँपास, गिरिधर बने, दुहु नि बिच—
ससि सहस बीस द्वादस उपाया—सूरसागर, पृ० ६१८, भाग १

ललकत स्याम मन ललचात।
षट सहस दस गोपकन्या, रैन भोगीं रास।
एक छिन भई कोइ न न्यारी, सबनि पूजी आस।—वही, पृ० ६६१

बाहु कंध परिरंभन चुम्बन महामहोत्छव रासविलास।
सुर विमान सब कौतुक भूले, कृष्ण 'केलि' परमानन्ददास।
—परमानन्दसागर, पृ० ७३

ललित ग्रीव भुज मेलत, कबहु क अकमाल भरि झेलत।
चारु चुंबन अरु अगार, धरत तिय-मुख चद मे।
उडत अचल, प्रगट कुच वरग्रन्थि कटि-तट पट छुटें।
बढ्यो रग सु अग स्यामा, चित हावभावनि लुटें।—कुम्भनदास, पृ० २५

द्रष्टव्य अन्य पद—गोविन्दस्वामी, पृ० २४–३० तथा छीतस्वामी, पृ० २

निरखि व्रजवधू संग रंग भरे नवकिसोर तन ।
हरि मनमथ करि मथ्यौ उलटि या मन्मथ को मन ।
मुरछि परयो तब मैन वह धनु कहूँ निषंग सर ।[1]

मन्मथ-विजय की सरलतम विधि क्या हो सकती है ? मन्मथमोहन भगवान का आविष्कार और मन्मथ को भी स्तम्भित कर देनेवाली रतिलीलाओं का ध्यान ! यहीं काव्य की आवश्यकता है क्योंकि वर्णन यदि नीरस है तो साधना का लक्ष्य पूर्ण नहीं होगा। और यदि वर्णन सरस और सुन्दर है तो सहृदय-मात्र को आकर्षित करेगा चाहे वे किसी धर्म, जाति या वर्ग के हों। चूँकि मनुष्यमात्र शृंगारप्रिय है अतः शृंगार द्वारा वासनाविजय का परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाला सिद्धान्त आविष्कृत हुआ और उसका कवियों ने प्रचार किया। यह स्मरणीय है कि श्रीमद्भागवत का कृष्णभक्तों के पूर्व अधिक प्रचार न था। रामानुज ने भागवत को अधिक महत्व नहीं दिया था, किन्तु वल्लभ, चैतन्य आदि आचार्य श्रीमद्भागवत को ही आधार मानकर चले और इस प्रकार उसके माध्यम से तान्त्रिक प्रभाव का प्रवेश हुआ।

नन्ददास के अनुसार रासलीला वासनाविजय के लिए है।[2] सूर के रास-वर्णन से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। गोपियाँ रास के पूर्व भगवान से प्रार्थना करती हैं कि आप हमें "कुलधर्म" का उपदेश न करो, अपनी भुजाओं में हमें भर लो और अंक में बैठाकर संसार से पार लगाओ।[3] और तब भगवान ने सोचा कि मुझे छोड़कर यह अन्य किसी की आराधना नहीं करती हैं, इन्होंने 'विधि' मर्यादा और 'लोक की लज्जा' दोनों पर विजय प्राप्त करली है, अतः इनके साथ 'रासरस' रचकर इन सबके साथ विलास करना चाहिए।[4]

इस रासरस की 'नायिका' या स्वामिनी श्री राधा हैं।[5] इस रास द्वारा भगवान ने अनुपम लीला प्रदर्शित की और सभी गोपियों की विलासकामना को एक साथ ही पूर्ण किया।

---

१ रासपंचाध्यायी, नन्ददासग्रन्थावली।
२ भाषा दशमस्कन्ध, नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० २१८
३ सूरसागर, भाग १, पृ० ६१५
४ वही, पृ० ६१६, ६१७
५ वही, पृ० ६१८

इसका तात्पर्य यही है कि काम को भी साधना में सहायक बनाया जा सकता है।

इस राससाधना का अद्भुत वर्णन वैष्णव कवियों ने किया है।[1] इस रास में भगवान के साथ रति करने के लिए देवताओं को भी उत्सुक बताया

---

१ जुवती जुरि मंडली विराजें, बिच बिच कान्ह तरुनि-बिच भ्राजें।
अनुपम लीला प्रकट दिखाई, गोपिन की कीन्हो मनभाई।
बिच श्री स्याम नारि बिच गोरी, कनकखंभ मरकत खचि ढोरी।
—सूरसागर, पृ० ६१८

रास मंडल बने स्याम स्यामा।
नारि दुहूँपास, गिरिधर बने, दुहुँनि बिच—
ससि सहस बीस द्वादस उपाया–सूरसागर, पृ० ६१८, भाग १

ललकत स्याम मन ललचात।
षट सहस दस गोपकन्या, रँग भोगौं रास।
एक छिन भई कोइ न न्यारी, सबनि पूजी आस।—वही, पृ० ६६१

बाहु कंध परिरंभन चुम्बन महामहोच्छव रासविलास।
सुर विमान सब कौतुक भूले, कृष्ण 'वेलि' परमानन्ददास।
—परमानन्दसागर, पृ० ७३

ललित ग्रीव भुज मेलत, कबहुँक अंकमाल भरि झेलत।
चारु चुंबन अरु अगार, धरत तिय-मुख चंद में।
उड़त अंचल, प्रगट कुच वरग्रन्थि कटि-तट पट छुटै।
बढ्यौ रंग सु अंग स्यामा, चित्त हावभावनि लुटै।—कुम्भनदास, पृ० २५

द्रष्टव्य अन्य पद–गोविन्दस्वामी, पृ० २४–३० तथा छीतस्वामी, पृ० २

गया है।[1] मर्यादा की रक्षा के लिए सूरदास ने शक्तियों के साथ शक्तिमान का गन्धर्व विवाह करा दिया है[2]। और "दूल्हा-दुलहिन" को 'कोककलानिपुण' कहा है।[3]

रासलीला को अमित विस्तार नन्ददास ने दिया और उन्होंने उसके मर्म पर भी प्रकाश डाला है। नन्ददास की व्याख्या मे रास का प्रतीकात्मक अर्थ भी दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए कृष्ण के वेणुनाद को वह सृष्टि के मूल मे अव्यक्त रूप से स्थित नाद कहते हैं।[4] उनके अनुसार वैष्णवों का रमण-लीलापथ 'रसीलो पथ' है, केवल गोपियों को ही इसमे प्रविष्ट होने का अधिकार था, वही वेणु से निःसृत अमृतमय नाद को सुन सकी थी"। 'उनके अनुसार रसीलेपथ का ध्यान करने से जीव को भृंगीगति प्राप्त होती है। इसीलिए ससार मे मग्न अज्ञानी जीवो के लिए रास को दीपक के समान बताया गया है।

इस रासलीला का मानसीध्यान इस प्रकार किया जाता है—

> कमल वदन पर अलकनि कहुँ कहुँ श्रम जल झलकनि।
> सदा बसौ मन मेरे, मजु मुकुट की लटकनि।[6]

नन्ददास ने स्पष्ट कहा है कि नेत्रहीन लोगो के लिए भगवान की रतिलीला प्राकृतरतिक्रीडा मात्र है किन्तु प्रज्ञावान लोगो के लिए वह दिव्य रति है।[7] लीलाधारी कृष्ण इन्द्रियगामी नही है, क्योकि वह सभी हृदयों मे व्याप्त हैं। उनका स्वरूप नित्य, अखड और आनन्दमय है। प्रेम द्वारा ही वह स्वरूप

---

१ हमकौं विधि ब्रजवधू न कीन्हीं, कहा अमरपुर बास भएं।
बार बार पछताति यहै कहि, होतौं हरि सग रहै।—सूरसागर, पृ० ६२०

२ दुलहनि दूलह स्यामास्याम।

३ कोककलाव्युत्पन्न परस्पर, देखत लज्जित काम।—वही, पृ० ६१६

४ तब लीन्ही कर कमल जोग माया सी मुरली।
जाकी धुनि तें अगम निगम प्रगटे बड नागर।

५ नाद अमृत की जननी, मोहिनी सब सुखसागर,—रासपंचाध्यायी, पृ० ८
नाद अमृत को पथ रसीलो सूक्षम भारी—तिहि ब्रज तिय भले चलीं, आन कोऊ नहिं अधिकारी—वही, पृ० ८

६ वही, पृ० ३५

७ रासपंचाध्यायी, पृ० ३७

अनुभूत होता है, गोपियो मे वह स्वरूप स्फुरित हुआ था।[1] नन्ददास ने यह भी कहा है कि गोपियो का भगवान के प्रति प्रथम कामभाव था जिसमे स्वार्थ भी सम्मिलित था किन्तु शनैः शनैः वह कामभाव निःस्वार्थ प्रेम मे विकसित हुआ था।[2] जिस प्रकार भी मन भगवान मे लीन हो, नन्ददास के अनुसार वही उपाय वैध है, ब्रजवालाओ ने उत्कट कामरस द्वारा शुद्ध प्रेमरस को प्राप्त किया था।[3] तात्पर्य यह है कि कामभाव और आध्यात्मिक अनुभूति मे विरोध नही है। इसी सिद्धान्त के लिए जिस प्रकार आगमो मे विस्तृत मंडल, चक्र आदि का विधान किया गया था, उसी प्रकार वैष्णवो ने रासमडल मे केलि-विधान किया है। नर्तककृष्ण व नृत्यनिपुणा राधा, "शिव-पारवती" के ही आदर्श पर निर्मित हुए है। चक्रो मे वृत्ताकार, चक्राकार अथवा पक्तिबद्ध रूप मे, जिस प्रकार साधकगण बैठते थे उसी प्रकार रास के लिए "मडल" की व्यवस्था की गई है। योगियो के अष्टदलकमलचक्र के ही अनुकरण पर रासमंडल रचा गया है, ऐसा स्पष्ट सकेत नन्ददास के काव्य मे मिलता है।[4]

नन्ददास ने रासमडल पर स्पष्ट ही आगम का प्रभाव स्वीकार किया है—

जग मे जो सगीत नाटि जेहि जगत् रिझायो।
अस ब्रज तियन कौं सहज गमन यौ आगम गायो।[5]

वल्लभ-सम्प्रदाय के काव्य मे 'विरह' व 'वात्सल्य' का महत्व—यद्यपि आचार्य वल्लभ ने भगवान की 'निकुजलीला', 'चीरहरण', 'रासलीला' आदि रतिक्रीडापरक दृश्यो को मानसी-ध्यान के रूप मे स्वीकार किया है तथापि सामान्य जन के पतन के भय से उन्होने वात्सल्य और विरह वर्णन पर अधिक

---

१ श्रीकृष्ण सिद्धान्त पचाध्यायी, पृ० ४५
२ वही, पृ० ४६
३ वही, पृ० ४७
४ आरम्भित तव रुचिररास अद्भुत सुलास तहं।
अमल अष्टदल कमल, महामडल मडित तहं।
मधि कमनीय करनिका तापर विवि किसोर वर।
पुनि द्वै द्वै गोपी करि, हरि मडित मडल पर-
वही, पृ० ४७
५ श्रीकृष्ण सिद्धांतपचाध्यायी, पृ० ४७

बल दिया था। इसीलिए कामकेलि के अतिरिक्त जगावनो, कलेऊ, छाक, वन-भोजन, वत्सचर्या, आवनि, गोचारण आदि पर अष्टछाप के कवियों ने अधिक लिखा है। ये दृश्य भी मानसी-ध्यान के रूप मे स्वीकृत हैं और इनमे मनोहरता भी कम नही है। वात्सल्य और परमविरहासक्ति प्रारम्भ, मध्य और अन्त सब स्थितियों मे पवित्र रह सकती है, यह सोचकर ही इस काव्य में इनका अधिक वर्णन मिलता है। भगवान की रतिलीला में सम्भावित कुप्रभाव को कम करने का यह प्रयत्नमात्र है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में विरह का अस्तित्व ही नहीं माना गया, वहाँ संयोग मे भी विरह है और विरह मे भी संयोग है। अतः सामान्य नैतिकता की दृष्टि से अष्टछाप के कवियो की रचनाएं अधिक संयमपूर्ण दिखाई पड़ती हैं।

आचार्य वल्लभ और सूरदास ने विरह से ही परमप्रेमत्व माना है।[1] यह विरहवर्णन निश्चित रूप से साधनात्मक है जिसकी चरमसीमा भ्रमरगीत में दिखाई पड़ती है। रागात्मिका वृत्तियों की आध्यात्मिक उपयोगिता पर भ्रमर गीत द्वारा अच्छा प्रकाश पड़ता है।

गोपियाँ 'गीता के ज्ञान का'[2] अर्थात् गीता के शांकरवेदान्त के अनुसार "भाष्य" का विरोध करती हैं। वे 'मुद्रा, भस्म, विषान, मृग-छाल धारण करने वाले योगियो पर व्यंग्य करती हैं।[3] गोपियाँ योग-समाधि और वेदमार्ग को स्त्रियो के लिये अनुपयुक्त कहती हैं।[4]

सभी जीव स्त्रियाँ ही हैं, क्योंकि 'पुरुष' तो केवल एक ही है, तो केवल गोपियो के लिए ही नही, सभी जीवो के लिए गोपियो के उक्त वचन उपयोगी हैं। अत सभी के लिए पवन अवरोध, गृहत्याग, आसन, बंध[5], योगाग्नि, भस्म,

---

१ तेन परमप्रेमत्व सिद्धयुक्ति-अणुभाष्य, पृ० ३९
विरह दुख जहं नाहि-नैकहुं तह न उपजै प्रेम, सूरसागर, जिल्द २, पृ० १४१२

२ बारम्बार ज्ञान गीता को, अबलनि आगे गावत—सूरसागर, जिल्द २, पृ० १४३९

३ मुद्रा, भस्म, विषान, त्वचामृग, ब्रज जुवतिनि नहि भाए- वही पृ० १४४०

४ जोग समाधि वेद मुनि मारग, क्यों समुझै जु गवारि—वही, पृ० १४४१

५ वही, पृ० १४४२

जटाजूट[1], निर्गुणज्ञान[2], दिगम्बरदशा[3], आदि को गोपियां अनुपयुक्त मानती हैं।

गोपियो के इस कथन का मर्म यह है कि भगवान-प्राप्ति मे 'राग' भी समर्थ है, अत: संन्यासमार्ग व हठयोग आदि कृच्छ्रसाधनाएं कष्टकर होने के कारण व्यर्थ हैं—गोपियां तो 'प्रेम-योग' को उपयुक्त समझती है। सूरदास ने बड़े ही कवित्वपूर्ण ढंग से यह प्रमाणित किया है कि इस "प्रेमयोग" मे कठिनाइयां हैं। प्रेम का मार्ग भी तलवार की धार पर चलने के समान है—इस प्रेमयोग मे, माता, पितादि को छोडकर प्रेमी को समर्पित होना पड़ता है। वेदमर्यादा की उपेक्षा की जाती है। अपने दु:ख सुख को "श्रम" समझा जाता है और केवल प्रिय के सुख के लिए उससे रति की जाती है। मान, अपमान की चिन्ता नही की जाती है, कुलशील को तिलाजलि दे दी जाती है, लोकनिन्दा से प्रेमी को वही कष्ट होता है जो श्वास रोकने से योगियो को होता है। पंचाग्नि मे जलने वाले योगियो की तरह ही प्रेमी को गुरुजन-निन्दा की अग्नि मे जलना पडता है। योगियो की समाधि की ही तरह प्रेमीजन भगवान के सौन्दर्य को तल्लीन होकर देखते है। योगियो के त्रिकुटी-ध्यान की तरह ही प्रेमी "कटाक्ष-साधना" करते हैं, त्राटक-मुद्रा और नयनमिलन-मुद्रा मे कोई अन्तर नही है। अनाहतनाद की जगह प्रेमी वेणुनाद सुनते है और योगियो को जो रस-ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है, वही प्रेमियों को भगवान के साथ रति मे प्राप्त होता है। योगी जहां काम का नाश करते हैं, वहां प्रेमियो के गुरु साक्षात कामदेव ही हैं, अत हे उद्धव! तुम्हारी साधना नीरस है और प्रेमियो की साधना सरस है।[4]

अतः कामवासना के द्वारा ही जिस साधना मे भगवान प्राप्त हो जाते हों, उसे छोड़कर कठोर हठयोग का अनुसरण करने की कोई आवश्यकता नही अत: सूरदास तांत्रिको के रसमार्ग का ही अनुसरण करते हैं, उनके कुंडलिनीयोग

---

१ जोग समाधि वेद-मुनि मारग क्यों समुझै जु गंवारि पृ० १४४३

२ वही, पृ० १४४५

३ वही

४ द्रष्टव्य—हम अलि गोकुलनाथ अराध्यो—सूरसागर, भाग २, पृ० १४४८

का नहीं ।[1] सूर की गोपियाँ 'कामकेलि' की भूखी हैं[2], काम का नाश उन्हें प्रिय नहीं है । सूर ने नाना चक्रों का वर्णन करने वाले कुंडलिनी-योगियों को नीचा दिखाने के लिए राधाकृष्ण के शरीर में सारे ब्रह्माण्ड का दर्शन किया है—

देखि रे प्रगट द्वादस मीन ।
ऊधौ एक बार नन्दलाल राधिका, आवत सखी सहित रस मीन ।
षट उड़गन, षट मनि धरहू राजत हैं, चौबिस धातु चित्र केहि कीन ।
षट इंदु द्वादस पतंग मनु मधुप मुनिसग चौवन माधुरि रसपीन ।
द्वादस बिम्ब, सो बानवें बज्रकन, षट दामिनि जलजनि हँसि दीन ।
द्वादस धनुष द्वादसं विपका मोहनमन षट चिबुकचिन्ह चितचीन ।
चौबिस चतुस्सद ससि सौवीस मधुकर, अंग अंग रस अंग नवीन ।[3]

अब उद्धव पिंड में नाना चक्रों व अन्य पदार्थों की उपस्थिति दिखाकर योगमार्ग की उच्चता कैसे प्रमाणित कर सकते हैं ? इस प्रकार भ्रमरगीत में आगममूलक साधना का ही गुणगान किया गया है ।

नायिका भेद पर तान्त्रिक प्रभाव—यद्यपि कामशास्त्र में वर्णित नायिका भेद को वैष्णव कवि आधार मानकर चले हैं किन्तु नायिका भेद को जो साधनात्मक रूप वैष्णव कवियों ने दिया है उस पर एक सीमा तक तान्त्रिक प्रभाव भी दिखाई पड़ता है । तन्त्रों में नायिका भेद अधिकतर जाति के आधार पर किया गया है । इसके अतिरिक्त नायिकाएँ आनन्द को उद्दीप्त करने वाली मानी गई हैं, इसी उद्दीप्त आनन्द की आहुति ब्रह्मानन्द में देकर तान्त्रिक साधक मानवीय जीवन और पारलौकिक जीवन में एकता स्थापित किया करते थे । नन्ददास ने लिखा है कि संसार में जो रस है उसका आधार ब्रह्म ही है । जैसे नाना सरिताएं समुद्र में ही समाती हैं, उसी प्रकार सभी रस, जाने या अनजाने, ब्रह्म में ही सम्मिलित होता है । प्रेमरस ब्रह्म के ही कारण है

---

१ सौंति धरो यह जोग आपनो, ऊधौ पाइं परौं ।
कह रसरीति, कहाँ तनसोधन, सुनि सुनि लाज मरौं ।
चदन छाड़ि बिभूति बतावत, यह दुख कौन जरौं ।
सगुन रूप जु रहत उर अन्तर, निरगुन कहा करौं ।—वही, पृ० १४५५

२ हम तो कान्ह केलि की भूखी—
—वही, पृ० १४६५

३ सूरसागर, जिल्द २, पृ० १५०३

और श्रद्धा के ही कारण वह शोभित होता है ।[1] क्योकि सब रूप प्रेम आनन्द और रस भगवान का ही है, अतः नन्ददास "निर्भय" होकर नायिकाभेद प्रस्तुत करते हैं—

रूप प्रेम आनन्द रस, जो कछु जग मे आहि ।
सो सब गिरिधर देव को, निधरक बरनौं ताहि ।[2]

इस प्रकार कृष्ण के प्रति रति के लिए नायिकाभेद का पठन-पाठन भक्तो के लिए अनिवार्य हो गया क्योकि भगवान की गूढ़रति को लौकिक प्रेम के उद्घाटन द्वारा ही ध्यान का विषय बनाया जा सकता था—

जब लगि इनके भेद न जानै, तब लगि प्रेम न तत्व पिछानै ।
बिन जानें यह भेद सब, प्रेम न परिचय होइ ।
चरनहीन ऊंचे अचल, चढ़त न देख्यो कोइ ।[3]

अर्थात् जब तक भगवान के रतिचक्र मे शामिल होने वाली शक्तियो के रूप, गुण, अवस्था आदि का पता नहीं चलता तब तक उनकी रति के स्वरूप का अनुकरण नही हो सकता । नन्ददास लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम मे सहायक मानते थे । उनका रूपमंजरी नामक एक स्त्री से प्रेमसम्बन्ध था, ऐसे प्रमाण मिलते हैं । उसके कहने पर ही उन्होंने रसमंजरी लिखी थी । आगे चलकर रीतिकालीन कवियो ने काव्यपद्धति के रूप मे नायिकाभेद को स्वीकार किया यद्यपि उनमे जो साधक थे वे नायिका भेद का वास्तविक मर्म समझते थे । शुद्धभावदेह के अभाव म नायिका-भेद एक प्रचलित 'फैशन' के रूप मे अपनाया गया था किन्तु भक्त कवियो ने उसका आन्तरिक रूप ही ग्रहण किया है, यही कारण है कि रीतिकाल मे वह उच्च मानसिक स्थिति नही मिलती जो अष्टछाप के कवियो मे मिलती है । अष्टछाप के कवि भगवान की रति का निःस्पृह होकर वर्णन करते हैं ।

आचार—हमने आचार्यो के दर्शन के प्रसग मे वैष्णवों की उपासना-पद्धति पर कुछ प्रकाश डाला है । कवियो ने उसी को काव्य रूप मे प्रस्तुत किया है ।

गुरु और दीक्षा—वल्लभमत मे गुरु का अत्यधिक महत्व है । जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध गुरु ही कराता है । अष्टछाप के कवि गुरु व कृष्ण को इसीलिए एक मानकर चले हैं—

१　रसमंजरी, पृ० ३६ । नन्ददास, प्रथम भाग, सम्पा० उमाशंकर शुक्ला, प्रयाग, १९४२ ई०
२　वही, पृ० ३६
३　वही

"मैं तो सब श्री आचार्य महाप्रभून को ही जस वर्णन कियो है। बहू न्यारो देखूं तो न्यारो करू।[1]

गुरु के सम्बन्ध में "भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो" पद बहुत ही प्रसिद्ध है। छीतस्वामी गोविन्दस्वामी आदि ने कृष्ण की ही तरह गुरु की लीला का भी गायन किया है।[2]

गुरु और कृष्ण को एक मानने के कारण परवर्ती गुरुओं ने अपने को कृष्ण समझ कर स्त्रियों के साथ बाकायदा रासलीला भी शुरू कर दी थी।[3]

मंत्र—नामतत्व पर हम पीछे लिख चुके हैं। आगमों ने मंत्र को जो महत्व दिया था वह वैष्णवों व सन्तकवियों द्वारा मान्य है। नाम या मंत्र के महत्व के विषय में सब सन्त और भक्तकवि एकमत हैं। सूरदास ने लिखा है—

अद्भुत रामनाम के अंक।
धर्म अंकुर के पावन द्वै दल, मुक्ति वधू ताटंक।
मुनिमन हंस-पच्छ जुग जाकें, बल उडि ऊरध जात।
जनममरन काटन कों कर्त्तरि, तीछन बहु बिख्यात।[4]

परमानन्ददास ने भी हरिनाम को सुखदाता, प्रीति उत्पन्न करने वाला और ब्रह्मानन्द का उद्दीपक कहा है।[5]

वैष्णव भक्तों में तन्त्रों की तरह ही जो सहस्र नाम प्रचलित हैं उनका मनोवैज्ञानिक कारण यही है कि साधना का आरम्भ नाम से ही होता है।

---

१ भारतीय साधना और सूरसाहित्य से उद्धृत, पृ० २४२, डा० मुन्शीराम शर्मा सवत् २०१०, कानपुर।

२ (अ) अबकै द्विजवर ह्वै सुख दीनों।
तब कीनों गोपाल रूप अब वेद समृति दृढ़ कीनों।—छीतस्वामी पृ० ४
(ब) पिय नवरंग गोवर्धन धारी।
अभिनय रस सिंगार सरस, श्री विट्ठल प्रभु चित चारी—वही, पृ० ६
(स) गोविन्दस्वामी, पृ० २१०।
(द) कुम्भनदास पृ० ३१

३ वल्लभाचार्य—मनीलाल सी० पारीख

४ सूरसागर, भाग १, पृ० २६

५ हरिजूकोनाम सदा सुख दाता, करो जु प्रीति निश्चिल मेरे मन आनन्दमूल विधाता।—परमानन्दसागर, पृ० २६०-२६१

नन्ददास ने रूप मंजरी मे नवधाभक्ति को दो भागो मे विभाजित किया है—१ नादमार्ग, २ रूपमार्ग । श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण मे नाद प्रक्रिया मानी गई है और रूपमार्ग मे पादसेवन, अर्चन और वन्दन की गणना की गई है ।[1]

इस विभाजन से स्पष्ट है कि भक्तो की नामसाधना आगमो की तंत्र-साधना का ही एक रूप है । नामस्मरण और कथाश्रवण से साधक की चेतना स्पन्दित हो जाती है और नाना तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं । पुनः तरंगो के शान्त हो जाने पर मूर्त्ति का उदय होता है । इसी आन्तरिक मूर्त्ति की उत्पत्ति के लिए अष्टछाप के कवियो ने हरिसेवा का विस्तृत वर्णन दिया है । इस प्रकार रूप अर्थात् मूर्त्ति की उत्पत्ति नाम साधना से सम्बन्धित है ।

रूप—रूप का आन्तरिक रूप हम स्पष्ट कर चुके हैं । सेवा के द्वारा जिस रूप की सृष्टि होती है, वही रूप भक्तो का सर्वस्व है । भक्त-कवियो ने इसीलिए सेवा के समय भगवान की छवियो का ही अधिक वर्णन किया है । चतुर्भुजदास के अनुसार मंदिर और मूर्त्ति का महत्त्व इसीलिए अपरिमित है । व्रजवासी ही इस रीति को जानते हैं कि मदनगोपाल की सेवा, अर्थात् आन्तरिक मूर्त्ति की सेवा मुक्ति से भी मधुर है—

व्रजवासी जानें यह रीति ।
करत महल मे टहल निरतर, जाम जात सब बीति ।[2]

तथा

सेवा मदनगोपाल की मुक्ति हू ते मीठी ।
जाने रसिक उपासिका, शुक मुख जिन दीठी ।
चरणकमल रजमन बसी, सब धर्म नहाए ।
श्रवण, कथन, चिंतन बढयो पावन गुन गाए ।
वेद पुरान निरूपि मैं रस लियो निचोइ ।
पान करत आनन्द भयो डार्यो सब छोइ ।
परमानन्द विचारि के परमारथ साध्यो ।
रामकृष्ण पद प्रेम बढयो रस बाध्यो ।[3]

अर्थात सेवा का फल है 'इष्टदेव' की आन्तरिक स्फुरण, जिसके कारण

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५३८
२ अष्टछाप व वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५८०
३ वही पृ० ५८१

साधक में आनन्द का पुनः आविर्भाव हो जाता है। इस मत में नित्य और नैमित्तिक आचारों का कवियों द्वारा विस्तृत वर्णन हुआ है। ये मूर्ति, मंदिर, देवता की सेवा से सम्बन्धित आचार वैदिक विधि के समानान्तर आगमों में विकसित आचारों से प्रेरित होकर ही निर्मित किये गये हैं।

महात्म्य—सारा कृष्णकाव्य इष्टदेव तथा उनकी लीला में सम्मिलित सरिता, पर्वत, वृक्ष, भक्त, शक्ति आदि का महात्म्य गायन मात्र है। आगमों की स्तोत्र परम्परा का विशिष्ट विकास ही कृष्ण काव्य में हुआ है। स्तोत्रों की विशेषता यह थी कि उनमें इष्टदेव के रूप, गुण, वेष-भूषा, वाहन, अस्त्र शस्त्र, वरदशक्ति और देवता के पूर्व समय में किये गये कार्यों का कवित्वपूर्ण वर्णन रहता था। स्तोत्रों में इष्टदेव का महात्म्य ही गाया गया है। आनन्द-लहरी आदि काव्य भक्ति स्तोत्र ही कहलाते हैं।

वल्लभमत के कवियों ने व्रज और व्रजाधीश की लीलाओं के महात्म्य-गायन में अपूर्व प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। क्षेत्र, लीला और गुरु आदि का जो महत्व है उसका भी विपुल वर्णन इस काव्य में मिलता है। छीतस्वामी ने गुरु महात्म्य वर्णन में गुरु को ज्ञानदाता[१] पतितपावन, मनभावन, भवसागर तरिवे को अवलम्ब, अनाथ के नाथ, भक्तों को अभयदानदाता, मायावाद विनाशक और भक्ति विधायक कहा है।[२]

परमानन्ददास ने गुरु के अतिरिक्त गंगा, यमुना, भक्ति, राधा, व्रजभूमि और भक्तों के समाज का महात्म्य गाया है।

गोपीमहिमा—

गोपी प्रेम की ध्वजा।

जिन गोपाल कियो बस अपने उरधरि स्याम भुजा॥

भक्ति महात्म्य—

माधो या घर बहुत धरी।

कहन सुनन कों लीला कीन्हीं, मरजादा न टरी।

जो गोपिन कै प्रेम न होतो, अरु भागवत पुरान।

तौ सब औघड पंथहि होतो, कथत गमैया ज्ञान।

बारह बरस कौं भयो दिगम्बर, ज्ञानहीन सन्यासी।

---

१ छीतस्वामी, पृ० ४

२ वहीं, पृ० ५ से १६ तक

खानपान घरघर सबहिन के, भसम लगाय उदासी।
पाखंड दंभ बढ्यो कलिजुग में श्रद्धा धर्म भयो लोप।
परमानंददास वेद पढ़ि बिगरे, कापै कीजे कोप।

ब्रजभूमहिमा—
धनि धनि वृन्दावन के वासी।
नितप्रति चरनकमल अनुरागी, स्यामास्याम उपासी।

— — —

स्त्री गोकुल के लोग बड़ भागी।
नित उठि कमल नयन मुख निरखत, चरन कमल अनुरागी।

प्रार्थना का महात्म्य—
हरि के भजन में सब बात।
ग्यान करम सौं कठिन करि फल देत हौं दुखगात।[1]

सूरसागर मे रास के समय देवताओं तथा उद्धव के द्वारा व्रज व गोपी महात्म्य के विषय मे पद मिलते हैं। छीतस्वामी ने गुरु के अतिरिक्त यमुना, बलभद्र, वृन्दावन आदि का महात्म्य गाया है। इसी प्रकार अन्य कवियो मे महात्म्य परम्परा मिलती है। तंत्रों में महात्म्य का उद्देश्य था, देवतादि मे लाभ पहुँचाने की सामर्थ्य बताकर साधको को आकर्षित करना, यही परम्परा उक्त कवियो में भी सुरक्षित है—भक्तिमार्ग के प्रति आकर्षण तथा कृष्णभक्ति के प्रचार के लिए ही महात्म्य विस्तार इस काव्य मे किया गया है।

अभिव्यंजना पद्धति—वैष्णवभक्तों ने संस्कृत की जगह ब्रजभाषा को सांस्कृतिक भाषा का पद दिया था। अन्य लोकभाषाओं को भी भक्तों द्वारा यही सम्मान मिला। भगवान कृष्ण जिस भाषा मे यशोदा से दधियाचना करते थे भला उस भाषा का गौरव कैसे न बढ़ता ?

काव्य स्वरूप की दृष्टि से यह काव्य स्तोत्र परम्परा का काव्य है, यह हम कह चुके है। आनन्दलहरी मे शक्ति का जो सौन्दर्य वर्णन मिलता है तथा संस्कृत काव्य मे शैवो ने शिव-पार्वती प्रणय का जो वर्णन किया है, वह वैष्णव कवियो के लिए प्रेरणामूलक रहा है। जयदेव ने गीतगोविन्द मे आनन्दलहरी की "क्वणत कांची दामा करिकलभकुम्भस्तनभरा" शक्ति ही राधा के रूप मे वर्णित हुई है। आगमो के शक्तिवाद से प्रभावित होकर, ब्रह्म

---

१ परमानन्दसागर, पृ० २८७-३०६

की अंतरंगा शक्ति के रूप में राधा की कल्पना करके राधा-कृष्ण-विलास को ही कृष्णभक्तों ने अपना विषय बनाया है। अतः सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य आदि शक्ति व आदिपुरुष अथवा अव्यक्त चिरकिशोर और चिरकिशोरी तत्व का ही विलास-गायन मात्र है। यह विलास प्रत्येक परमाणु में नित्य रूप से हो रहा है, एक तत्व को केन्द्र बना कर नाना शक्ति पुंज उसके चारों ओर घूम रहे हैं, यही रास है, यही प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य है। अतः वैष्णवकाव्य स्वरूपतः शाक्त काव्य है किन्तु आगमों से प्रेरणा लेकर भक्तकवियों ने मौलिक काव्य की सृष्टि की है। उन्होंने नाना नूतन उद्भावनाएँ की हैं। सूक्ष्म सिद्धान्तों को रूप, भाव और अभिव्यक्ति दी है।

कृष्णकाव्य का सबसे प्रिय छन्द पद है। इसका सम्बन्ध आदि सिद्ध गानों से दिखाई पड़ता है। जयदेव के गीतगोविन्द में भी पदों से मिलते जुलते छन्द हैं। कृष्णकवियों ने इसी पदपरम्परा को स्वीकार किया है।

प्रतीकात्मकता—यद्यपि कृष्ण-काव्य में अभिव्यक्त साधना में प्रत्यक्ष पदार्थ भगवान का ही रूप माना जाता है, इसलिए भक्तों को मन्दिर और मूर्ति आदि को प्रतीक रूप में ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है फिर भी कृष्ण की मनोहर लीलाएँ, विराट-प्रकृति-व्यापार, जो पिंड और उसके बाहर प्रत्येक क्षण हो रहा है, को प्रतीक भी माना जा सकता है क्योंकि लीला बाह्य नहीं है, आन्तरिक है। साधक अपनी चेतना द्वारा इस लीला का सृजन और लय करता हुआ उसी में तल्लीन रहता है।

विपरीतकथन-पद्धति – रसमार्गी भक्तकवियों ने सन्तकवियों की भड़कीली काव्य-पद्धति को स्वीकार नहीं किया है। सूरदास के वल्लभमत में दीक्षित होने के पहले कुछ पद अवश्य मिलते हैं जिन पर कबीर का प्रभाव दिखाई पड़ता पड़ता है।[1] भक्ति की दीक्षा के बाद भी सूर ने साहित्यलहरी में दृष्टिकूट लिखे हैं जिनमें साधना को चमत्कारक ढंग से व्यक्त करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती

---

१ जौ लौं सत्यस्वरूप न सूझत।
तौ लौं मृगमद नाभि बिसारे, फिरत सकल बन बूझत।
(अ) अपुनपौ आपनुही में पायो।
शब्दहि शब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो।
(ब) द्रष्टव्य-अपुनपौ आपुनही बिसरयौ तथा धोखे धोखे ही डहकायो आदि।
भारतीय साधना और सूरसाहित्य से उद्धृत, पृ० ८७

है। सत्य के गोपन का प्रयत्न सभी आगमों से प्रभावित रहा है। कहा गया है कि देवता को परोक्ष-गायन ही प्रिय होता है, अतः कलाप्रदर्शन के साथ-साथ सत्य के परोक्ष-गायन की प्रवृत्ति भी इन पदों में मिलती है।[1]

हितहरिवंश सम्प्रदाय के भक्त कवियों पर तांत्रिक प्रभाव—यद्यपि सखीभाव वल्लभमत में भी स्वीकृत है तथापि राधावल्लभ सम्प्रदाय व हरिदास के सखीसम्प्रदाय में इसका विशेष विकास हुआ है। राधावल्लभ सम्प्रदाय अपने को नितान्त मौलिक मानता है। हमने सन्तकवियों के अध्ययन में देखा है कि जो अपने को नितान्त मौलिक कहते हैं उन पर तान्त्रिक प्रभाव और भी अधिक मात्रा में प्रमाणित होता है, अत: इन मौलिक मतों के कवियों को हमने वल्लभमत से अलग विवेचन का विषय बनाया है।

प्रमाणग्रंथ शीर्षक निबन्ध में ललिताचरण गोस्वामी ने यह स्वीकार किया है कि "यद्यपि विष्णुतत्व प्राचीन है तथापि प्राचीन वैदिक साहित्य में विष्णु-किंवा नारायण की उपासना पद्धति का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इस अंग की पूर्ति वैष्णव आगम ने की है जो अपने को वेदों का अंग मानता है और अपना सम्बन्ध वेद की एकायनशाखा से बतलाता है। आगमों का प्रथम कार्य वेदों के हिंसाबहुल यज्ञों के स्थान पर हिंसाशून्य यज्ञों का प्रचार करना था और दूसरा कार्य विष्णुकिंवा नारायण को परमतत्व मानकर एक सरस एवं समृद्ध उपासना पद्धति का विकास करना था। आगमों में वेद प्रतिपादित आध्यात्मिक रहस्यों का स्वतन्त्र दृष्टि से विचार किया गया है।[2]

स्पष्ट ही उक्त लेखक आगमों को वैष्णव सम्प्रदाय का मूल स्रोत मानता है। उक्त लेखक का मत है कि हितहरिवंश मत में दार्शनिकवाद के लिए स्थान नहीं, यहाँ प्रेमतत्व की ही स्वीकृति है। किन्तु भागवत् के प्रेम तत्व

---

१ परोक्ष प्रियाह वै देवा-द्रष्टव्य सूरनिर्णय, प्रभुदयाल मीतल, मथुरा, पृ० ३०३

(अ) दृष्टिकूट का उदाहरणः—ऊधौ जू मन की मनहिं रही।
पंचमुख दृग आठ जाके द्वादश चर न यही।
आठ नारी द्वै भरतारी, जुगल पुरुष इक नारी गही।
चारि वेद दुहि ललो सावरी नैनन सेन दई।—परमानन्दसागर, पृ० ३२१

२ श्रीहितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य-ललिताचरण गोस्वामी, वृन्दावन, संवत् २०१४, पृ० ५७-५८

से इस मत का प्रेमतत्व कुछ भिन्न है। अतः हितहरिवंश की वाणी ही प्रमाण मानी गई है। भागवत या अन्य पुराण नहीं। इसीलिए इस मत में हितहरिवंश के पद तथा उनके राधासुधानिधि नामक ग्रन्थ के ही भाष्य मिलते हैं।

हित या प्रेम तत्व—इस मत में प्रेम व भगवान को अभिन्न माना गया है। प्रेम को कुछ लोगों ने "शक्ति और भगवान" से अर्थात् शक्ति और शक्तिमान के रूप में भी ग्रहण किया है। किन्तु ललिताचरण जी के अनुसार इस मत में जीव व भगवान दोनों को प्रेम के अधीन बताया गया है। प्रेम को ही हित कहा गया है। प्रेम दो तत्वों के सम्बन्ध विशेष का नाम है। अतः यह दोनों की एकता स्थापित करता है।[1]

किन्तु प्रेम की यह परिभाषा स्वीकार कर लेने पर भी प्रश्न तो यह होगा कि ये दो तत्व कौन हैं। निश्चित रूप से ये दो तत्व राधा और कृष्ण हैं और ये शक्ति और शक्तिमान के ही भिन्न नाम है।[2] श्री ललिताचरण ने भी राधा और कृष्ण को भोक्ता और भोग्य कहा है और इन दोनों की प्रीति को अपने व्यक्तित्व में प्रतिबिम्बित करने वाले जीवों को ही सखी कहा गया है।[3] स्पष्ट ही इस विवेचन से शक्ति और शक्तिमान का सिद्धान्त ही पुष्ट होता है।

नित्य विहार—कहा गया है कि एक ही प्रेमतत्व राधा, कृष्ण व सहचरी-गण व वृन्दावन के रूप में प्रकट होता है अतः इनकी रसमयी क्रीडा का नाम "नित्यविहार" है। अद्वैतवाद को पुष्ट करने के लिये कहा गया है कि प्रेम या हित ही क्रीडक है और वही क्रीडा है—

जो है नित्य विहार रस, वैभव हित अभिलाष।
सोई खिलारो खेल सो, आपुहि करत विलास।[4]

राधाकृष्ण की रति का ऐक्य ही सहचरीतत्व है, इसे "हितसंधि" भी कहा गया है। राधाकृष्ण अद्वय अवस्था से लीलाधारी द्वैत रूप धारण करते हैं,

---

१ श्री हितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय पृ० ७६
२ राधासुधानिधि स्तोत्र, ३
३ वही, पृ० ८२
४ श्री हितहरि० गो० सम्प्र० पृ० ८३

क्याकि वे जीव या सहचरी की व्याकुलता नही देख सकते ।[1]

निश्चित रूप से प्रेम के मनोहर सिद्धान्त की कल्पना मे यहाँ मौलिकता दिखाई पडती है कि तु इसका आधार आगमो या शक्तिवादी सिद्धान्त ही है। राधा की स्तुति और आनन्दलहरी मे देवी की स्तुति म अद्भुत सादृश्य है।[2]

आगमा म साधना को आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया गया था। उसकी प्रतिध्वनि सेवक जी के इन शब्दा म मिलती है।

"मैंने सब अवतारा का भजन करके देख लिया है किन्तु उनम प्रीति का प्रकाश उतना न होने के कारण मन का पूर्ण आकर्षण नही होता। इसके बाद मैंने प्रेम स्वरूप व्रजेन्द्रनन्दन के महाव्रजवैभव का भजन करके देखा है किन्तु वहाँ अनेक प्रकार की लीलाओ का चक्र चित्त का जमने नही देता।[3]

तात्पर्य यह है कि वल्लभमत म लीलाओ की अनन्तता है। अत उससे भी अधिक आकर्षित करने वाली साधना पद्धति का आविष्कार हितहरिवश के

---

१ सो हित सधि सखी जु जब अतिशय व्याकुल होइ।
तब प्रगटे हित होय तें, एक प्रान तन दोइ ॥--वही, पृ० ८६

२ पादागुली निहितदृष्टिमपत्रपिष्णु
दूरादुदीक्ष्य रसिकेन्द्रमुखेन्दुबिम्बम् ।
वीक्ष्ये चलत्पदगति चरिताभिरामा,
झकार नुपुरवती बात कहि राधाम् ।

शिव शक्ति के नित्यविलास का ही राधा कृष्ण के नाम से नित्य-विहार राधासुधानिधि मे किया गया है—

निज प्राणेश्वर्या यदपि दयनीयेयमितिमां
मुहुश्चु बन्त्यालिगीत सुरतमाध्व्या मदयति। (श्लोक ५५)
अहो रसिकशेखर स्फुरति कोपि वृन्दावने ।
निकुजनवनागरीकुचकिशोर केलिप्रिय । (श्लोक १११)
क्षण सीत्कुर्वती क्षणमथ महावेपुथमती ।
क्षण श्यामश्यामेत्य मुमभिलपती पुलकिता ।
महाप्रेमा कापि प्रमदमदनोद्दामरसदा ।
सदानदा मूर्त्तिर्जयति वृषभानो कुलमणि । (श्लोक २०३)

३ श्री हितहरि गोस्वामी सम्प्रदाय, पृ० ८७

द्वारा हुआ था जिसमे प्रेम और प्रमोदन्दिनी राधा को आधार बनाया गया था। इसलिए इस मत पर तात्र प्रभाव और भी अधिक मात्रा म दिखाई पडता है।

हित की रसरूपता—आध्यात्मिक रस लौकिक रस तथा काव्यरस से भिन्न माना गया है किन्तु गौडिया भक्तों ने साहित्यशास्त्र की पद्धति पर भक्तिरस का जिस प्रकार वर्णन किया है उस प्रकार इस मत मे नहीं मिलता। इस मत म रति या प्रेम ही आस्वादित होकर रस कहलाता है और राधाकृष्ण को प्रेम का कारण भी माना गया है और कार्य भी। अत: इन्हे रस का आलम्बन मात्र नहीं माना गया क्योकि जहाँ रस स्वत ही केलि का प्रयोजक माना गया है वहाँ नायक नायिका की आवश्यकता ही नहीं—

नायक तहाँ न नायिका, रस करवावत केलि।[1]

अर्थात् इस मत म राधाकृष्ण की रति पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है। किन्तु यह सब तन्त्रो के कामकला विलास का ही विकास है। कहा गया है कि शिव ने काम को भस्म कर दिया था, राधा न पुन जीवित कर उसे पुन नूतन बना दिया गया था। अत. कामकेलि का वर्णन ही इस मत का उद्देश्य है।[2]

द्विदल सिद्धात—वल्लभ और चैतन्य ने विरहभाव पर भी बल दिया था। परन्तु यहाँ सयोग और वियोग दोना की स्थिति एक ही साथ मानी गई है। इसे द्विदल सिद्धान्त कहा गया है। "युगलकिशोर के अगप्रत्यग सटे रहने पर भी वे अनमिले अनुभव करते हैं।" विरह का वही रूप इस मत मे स्वीकृत है—

मिले अनमिले रहत विवि अग अग अकुलाइ।
प्रेमहि विरह सरूप जहां, यह रस कह्यो न जाइ।[3]

इस प्रकार विरह भाव को कम महत्व देने के कारण इस मत म रसकेलि चित्रण की अति मिलती है।

---

१ श्री हितहरि० गो० सम्प्र० पृ० १०१
२ वही, पृ० १०४
३ वही, पृ० १११ तथा द्रष्टव्य—राधासुधानिधिस्तोत्र, पद्य ४६
अकस्थितेपि दयिते किमपि प्रलाप
हा मोहनेति मधुर विदधत्यकस्मात्।

वृन्दावन—आगमो और पुराणो के आधार पर वैष्णवो ने वृन्दावन को गोलोक का एक भाग माना था। वृन्दावन को विष्णुपुराण मे सधिनीशक्ति का विकास माना गया है।[1] राधावल्लभ सम्प्रदाय मे प्रेम की ही तरह वृन्दावन को नित्यनूतन और नित्य एकरस माना गया है।[2] उसे परमप्रेम की मूर्ति कहा गया है।[3] वैकुण्ठ की जगह वृन्दावन को राधाविहारविपिन मानकर तथा लक्ष्मी की जगह "केलिमगना" राधा के स्वरूप को स्वीकार करने के कारण, इस मत पर आगमो का प्रभाव बढा है, घटा नही। इस वृन्दावन के कुंज-कुंज मे सगमसंजोग और सुख का इसीलिए नित्य अस्तित्व माना गया है—

कुंज कुंज सैन सुखद मैन ऐन कुज कुज।
कुज कुंज संगम सजोग सुख निशानी को॥
कुंज कुंज संज्जित शृंगार सौंज नई नई।
कुंज कुंज भोग जोग सौंधौ मनमानी को।[4]

युगलकेलि—इस मत मे लौकिक प्रेम पद्धति पर राधाकृष्ण की कामकेलि का निर्भय होकर वर्णन किया गया है। तान्त्रिको की यामल-साधना और इस कामकेलि मे कोई अन्तर नही दिखाई पडता—

नवल नागरि, नवल नागर किशोर मिलि-
कुज कोमल कमल-दलनि सिज्या रची।
गौर सांवल अंग रुचिर तापर मिले—
सरस मणिनील मानो मृदुल कंचन खची।
सुरत नीबी निबन्ध हेत प्रिय मानिनी-
प्रिया की भुजनि मे कलह मोहन मची।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत रोष-
हुँकार गर्व दृग-भंगिम मामिनि लची।
कोटि कोटिक रभस रहसि हरिवश हित-
विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची।

---

१ ललिताचरण गो०, पृ० १४६
२ द्रष्टव्य—राधासुधानिधि—श्लोक २१६, २२१, २६५
३ ललिता०. पृ० १५३
४ वही, पृ० १६२

प्रणयमय रसिक ललितादि लोचन चषक-
पिवत मकरन्द सुख-राशि अन्तर सची-हितचोरासी[1]

राधावल्लभमत की कामोक्ति-प्रधानता का यह परमरूप है। ललितादि सखियाँ अपने लोचनचषक इसी "सुखराशि" से आपूरित करती हैं, इसी लीलादर्शन को इस मत में "पुरुषार्थ" माना गया है। राधाकृष्ण को पति-पत्नी का रूप देकर मौलिकता की घोषणा की गई है—

"शुकदेवजी ने जिस लीला का वर्णन किया है वह भगवान व गोपियों की लीला है। दूलह-दुलहिन की लीला दो समान रसिकों का रसविहार है। यह दोनों केवल रसिक हैं और कुछ नहीं। भगवत्ता और गोपीत्व सहज प्रेम की दृष्टि से विजातीय तत्व हैं।[2]

वस्तुतः कृष्ण व गोपी की जगह 'राधा-कृष्ण' का पति-पत्नी-रूप प्रतिपादन कोई असाधारण उपलब्धि नहीं है, यह सब पहले ही हो चुका था। आगमों में पग-पग पर कहा गया है कि शिव व उमा पति-पत्नी हैं। जिस प्रकार बिना शक्ति के शिव शव के समान कहे गये हैं, उसी प्रकार राधावल्लभमत में कृष्ण राधा के सम्मुख अपने को "दीन" और "अधीन" दिखाते हैं—

ऐसी जिय होय जो जिय सौं जिय मिलै,
तन सौं तन समाया त्यौं तो देखौं कहा हो प्यारी।
तोहि सौं हिलग, आँखिन सौं आँखि मिली रहैं,
जीवन को यहै लहा हो प्यारी।
मोकों इतौ साज कहाँ री प्यारी, हौं अति दीन दुबबस,
भ्रूक्षेप न जाइ सहा हो प्यारी।
श्री हरिदास के स्वामी स्याम कहत राखिलै बाँह बल—
हौं "बपुरा" कहा-कहा हो प्यारी।[3]

राधातत्व—राधावल्लभ सम्प्रदाय में शाक्तों की ही तरह राधातत्व को कृष्णतत्व से अधिक महत्व दिया गया है। राधावेलि के ध्यान के आगे वेद की भी उपेक्षा की गई है। हितहरिवंश ने लिखा है कि मेरे प्राणनाथ श्री स्यामा

१ राधा सुधानिधि में श्री हितहरिवंश ने "महालंपटमणि"
कृष्ण का राधा के साथ रति का मुक्ति होकर वर्णन किया है)
२ ललिता०, पृ० १८०
३ केलिमाल से उद्धृत-द्रष्टव्य-ललिताचरण गोस्वामी, पृ० १६०

ही हैं।[1] ललिताचरण गोस्वामी ने लिखा है कि हितप्रभु ने अपने प्रेम सिद्धान्त की रचना इस प्रकार की है कि श्री राधा के प्रति उनका सहज पक्षपात शक्तिवाद नही बन पाया है।[2]

इस घोषणा में सत्य का अंश इतना ही है कि प्रेम-तत्व पर इस मत में आगमों से अधिक बल दिया गया है। परन्तु प्रेमभावना के क्षेत्र मे अनेक नये आविष्कार होने पर भी सिद्धान्ततः यह शक्तिवाद का ही पल्लवन है।

सहचरीतत्व—राधावल्लभमत में सहचरीगण भी परात्पर प्रेमरूपा ही हैं। ये राधा-कृष्ण प्रेम में सहायता करती हैं। सहचरियो के प्रेम को युगल के प्रेम से भी सरस कहा गया है क्योकि इनके प्रेम मे "नेम" नही होता जबकि युगल के प्रेम मे प्रेम और नियम दोनो रहते हैं—

लाल लाड़ली प्रेम तें सरस सखिनु को प्रेम।
प्रटकों हैं निजु प्रेमरस परसत तिनहिं न नेम-प्रेमलता[3]

युगल को सखियो की इच्छा के अधीन माना गया है। सखियाँ राधाकृष्ण को केलि मे निमग्न करने के लिए उत्साहित ही नही करती, अपितु कृष्ण के करो से राधा के उरोजों का स्पर्श करने मे सहायता भी पहुँचाती हैं।[4] युगल की आसक्ति के उपभोग को सखियाँ स्वरूप का ही उपभोग मानती हैं।

शाक्तागमो मे शक्ति व शक्तिमान की एकता के दर्शन भी साधक द्रष्टा होकर ही करता है। आनन्दलहरी मे देवी के कुचो और कुचो के नीचे ध्यानकेन्द्रित करने को कहा गया है—

---

१ केलिमाल से उद्धृत-द्रष्टव्य-ललिताचरण गोस्वामी, पृ० २०४—
रहौ कोऊ काहू मनहिं दिये।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा शपथ करौं तृण छिये।
(इसके सिवा राधा सुधानिधि में राधा का स्तवन शाक्त प्रभाव को स्पष्टतः ध्वनित करता है)

२ वही, पृ० ३१६

३ वही, पृ० २२५

४ होत बिवस तब तबही पिय प्यारी, सावधान तहाँ सखी हितकारी।
कुँअरि अधर पिय अधरनि लावैं, रूपवदन नैननि दरसावैं।
पिय के कर लै उरज छुवावैं, मनौं मैन कौ खेल खिलावहिं।
ऐसी भाँति तब लाड़ लड़ावैं ताही सौं अपनौ जिय ज्यावैं—रतिमंजरी, वही, पृ० २२८

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो ।
हरार्धं ध्यायेद्धरमहिषि ते मन्मथकलाम् ।[1]

"कामत्रिपुरा देवी और शिव के विहार" का वर्णन शाक्तागमों में विस्तार से वर्णित है ।[2] पर, राधा की कामकेलि को भी यदि जीवरूपी-सहचरियाँ देखती हैं तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं है ।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने राधावल्लभ सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत राधातत्व के विषय में लिखा है कि राधा को परात्परतत्व और सर्वशक्तिमती मानने से उसके शक्तिरूप में उपास्य होने का सन्देह होना स्वाभाविक है । इस सन्देह के निवारण के लिए ये तर्क प्रस्तुत किये हैं—

१—शक्ति की आराधना के लिए तान्त्रिक पद्धति में जिन लौकिक कृत्यों का विधान है, वैसा कोई विधान राधा की उपासना के लिए नहीं है ।

२—शक्ति आराधक शक्ति को 'माता' के रूप में उपास्य मानते हैं, किन्तु राधा की कल्पना माता के रूप में नहीं है । इस मत में प्रिया के कृपाकटाक्ष की कामना की जाती है ।

३—राधावल्लभ सम्प्रदाय के आद्याचार्य ने शक्ति-शक्तिमान के रूप में राधा-कृष्ण का वर्णन नहीं किया ।[3]

इन तीनों तर्कों से यह सिद्ध नहीं होता कि राधा और कृष्ण का जो स्वरूप इस मत द्वारा कल्पित है उस पर शक्तिवाद का प्रभाव नहीं है ।

१—सिद्धान्ततः राधा व पराशक्ति में कोई अन्तर नहीं है ।

२—आगमों में वर्णित कामकला विलास में शक्ति व शक्तिमान की कामक्रीडा का ध्यान स्वीकृत है । राधा और कृष्ण कामेश्वर और कामेश्वरी के आदर्श पर ही कल्पित हैं ।

३—शक्ति व शक्तिमान के आधार पर राधाकृष्ण का विकास हुआ है और विकास में गुणात्मक अन्तर अवश्य आता है, परन्तु वह अन्तर ऐसा नहीं है जो राधा और शक्ति में मौलिक भिन्नता स्थापित कर सके ।

---

१ आनन्दलहरी आर्थर एवेलोन, पृ० ३२

२ वही, पृ० ५६

३ राधावल्लभ सम्प्रदाय—डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० २१३, दिल्ली सवत २०१४

४—कामकेलि के आधिक्य पर आगमों का अवश्य प्रभाव दिखाई पड़ता है। प्रेमरूपिणी "गिरजा" से गोपियां तक जब पति का प्रेम मांगती थी तब शक्ति व शक्तिमान मे प्रेम के अभाव की कल्पना कैसे हो सकती है। हाँ, राधाकृष्ण के प्रेम में मनोवैज्ञानिकता का विस्तार अवश्य दिखाई पड़ता है।

५—शक्तिपूजा मे बलि व पंचमकार अनिवार्य-तत्त्व नही हैं। दक्षिणाचारी शाक्त व शैव भावसाधना ही करते हैं। तेरहवी शताब्दी के बाद के शाक्तमत मे भी भावसाधना ही प्रबलतर है।

साधना—राधावल्लभ-मत मे बाह्यसाधना का महत्त्व अन्य सम्प्रदायो की तुलना में नगण्य है।

मंत्र—मंत्र व रूप का सम्बन्ध पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। इस मत मे ऐसा विश्वास है कि प्रथम देवता का रूपदर्शन होता है, पीछे नाम स्फुरित होता है। कहते हैं कि हितहरिवंश को राधा ने स्वत: प्रकट होकर अपने नाम का मंत्र दिया था। "श्री राधा" नाम ही मंत्र है।

इसलिए अन्य मंत्रो की इस मत मे कोई आवश्यकता नही समझी गई है। काष्ठ या पाषाण पर श्रीराधा मंत्र लिखकर पवित्र स्थानो पर स्थापित किया जाता है। इसे नाम सेवा कहा गया है।[1] सेवक जी ने नामजप पर बहुत बल दिया है—

नाम रटत आई सब सोहि

अर्थात् नाम रटने से ही मेरे हृदय मे सम्पूर्ण शोभा आई है।[2] तंत्रों की ही तरह इस मत में भी 'नामजप' द्वारा नामी का प्रकट होना सम्भव बताया गया है—

> स्वासहि नाम, नाम ही स्वासा, नाम स्वास को भेद मिटावै।
> रोमरोम रग रग जब बौलै, तब कछु स्वाद नाम को पावै॥
> इन्द्रिय मन सब होइ नाम जब, सकल विषय फुरना जु नसावै।
> बाहिर कछू न कछू तब भीतर, जिय अरु नाम एक ह्वै जावै॥
> तब निजु रूप नाम को प्रकटै, तन में अविन सहज-दिखावै।
> तापै हित उमगीली जोरी तन-मन उमगि उमगि उमगावै।[3]

१ राधावल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २५४
२ ललिताचरण गोस्वामी, पृ० ३०२
३ वही, पृ० ३०३

नाम व नामी की एकता ही नामजप की विशेषता है। मंत्र से ही देवता प्रकट होता है, यह तन्त्रों का स्पष्ट मत है। सेवकजी ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है—

नित-नित श्री हरिवंश नाम छिन छिन जु रटत नर।
नित-नित रहत प्रसन्न तहाँ, दम्पति किशोर वर।[1]

इस सम्प्रदाय मे "शरणागति मंत्र" व "निजमन्त्र" के विषय मे कहा गया है कि इनमें न तो तन्त्रों की तरह ह्रीं, क्लीं आदि बीजमन्त्र जोड़े जाते हैं और न नमः और शरण आदि शब्द ही जोड़े जाते हैं। परन्तु यह स्मरणीय है कि इतनी नवीनता के बावजूद हैं ये मन्त्र ही। नाम-महिमा का एक पद द्रष्टव्य है, इससे भी राधानामक मंत्र की महिमा ही प्रकट होती है—

परम धन 'राधा' नाम अधार।
जाहि स्याम मुरली मे टेरत, सुमिरत बारबार।
जन्त्र, मन्त्र वेद-तन्त्र मे, सबै तार कौ तार।[2]

गुरुतत्व—सभी आगममूलक मतों की तरह इस मत में भी गुरु का अमित महत्व है। इस सम्प्रदाय मे राधा को ही गुरु माना गया है। हितहरिवंश को इतना अधिक महत्व दिया गया है कि वह "हित" के मूर्तरूप माने गये हैं, उन्हें भगवान कृष्ण के वेणु का भी अवतार कहा गया है। व्यास जी ने गुरु और गोविन्द को एक समान माना है—

गुरु गोविन्द एक समान।
वेद पुरान कहत भागवत, ते जु वचन परमान।[3]

सेवा – दास जिस प्रकार राजा की सेवा तन मन से करता है, उसी प्रकार की सेवा का नाम, इस मत के अनुसार परिचर्या है। इस मत मे दासी भाव से राधा कृष्ण की सेवा की जाती है—

तिय के तन कौ भाव धरि, सेवाहित शृंगार।
युगल महल की टहल कौ, तब पावै अधिकार।[4]

---

१ ललिता चरण गोस्वामी पृ० ३०६
२ भक्तकवि व्यासजी, सम्पा० वासुदेव गोस्वामी, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, स० २००६ पृ० १६६
३ वही, पृ० १६१
४ ध्रुवदास का भजनसत द्रष्टव्य-श्रीहितहरिवंश गो० सम्प्रदाय पृ० २८१

अष्टसेवा में भक्तजन राधा-कृष्ण के विग्रह की सेवा करते हैं। त्रिभंगी मुद्रा में वेणुवादन तत्पर कृष्ण की मूर्त्ति तथा उनके वामांग में राधा की "गादी" या आसन इस मत में सेवा का विषय है। शक्ति सहित देवता की सेवा पर बहुत बल दिया गया है—

"राधा के बिना न तो श्रीहरि का पूजन करना चाहिए, न ध्यान करना चाहिए और न जप करना चाहिए"।[1]

इस मत मे युगल की अष्टयाम सेवा मे मंगला, शृंगार, राजभोग, उत्थापन, सन्ध्या, शयन व दोयासमय—अन्य सम्प्रदायो की ही तरह स्वीकृत हैं। डा० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार "रुद्रयामल तंत्र" से संकलित कर अष्टयामसेवा विधि नामक पुस्तक भी, गोस्वामी हित रूपलालजी ने वृन्दावन से प्रकाशित कराई है।[2] उक्त नित्यसेवा के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायो की ही तरह विशेष पर्वों पर नैमित्तिक सेवा का आयोजन किया जाता है।

तिलक व कण्ठी—तिलक व कंठी का दीक्षा के पश्चात् धारण करना अनिवार्य माना गया है। तिलक मे दो सीधी रेखाओं को कृष्ण व दोनों के बीच एक बिन्दी को राधा का प्रतीक माना जाता है। इसी तरह दो लर वाली कंठी को भी युगल का रूप माना जाता है।[3]

वाह्यसेवाविधि की दृष्टि से अन्य वैष्णव सम्प्रदायो की तरह इस मत की उपासना वैदिक कर्मकांड से भिन्न है और स्पष्टत: आगममूलक है, क्योंकि मंदिर, मूर्त्ति आदि सभी तत्व यहाँ स्वीकृत हैं। कहा गया है कि इस मत मे सेवा के समय वैदिक, तान्त्रिक व पौराणिक मत्रो का प्रयोग नही होता, परन्तु तत्रो का अटल सिद्धान्त है कि तत्व-परामर्श के समय जो मुख से निकले वही मंत्र है, अत: "राधा" नाम मंत्र ही है। इसलिए यह कहना सही नही है कि "वेदो मे, तत्रो मे और पुराणों मे अनेक प्रकार की श्रीकृष्णसेवा बताई गई है। यह सब मंत्रात्मिका है। विभिन्न मंत्रों-से निष्पन्न होने वाली है, हमारे यहाँ तो श्रीगुरु की कृपा से अपने भाव एवं अपनी कुल-परिपाटी के अनुसार प्रेमपूर्ण

---

१ ललिताचरण गोस्वामी, पृ० २८४

२ राधावल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २५५

३ वही, पृ० २६३

सेवा ही प्रकाशित होती है"।[1] इस प्रकार इस मत में नाम और नामी का सम्बन्ध नाम और रूप का सम्बन्ध, कृपा या शक्तिपात, मंदिर और मूर्त्तिपूजा आदि तत्वों पर तान्त्रिक प्रभाव देखा जा सकता है।

सखी सम्प्रदाय में कामकेलिप्रधान वर्णनों की अधिकता—हमारे विवेच्य काल के हितहरिवंश, हरिराम व्यास तथा ध्रुवदास आदि कवियों ने राधा-कृष्ण की संयोग-लीलाओं में आराध्य की कामकेलि का ही अधिक वर्णन किया है। इस प्रवृत्ति पर निश्चित रूप से आगमों का ही प्रभाव माना जाना चाहिए।

हितचौरासी में ललिताचरण गोस्वामी के अनुसार सबसे अधिक पद "सुरतान्त" के हैं, सुरत के कम हैं, किन्तु सुरतान्त के वर्णन भी जब ध्यान के विषय बनते हैं तो इस विशिष्ट साधना-पद्धति पर आगमों का प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है—

> झूलत दोउ नवल किशोर।
> रजनी जनित रंग सुख सूचत, अगअंग, उठि भोर।
> रसिक रास जहाँ खेलत स्यामा-स्याम किशोर।
> उभै बाहु पारस्परभित, उठे उनींदे भोर।[2]

हितहरिवंश ने सुरत के भी उत्तेजक चित्र दिये हैं—

> आज बन क्रीड़त स्यामा स्याम।
> रहन अधर करत परिरंभन, ऐंचत जघन दुकूल।
> उर नख घात तिरोछी चितवनि, दंपति रस समतूल॥
> वे भुज पीन पयोधर परसत वामदृशा पिय हार।
> वसननि पीक अलक आकर्षत, समर श्रमति सतमार॥
> पल-पल प्रबल चौंप रस लम्पट, अति सुन्दर सुकुमार।[3]

जो कृष्ण महाभारत और अन्य पुराणों में पराक्रम, राजनीति व पाण्डित्य के प्रतीक थे, उनका यह रसलम्पटरूप देखकर केवल यह कहना काफी नहीं है कि यह कविकल्पना है, क्योंकि यह रसलम्पट रूप तथा इस रूप में

---

१ व्रजलाल गोस्वामी के एक संस्कृत पद्य का अर्थ-ललिताचरण गोस्वामी से उद्धृत, पृ० २८७

२ वही, पृ० ३६१-३६२

३ द्रष्टव्य—ललिताचरण गोस्वामी, पृ० ३७५ से ३८१

की गई लीलाएँ "मानस प्रत्यक्ष" के रूप म ग्रहण की गई हैं। कवि कल्पना तो इस विशिष्ट साधना पद्धति को केवल वाणी देने का साधनमात्र है। इसीलिए इसे आगम-पद्धति के रूप मे ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यह प्रवृत्ति सर्व प्रथम तान्त्रिक परम्परा मे ही विकसित हुई थी। हितहरिवंश के समय भी इस साधना को अधर्म कहने वाल बहुत स लोग थे, अत व्यासजी ने उन्हे जवाब देते हुए अपनी वामपथी प्रवृत्ति का परिचय दिया है—

जासौं लोग अधर्म कहत हैं, सोई धर्म है मेरो।
लोग दाहिने मारग लाग्यो, हौंव चलत हौं डेरो।
द्वै द्वै लोचन सबही कं, हौं एक आँखि को ढेरो॥[1]

व्यास जी ने तो अपने गुरु से भी अधिक मात्रा में कामकेलि का वर्णन किया है—

आजु लवगलता गृह विहरत, राजत कुंजविहारी।
प्रथम अग प्रति अगसग करि, मुख चुम्बन सुखकारी॥
तब कचुकि बद खोलत, बोलत चाटु वचन दुखहारी।
हस्तकमल करि विमल उरज धरि, हरि पावत सुख भारी॥
वधू कपट भुज पटनि दुरावति, कोप भृकुटि अनियारी।
नावी मोचत मुच अलकृत, नेति कहत सकुमारी॥
कोक कुसल रसरीति प्रीतिबस, रति प्रगटत पिय प्यारी।
अधर सुधामद मादक पीवत, आरजपथ सो सींव विदारी॥[2]

आर्यपथ की सीमा तोडने के कारण ही व्यासजी ने अपने को वामपथी कहा है। उन्होंने इस दिव्य रति के अतिरिक्त वसन, स्नानसमय, वेनी गुहन, हास, उरज, चरण, अग, षोडश शृगार, कृष्ण द्वारा राधाचरण स्पर्श, बतरस, बसीवट क्रीडा, भेषपलट, रास, अभिसार, सैयारस से लेकर विपरीत विहार[3]

१ भक्तकवि व्यासजी, पृ० २४६
२ भक्तकवि व्यासजी, पृ० २७६
३ आज बन विहरत जुगलकिशोर।
कामिनि कुटिल तमकि तन झूलत, रति विपरीति हिलोर।
कामी करत बयारि, स्त्रमित प्यारी बसनांचल छोर॥
अधरामृत माते कोऊ काहू, गनत न, जोबन जोर।
हरि-उर ऊपर विलसत दोऊ, पान पयोधर टोर॥
कबहू कामिनि के हरि पाइन, लागत लेत निहोर।—महाकवि व्यासजी, पृ० ३४५

और सुरतयुद्ध[1] तक का निःसंकोच वर्णन किया है। प्राकृत कामकेलि का कोई ऐसा रूप नहीं है जिसे सखी-सम्प्रदाय के कवियों ने वाणी न दी हो।

निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों पर तांत्रिक-प्रभाव

शक्ति-शक्तिमान् की युगल उपासना निम्बार्क सम्प्रदाय की विशेषता है।[2] शक्ति-शक्तिमान् की यह उपासना मूलतः शक्ति और शिव की उपासना के रूप में प्रचलित थी यह कहा जा चुका है। निम्बार्क मत शक्तिवाद द्वारा ही सृष्टि-प्रक्रिया की व्याख्या करता है। सखीभाव से युगलरति का ध्यान इस मत में ध्येय माना जाता है। निम्बार्क ने रति के ध्यान को साधना का माध्यम बनाया, यह स्पष्टतः तान्त्रिक प्रभाव है।

जयदेव निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि माने जाते हैं। जो हो, यह स्पष्ट है कि जयदेव के 'गीतगोविन्द' में राधा-कृष्ण के विहार का मुक्त होकर वर्णन किया गया है। परवर्ती कवियों के लिए गीत गोविन्द एक अनुकरणीय आदर्श काव्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

श्रीभट्ट—युगलशतक निम्बार्क सम्प्रदाय की प्रथम हिन्दी कृति मानी जाती है। सम्प्रदाय युगलशतक के लेखक श्रीभट्ट का समय १३ वीं और १४ वीं शताब्दी के मध्य मानता है किन्तु "ब्रजमाधुरीसार" और हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनका समय विक्रम की १६ वीं शताब्दी माना गया है। युगल शतक में सखीभाव से विहाररत राधा-कृष्ण की सेवा और ध्यान का वर्णन है। गोपियों के बीच युगल-विहार का मधुर वर्णन श्रीभट्ट तन्मय होकर करते हैं। शक्ति और शक्तिमान की तात्विक एकता पर तान्त्रिकों की ही तरह सर्वत्र बल दिया गया है—

> दर्पन में प्रतिबिंब ज्यों, नैननु नैननि माहि।
> यों प्यारे पिय पलकहु, न्यारे नहिं दरसाहिं॥

---

१ आजु अति कोपे स्यामा स्याम।
बीर खेत वृन्दावन दोऊ, करत सुरत संग्राम।

२ स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याण गुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्मपरं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।
अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्॥
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् – निम्बार्क
द्रष्टव्य-निम्बार्क—माधुरी, ब्रह्मचारी-बिहारीशरण, संवत् १९९७
वृन्दावन, पृ०१ (प्रस्तावना)

भक्तगणों का उद्देश्य राधाकृष्ण ही मधुर लीला का ध्यान है, अत गुह्यरति के वर्णन मे भी श्रीभट्ट सकुचित नही होते—

दोउ मिलि करत मांवती बतियां।
मदनगोपाल कुंअरि राधे के नखमनि अक लिखत उर छतियां।[1]
ज्यों-ज्यों चूनरि सगबगे, त्यों त्यों लाचत हीय।
भींजत कुजनि ते दोऊ, आवत प्यारे पीय॥

श्री हरिव्यासदेव जी—श्री हरिव्यास जी को कोई राधावल्लभ सम्प्रदाय का मानते हैं, और कोई निम्बार्क सम्प्रदाय का। जो हो, इनकी महावाणी युगल शतक के भाष्य के रूप मे प्रसिद्ध है। इसके पाँच अग हैं, सेवा, उत्साह, सुरत, सहज और सिद्धान्त। इनमे राधा-कृष्ण की गुह्य-रति का अति विस्तार मिलता है।

नवल डाढ़ी कर गहे दोऊ, भूमि भुकि रस लेत।
मदुल अग मनोज मोहन, सुरत सग निकेत॥
नवल केलि कला कुतूहल, रमत रहसि उमाहिं।
रुख लिए दोउ रसिक सम्मुख, सुख न बरन्यो जाहिं।[2]

शक्ति शक्तिमान् की यह गुह्यरति ही भक्तो का उद्धार करने वाली है अर्थात् राग का ध्यान ही राग का नाशक माना गया है। कामवासना पर विजय कन्दर्प-विजयी कृष्ण और राधा की रति के ध्यान द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, यह तान्त्रिक सिद्धान्त यहाँ स्वीकृत है—

जयति सुरति रनधीर दोऊ कुंअर।
कुलमडने खडने दर्प कन्दर्प दल के॥[3]

युगल तत्व की इस अखड केलि को ही कवि अपना सर्वस्व समझता है। इस सिद्धान्त को "वेदतत्र का मत्र" कहता है और राधा-कृष्ण को "नित्य जोडी" को परमतत्व के रूप मे स्वीकार करता है, भाषा की भिन्नता होते हुए भी तान्त्रिको के शक्ति-शक्तिमान् की एकता का सिद्धान्त ही यहाँ प्रतिपादित हुआ है—

---

१ बहुमतियां फूल्यो विपिन, रतियां सरद सुहात।
बातयां मांवति करत उर, छतियां अक लिखात॥
निम्बार्क माधुरी, पृ० १६

२ निम्बार्क माधुरी, पृ० ५०

३ वही, पृ० ५४

वेदतंत्र को मंत्र मनोहर श्री वृन्दावन नित्य विहार।
सूक्ष्म कलरव जन्य ब्रह्म पर परमधाम को परमाधार ॥
निरवधि नित्य अलंडित जोरी, गोरी स्यामल सहज उदार।
आदि, अनन्त एक रस अद्भुत, मुक्ति परे पर सुख दातार ॥[1]

श्री व्यास ने स्पष्ट कहा है कि तत्व एक ही है, उसके नाम दो हैं, राधा और कृष्ण में कोई तात्विक अन्तर नहीं है—

एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
आनद के अह्लादिनि स्यामा, अह्लादिनि आनन्द स्याम। (नि०)

व्यास जी अन्य भक्तों की ही तरह भगवान के अनुग्रह या शक्तिपात को ही एकमात्र साधन मानते हैं—

साधन करि नाकादि फल, नस्वर पावत जीव।
एक कृपा ही करि कछू, सिद्ध होय सो होय ॥ (नि० मा०)

शक्तिपात के विश्वासी विधि-निषेध के विरोधी होते हैं, यह तांत्रिक सिद्धान्त भी व्यास जी मे प्राप्त होता है—

विधि निषेध आदिक जिते, कर्म धर्म तजि तास।
प्रभु के आश्रय आवहीं, सो कहिए निज दास ॥ (नि० मा०)

युगल शतक और महावाणी की परम्परा मे ही निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्य कवियों ने काव्य रचना की है। श्री परशुरामदेव का परशुरामसागर प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमे बाइस सौ पद्य है। परशुराम ने प्रेमतत्व मे मग्न होने पर सर्वत्र बल दिया है।[2] परन्तु परशुराम जी पर संत कवियों का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

श्रीरूपरसिक देव की वाणी महावाणी की परम्परा मे आती है। युगलरति मे कवि की तन्मय चित्तवृत्ति बसंत, रथयात्रा, होरी, कुंजबिहार आदि विभिन्न परिस्थितियों की सृष्टि करके, मधुर रस का छक कर पान करती है।[3] श्री तत्ववेत्ता, श्री वृन्दावनदेव, गोविन्ददेव, गोविन्दशरणदेव, बिहारीदास, नागरीदास, पीताम्बरदेव, ललितकिशोरी, भगवतरसिक, सीतलदास,

---

१ निम्बार्क माधुरी, पृ० ५८
२ द्रष्टव्य, निम्बार्क माधुरी, पद संख्या ६, २५, २७ इत्यादि
३ निम्बार्क माधुरी द्रष्टव्य युहदोत्सवमणिमाल, पृ० १०१-११३

श्री कृष्णदास,[1] सहचरिशरणदेव, स्वयंभूदेव, रसरंग आदि कवियों ने भी उक्त परम्परा का ही पालन किया है। राधा अथवा शक्ति के नित्य स्वरूप और नित्यविहार से सम्बन्धित इन कवियों की शृंगारिक वाणी साधनात्मक दृष्टि से आगमों और तंत्रों में वर्णित रागसाधना का ही एक विशिष्ट स्वरूप प्रस्तुत करती है जिसमें रतिक्रीड़ा को ध्यान का विषय बनाया गया है। काव्य की दृष्टि से जो मात्र शृंगार प्रतीत होता है, वह साधनात्मक दृष्टि से, अपने आदि स्रोत की दृष्टि से, शाक्तसाधना और शैव-साधना से अविच्छिन्न रूप से सम्पृक्त है और राधा के गुण-रूप-कृपा और रति का गायन आनन्द लहरी की परम्परा से अद्भुत सादृश्य रखता है।

हरिदास सम्प्रदाय के कवि

स्वामी हरिदास अपनी पूरी परम्परा के साथ निम्बार्क सम्प्रदाय में ही प्रतिष्ठित किए गए हैं किन्तु हरिदास सम्प्रदाय एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में भी माना जाता है अतः उसके कवियों को हम स्वतंत्र रूप में चर्चा का विषय बना सकते हैं। स्वामी हरिदास निम्बार्क मतावलम्बी स्वामी आशुधीर के शिष्य थे। लोक, वेद, कुल, कर्म आदि को छोड़कर रात-दिन शक्ति और शक्तिमान् की रति का ध्यान ही हरिदासी सम्प्रदाय के साधकों का पुरुषार्थ रहा है। हरिदास ने शक्ति-शक्तिमान की एकता को घन-विद्युत की एकता कहा है।[2] कामेश्वर और कामेश्वरी की एक दूसरे को प्रसन्न करने की स्पर्धा का भव्य वर्णन हरिदास ने भी किया है।[3] हरिदास में कहीं शक्तिपात या अनुग्रह सिद्धान्त,[4] कहीं राधाकृष्ण की केलि का ध्यान,[5] एकतास्थापक परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव[6], शक्ति (राधा) के द्वारा, शक्तिमान (कृष्ण) को सौन्दर्य प्राप्ति[7], शक्तिमान् द्वारा शक्ति की महिमा का वर्णन[8] तथा राधा के सम्मुख कृष्ण की अभिभूतता

१ माधुर्य-लहरी, श्रीकृष्णदास, वृन्दावनधाम, संवत् २००६ वि०

२ ज्यों घनदामिनि संग रहत नित, बिछुरत नाहि और बरन सों।
–हरिदासवंशानुचरित, पृ० २२ नवनीत चौबे, इटावा, १९१० ई०, प्रथम संस्करण।

३ वही, पृ० २३

४ "स्वामी हरिदास रस सागर" में हरिदास के पद संख्या १, सम्पादक विश्वेश्वरशरण, वृन्दावन, संवत् २०१७ विक्रमी

५ वही, केलिमाल

६ वही, पद संख्या, १३

७ पद, २४

८ वही, पद, २६

के वर्णनों द्वारा मूलतः एक ही दार्शनिक तत्व, शिव-शक्ति सिद्धान्त की विविध रूपों में वाणी दी गई है। तंत्रों के साधनापरक ग्रन्थों में जो तत्व सिद्धान्त के रूप में सूक्ष्म और केवल धारणा का विषय था, उसे मूर्तिमान् और काव्य में मधुर कल्पना का विषय बनाना वैष्णव साधकों की विशेषता है। किस प्रकार शिव-शक्ति का सूक्ष्म सिद्धान्त काव्य का रूप धारण कर मूर्तित और प्रेषणीय बन जाता है, यह द्रष्टव्य है—

> बाँहि गहि लै चले, अलियं जु पुंज में चितै मुख हँसे मानों-
> यई स्याम।
> श्री हरिदास के स्वामी, स्यामा कुंजविहारी छाती सों छाती
> लगाएँ गौर स्याम।

शक्ति सम्प्रदाय में शक्तितत्व को प्रधानता दी गई है। शक्ति के बिना शिव शव है, यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है। हरिदास सम्प्रदाय में राधा के संकेत पर कृष्ण नाचते दिखाई पड़ते हैं—

> कुंजबिहारी नाचत लाडिली नचावत नीकें। (केलिमाल)

हरिदास सम्प्रदाय में भक्त कवि विट्ठलविपुल ने भी परम्परा का अनुसरण किया है। इस सम्प्रदाय में 'सुरत' प्रसंगों के वर्णन अधिक मिलते हैं। पदार्थमात्र में धनात्मक और ऋणात्मक शक्तियों के रूप में क्रीडाशील राधा कृष्ण या शक्ति शिव को मानवीय रूप में प्रस्तुत करके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का, शक्ति की स्थूल अभिव्यक्ति और उसके अव्यक्त रूप का तथा सृष्टि और स्रष्टा की पारमार्थिक स्थिति का अनवरत साक्षात्कार ही लीलागायन का उद्देश्य है—

> प्रात समै आवत जु आलस भरे जुगलकिशोर देखे कुंजन की खोरी।
>
> लालहि बस करनी मदन मद हरनी मलहंक पग धरनी उरज उदित री।
>
> स्यामा चलहु लडैती प्रिया कुंजनि करहु केलि।
>
> जुगलकिशोर मेरे कुंजबिहारी, प्यारी बन बिहार विहरत नवरंगा।
>
> हमारें माई स्यामा जू को राज।
> जाके आधीन सदाई सांवरो, या ब्रज को सिरताज।

बीठलविपुल की इस प्रकार की पंक्तियों का वास्तविक मर्म तभी हृदयगम् होता है, जब वैष्णवसाधना के उक्त तांत्रिक रूप को स्मरण रखा जाए।

शक्तिपात के बिना यह तत्व स्पष्ट नहीं हो सकता।[1]

बिहारीनिदास ने स्पष्ट कहा है, कि जब तक प्रपंच के मूल में स्थित तत्व की एकता का बोध नहीं होता, तब तक संसार के व्यवहार में ममता और एकत्व कैसे प्राप्त हो सकता है।[2] इसीलिए बिहारिनिदास जैसे भक्तकवियों ने सृष्टि के नियामक और नियामिका के विहार में चित्त लवलीन करने को कहा था—

निकुंज विराजिए जू।
नवजोवन जुगराज बिहारी, बिहरत नवरलि साजिए जू।
अजन अनी नैन सर सूधे, भ्रकुटि न चाप चढ़ाइ॥
विवि उरोज गज कुम्भनि पर अचल चल ढाल ढुलाइ।
खण्ड-खण्ड भये गंड रदन छद दं भुज दड सुहाइ॥
छूटत महामाधुरी घूंटत, घूमत अग अग घाइ।

भक्तों द्वारा अपने आराध्यों का यह रति-युद्ध देखकर तभी आश्चर्य और दुःख हो सकता है जब हम वाणी का प्रयोजन अपनी दृष्टि से ओझल करदें। किन्तु यह 'रतिसंग्राम' पदार्थमात्र के भीतर नित्य चल रहा है और यह शिव और शक्ति का अनवरत विलास है, तंत्रों की यही अंतर्दृष्टि वैष्णव आगमों और तत्पश्चात् वैष्णव कवियों की वाणियों में स्वीकृत हुई है।

हरिदास सम्प्रदाय के अन्य कवि नागरीदास, सरसदास, रसिकदास, ललितकिशोरदास, ललितकिशोरीदास, पीताम्बरदेव, भगवतरसिकदेव आदि के काव्यों में यही परम्परा मिलती है। वस्तुत आचार्य की वाणी के बाद, सम्प्रदाय की सम्पूर्ण वाणी, सिद्धान्तत पुनरावृत्ति मात्र प्रतीत होती है अतः आचार्य पर अप्रत्यक्षतः तान्त्रिक प्रभाव सिद्ध होने से, सम्पूर्ण सम्प्रदाय के काव्य से उदाहरण एकत्र करना व्यर्थ विस्तार सा लगता है।

हरिदास के विषय में भक्तमाल ने लिखा है कि हरिदास युगल के निकुंजविहार के गायक थे और "सम्मोहनतंत्र" से एक उदाहरण देकर

---

१ साधन स्रम न कछू कियौ, ना कछू करिबे जोग।
कृपा बिहारिनिदास कौं, सहज संजोगी भोग॥—हरिदाससागर में द्रष्टव्य, बिहारिनिदास, दोहा संख्या, १५०

२ वही, दोहा, १५२

परवर्ती टीकाकार ने यह प्रमाणित किया है कि जो राधा के बिना कृष्ण की उपासना करते हैं, वह पापी होते हैं।[1]

शाक्तागमों में शक्ति-शक्तिमान के विहार के जो वर्णन मिलते हैं उनमें और उपर्युक्त वैष्णव कवियों के वर्णनों में आधारभूत एकता दिखाई पड़ती है। शाक्तों के अनुसार अमृतसिन्धु में एक मणिद्वीप स्थित है, वहाँ कल्पवृक्ष की वाटिका है, जहाँ कदम्ब वृक्षों का उपवन है, उस द्वीप में चिन्तामणि से निर्मित भवन में परमशिव की शैया पर चिदानन्द रूपिणी देवी शयन करती है, इसका ध्यान कोई भाग्यशाली ही कर पाते हैं—

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटी परिवृते ।
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे ।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यंकनिलयां ।
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीं ।[2]

देवी के अतुल सौन्दर्य का भव्य वर्णन आगमों के स्तोत्रों में भी मिलता है। संस्कृत में कालिदास तथा परवर्ती कवियों ने शिव व शक्ति के सम्भोग का आकर्षक वर्णन किया है। यही पृष्ठभूमि वैष्णव कवियों को प्राप्त हुई थी, अतः उन्होंने भी युगलरूपशक्ति शक्तिमान के प्रीति के सुख और सौंदर्य का मनोहर वर्णन किया है। हम कह चुके हैं कि यह सब ध्यान के लिए ही किया गया है। यह कहना गलत है कि देवी को केवल जननी के रूप में ही माना गया है क्योंकि त्रिपुरासुन्दरी और ललिता के रूप में साधक देवी के साथ मधुर सम्बन्ध भी स्थापित कर सकता है। देवी के साथ तादात्म्य करने के लिए साधक अपने को स्त्री मानकर चलते हैं। अतः आगमों और तंत्रों की पृष्ठभूमि के योगदान को स्वीकार न करने पर वैष्णव साधना का विकास नहीं समझाया जा सकता।

जो यह समझते हैं कि आगमों और तंत्रों में केवल हठयोग और वामाचार है, वह आगमों की उस भावमयी साधना से परिचित नहीं है, जिसका विकास कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों में हुआ है। शाक्त साधक तो कृष्ण की श्यामल मूर्ति को

---

१ गौरतेजो बिनायस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्, जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत्पातकी शिवे-भक्तमाल सटीक, प्रियादास, संवत् १९८८, खेमराज श्रीकृष्णदास, बंबई पृ० १९६

२ आनन्दलहरी-आर्थर एवेलोन, पृ० १५

देवी का ही रूप मानते हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का भव्य भवन आगमों पर ही आधारित है और उसमें पांचरात्र, शाक्त और शैव सभी आगमों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। यहां तक कि बौद्ध-तंत्रों में पल्लवित युगनद्ध-साधना का भी वैष्णवों की यामलसाधना पर प्रभाव दिखाई पड़ता है।

गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्तकवि—युगलविहार का ध्यान, शक्तिमान् से भी अधिक शक्ति या राधा की उपासना गौड़ीय सम्प्रदाय की विशेषता है। इस सम्प्रदाय में हिन्दी में बहुत कम काव्य मिलता है। फिर भी, माधुरी, रामराय, गदाधर भट्ट, सूरदास मदनमोहन, मनोहर, प्रियादास, वैष्णवदास, सुबलश्याम, कृष्णपंडित, वैष्णवदास, रामहरि, हरदेव, वल्लभरसिक, भगवन्तमुदित आदि कवियों की वाणियां प्रसिद्ध हैं।[1]

श्री माधुरी कवि के अनुसार राधा और कृष्ण एक ही रूप हैं।[2] राधा-कृष्ण की रति के ध्यान में लवलीन चित्तवृत्ति वेदमार्ग और कुलकानि की भी चिन्ता नहीं करती।[3] राधा-कृष्ण के रस रंग को माधुरी जी सखी के रूप में संकेत से ही समझने को प्रस्तुत हैं।[4] माधुरी ने यह भी विश्वास प्रकट किया है कि जब पार्वती खण्ड में सब पुरुष युवतियां बन सकते हैं, तब वृन्दावन में सखी बनकर युगल सेवा में क्या असम्भवता है ?[5]

माधुरी जी जीवन का एक ही पुरुषार्थ मानते हैं, कुंज के रन्ध्रों से युगलरति का दर्शन और युगल की सेवा। भेदाभेदवाद को अपनाने के कारण इन गौड़ीय भक्तों ने अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रखा है परन्तु शक्ति और शक्तिमान्

---

१ प्रकाशित वाणियां—माधुरी वाणी (माधुरी), मोहिनी वाणी (गदाधर भट्ट) सुहृद्वाणी (सूरदास मदनमोहन), वल्लभरसिक वाणी, प्रेमसम्पुट (विश्वनाथ चक्रवर्ती), हरिलीला (ब्रह्मगोपाल) राधाकुण्ड, मथुरा से प्रकाशित हो चुकी हैं।

२ गौर नाम अरु गौर तनु, अन्तर कृष्ण स्वरूप।
गौर सांवरे दुहुन को, प्रगट एक ही रूप।
माधुरीवाणी, दोहा संख्या, २

३ जा कारन छोडी सबै, लोक वेद कुल कानि—वही, दोहा ४६

४ सैननि में ही समुझिहौं, मधुक बात रसरंग—वही, दोहा, ६६

५ पारवती के खण्ड में, सबै जुवति है जांय—वही, ७०

की जहाँ सब एकता का प्रश्न है, वहाँ इनमें और तांत्रिकों में पूर्ण एकता दिखाई पड़ती है। शाक्तों की ही तरह शक्ति की महिमा और अनुग्रह के ये भक्तकवि विश्वासी हैं। शाक्तप्रभाव द्रष्टव्य है—

नैननि सों नैना मिले, मुख सों मुख लिपटाय।
भुज अरुके सुरझे नहीं, रहे सुरति सुरझाय।
उर सों उर ऐसे मिले, सब अंगन सों अंग।
मनहुँ अरगजा में कियौ, नव केसर को रंग। (१८८)

वृन्दावनमाधुरी शीर्षक कविताओं में माधुरी जी ने तांत्रिकों के कैलाश की ही तरह एक मोहक लोक की सृष्टि की है जहाँ शक्ति और शक्तिमान का अखंड विलास चलता है।

सूरदास मदनमोहन भी भगवान के शक्तिपात या अनुग्रह के विश्वासी हैं। तांत्रिकों ने शक्ति के बाल्यकाल का वर्णन नहीं किया किन्तु सूरदास मदनमोहन ने राधा के बाल्यकाल का भी वर्णन किया है—

अहो मेरी लाड़िली, सुकुमारि पालनें झूलें।[1]

राधा-कृष्ण की तात्विक एकता को उक्त कवि काव्यभाषा में इस प्रकार व्यक्त करता है—

भाई री, राधा वल्लभ, वल्लभ राधा, वे इनमें, इनमें वे बसत।
घाम-छाँह इत घन-दामिनी, उत कसौटी-लीक ज्यों लसत।

सूरदास मदनमोहन ने भी अन्य भक्त कवियों की तरह कामेश्वर-कामेश्वरी के विहार को विभिन्न ऋतुओं, उत्सवों, पर्वों और अन्य ऐसे ही अवसरों पर विविध प्रकार से इस प्रकार वर्णित किया है कि दिव्य सत्ता का दिव्यविहार पूर्ण मानवीय बन गया है। दिव्य और मानवीय, ऐन्द्रिक और अतीन्द्रिय, प्रत्यक्ष और परोक्ष तथा स्थूल और सूक्ष्म की तात्विक और साधनात्मक एकता स्थापित करने में तांत्रिक क्रिया के स्तर पर अधिक सफल हुए हैं, जबकि भक्त कवि भावनात्मक स्तर पर अधिक सफल हुए हैं। सूरदास मदनमोहन द्वारा वर्णित राधा-कृष्ण का शृंगार, मान, राधा का अभिसार, हिंडोला झूलन, होरी-क्रीडन आदि सब कुछ धनात्मक और ऋणात्मक शक्तियों की एकता का ही प्रतिपादक है—

तू तो चंपक बरनी री मोहन बेलि,
जमुना पुलिन चवित भई सघन कुंज सहेलि।

---

१ प्रभुदयाल मीतल, मथुरा, संवत् २०१५ पृ०—३४

सींचत तोहि स्यामसुन्दर, प्रीति सुधा नैननि पुर,
बहु जतननि बारि किएँ राखत तोहि ब्रज महेलि ।
तरु तमाल लालन उर लपटाइ रही प्रेम री प्रेम कुसुम,
कुच जुग फल लालन गलबहियाँ मेलि।
धनि सुहाग, भाग अनुराग तेरौ री राधे,
सूरदास मदनमोहन, प्रीतम संग करत केलि ।[1]

यही परम्परा इस सम्प्रदाय के अन्य कवियो मे मिलती है । गदाधर भट्ट की वाणी मे भी इन्ही उक्त तत्वो की व्यंजना हुई है । राधा को गदाधर भट्ट ने नित्य अनुरागिणी कामेश्वरी के रूप मे ही वर्णित किया है—

जयति श्री राधिके, सकल सुख साधिके ।
तरुनिमनि नित्य नवतन किसोरी ।
कृष्णतन-लीन-मन रूप की चातकी,
कृष्ण मुख-हिम—किरन की चकोरी ।
कृष्ण-दृग-भृंग विश्राम हित-पद्मिनी,
कृष्ण दृग-मृगज बंधन सुडोरी ।
कृष्ण-अनुराग-मकरंद की मधुकरी,
कृष्णगुन-गान-रससिंधु बोरी ।

भगवान और भगवती के दिव्य राग मे अपने मन को मग्न करके, ऐन्द्रिय जगत पर विजय-प्राप्ति की यह वैष्णवी साधना, साधना की दृष्टि से अवश्य आगमो की परम्परा का एक नूतन विकास मात्र है । रीतिकाल में राधा-कृष्ण प्रतीकमात्र रह गए । राधा कृष्ण के विहार-वर्णन के समय भक्त-कवियो की उच्चचित्तवृत्ति के अभाव के कारण आगम-साधना का प्रभाव रीतिकाल पर नहीं खोजा जा सकता क्योकि वहाँ काव्य साधनात्मक नहीं, केवल काव्य के लिए ही राधा-कृष्ण का प्रयोग किया गया है । किन्तु रीतिकाल मे भी जो भक्तकवियों की वाणी है उस पर आगम-प्रभाव स्पष्ट ही है, अनजाने ही शाक्त-शैव पांचरात्र परम्परा उनके काव्य मे मुखरित हुई है किन्तु रीतिकालीन काव्य इस शोध ग्रन्थ से बाहर का विषय है ।

उपसंहार—प्रमुख वैष्णव कवियो पर तांत्रिक प्रभाव के दिग्दर्शन के पश्चात् मीरा के काव्य पर तांत्रिक प्रभाव की चर्चा आवश्यक है । मीरा किसी

---

[1] सूरदास मदनमोहन जीवनी और पदावली—पृ० ५०

सम्प्रदाय विशेष की अनुवर्तिनी नहीं हैं। उन पर सन्तपरम्परा और वैष्णव परम्परा दोनों का प्रभाव था अतः सन्तों से प्रभावित उनके काव्य में वही तत्व हैं जो कबीर दादू आदि सन्तों में मिलते हैं और ऐसे काव्य पर तांत्रिक प्रभाव का वही स्वरूप है जिसका दिग्दर्शन सन्तकाव्य पर तांत्रिक प्रभाव शीर्षक अध्याय में किया जा चुका है। किन्तु मीरा के विषय में यह स्मरणीय है कि उनके काव्य में साधनात्मकता कम आत्माभिव्यक्ति बहुत अधिक है। यत्र तत्र सन्तकाव्य की तरह हठयोगपरक शब्दावली आ गई है—

गुरु को सबद कान में पहिरूँ, अंग विभूति रमाऊँ।
पाँच पचीस बस कर राखूँ, म्हांरो पल्लो न पकड़े कोय।

सुरत निरत का दिवला संजोले, मनसा की करले बाती।
सतगुरु मिलिया तासा भाग्या, सैन बताई साँची।
सुन्न सिखर के द्वारे झाके मोहि मिले अविनासी,
सुरत का नर बाँध बेड़ा, बेग उतरो पार।
सुरत चली जहाँ मैं चली रे, कृष्ण नाम झंकार।
अविनासी के पोल पर जो मीराँ करँ छै पुकार।

पद्मावती शबनम के "मीरा वृहत् पद संग्रह" में[1] नाथ प्रभाव द्योतक पदों को एक स्थान पर संग्रहीत कर दिया गया है। इन पदों में नाथ-परम्परा अपने पूर्ण स्वरूप के साथ प्रतिष्ठित है किन्तु इन पदों में भी मीरा की आत्माभिव्यक्ति उन्हें सन्त-परम्परा से अलग करती प्रतीत होती है।

मीरा के वैष्णवीय पदों में भी राधा-कृष्ण रतिवर्णन के स्थान पर कवियित्री की निजी आशा-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति अधिक है अतः मीरा पर तांत्रिक प्रभाव केवल अप्रत्यक्षरूप में इसी सीमा तक पाया जाता है कि मीरा की साधना भी "रागसाधना" थी। राग के ही माध्यम से ही उन्होंने राग पर विजय पाई किन्तु दयाबाई और सहजोबाई की तरह वे योगिनी नहीं थी, यह उनकी पदावली से ही स्पष्ट है। अतः मीरा के प्रेम और विरह से छलकते हुए पदों का एक अपना विशिष्ट स्थान है, उनमें तांत्रिक परम्परा की अप्रत्यक्ष गूँज ही सुनाई पड़ती है।

रामभक्ति काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ

तुलसीदास—रामभक्तिकाव्य परम्परा में तुलसीदास प्रकाशस्तम्भ के

---

[1] मीरा के वृहत पद संग्रह—पद्मावती शबनम, बनारस, संवत् २००६

उन्होंने अपने भक्ति निरूपण में ज्ञान व योग को स्वीकार किया है। यह स्मरणीय है कि रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय के साथ योग का घनिष्ठ सम्बन्ध था।

बाशिरा भक्ति—तुलसी ने अरण्यकाड में माया द्वारा जगत्रूपी भ्रम की उत्पत्ति समझाई है, किन्तु यह माया भगवान के अधीन कर दी गई है। जिस जीव पर वह कृपा करते हैं, उससे वह माया दूर हो जाती है और तब उसे संसार का वास्तविक रूप स्पष्ट हो जाता है। जगत् का वास्तविक रूप सत् असत् विलक्षण है।[1]

तुलसी ने धर्म से विरति और योग से ज्ञान की उत्पत्ति कही है और ज्ञान को मोक्षप्रद भी बताया है, किन्तु इन सबके बिना भी भगवान् के अधीन होने पर उनकी भक्ति प्राप्त हो जाती है।

इस भक्ति के प्रथम चिह्नों को देखने से यह पता चल जाता है कि तुलसी की भक्ति बाशिरा-भक्ति थी—

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती, निज-निज कर्म निरत श्रुति रीती।[2]

अर्थात् वर्णाश्रम धर्म और उसके प्रचारक ब्राह्मणों में प्रीति का उत्पन्न होना भक्ति की प्रथम शर्त है। निश्चित रूप से कबीर, दादू, नानक आदि इस शर्त को नहीं मान सकते थे, क्योंकि वे ब्राह्मण और वर्णधर्म की अग्राह्यनीयता अपने युग में स्पष्ट देख रहे थे। इसीलिए तुलसीदास निम्न जातियों को एक सीमा तक ही अधिकार देते हैं। वह निश्चित रूप से प्राचीन व्यवस्था को पुनर्स्थापना करना चाहते थे किन्तु उसे अधिक से अधिक उदार बनाने का उन्होंने अवश्य प्रयत्न किया है। जहाँ तक भगवान को पाने का प्रश्न है, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि ज्ञानियों से भी अधिक भगवान को अपने दास प्यारे होते हैं[3] चाहे वे किसी जाति या वर्ण के हों, किन्तु सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में तुलसीदास शास्त्र, वर्ण और विप्र तीनों की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं—

---

१ गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानिहु भाई।
धर्म ते बिरति, जोग तें ग्याना, ग्यान मोक्षप्रद बेद बखाना।
अरण्य० दोहा १५-१६

२ **अरण्यकाण्ड, दोहा, १६**

३ **उत्तरकाण्ड, दोहा, ८५-८६**

उत्तरकाण्ड के प्रसिद्ध दीपक के रूपक मे तुलसी ने ज्ञान और योग की प्रशंसा की है। कहा गया है कि सात्विक श्रद्धाधेनु के दुग्ध को, धैर्य, सन्तोषादि गुणो से दधि रूप मे परिणत कर, वैराग्यरूपी नवनीत निकालना चाहिए और योग-अग्नि से ममतारूपी मल को जला डालना चाहिए, तब विज्ञान-प्रधान बुद्धि दीपशिखा की तरह प्रज्वलित हो उठती है और "सोऽहं" की अनुभूति होती है, इस स्थिति मे अनेक बाधाएं आती हैं। यदि किसी प्रकार निर्विघ्न समाधि प्राप्त हो जाय तो अति कठिन कैवल्यपद प्राप्त हो सकता है।[1]

इस प्रकार ज्ञान व योग की महिमा को तुलसी स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होंने भक्ति को चिन्तामणि और ज्ञान को दीपक मानकर भक्ति की श्रेष्ठता स्वीकार की है।

तुलसी के भक्ति-सिद्धान्तों मे योग और ज्ञान का वह निरादर नहीं मिलता जो कृष्णकाव्य मे मिलता है। रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय के अनुसरण करने के कारण ही तुलसी संन्यास और योग की परम्परा को आगम-परम्परा के साथ सन्निविष्ट कर देते हैं। यही कारण है कि लोमस, अगस्त्य, शरभग, भरद्वाज आदि सभी ज्ञानी व योगी भक्त के रूप मे प्रस्तुत किये गये हैं। आगमो की पंचदेवोपासना को तुलसी के रामावतसम्प्रदाय मे इतना अधिक महत्व मिला है कि ज्ञान और योग के ऊपर सगुण ब्रह्म की भक्ति को प्रतिष्ठित कर दिया गया है। किन्तु ज्ञान और योग की उपेक्षा नही की गई है। तुलसीदास ऐसे हठयोगियो का अवश्य विरोध करते हैं जो सगुण-भक्ति-विरोधी थे।

शक्तिवाद—तुलसी यद्यपि जगत् को मिथ्या मानते हैं, किन्तु उन्होने माया को ब्रह्म के अधीन एक शक्ति के रूप मे माना है। यह माया ब्रह्म के संकेत पर नर्तकी की तरह नृत्य करती है।[2] शकराचार्य ने ब्रह्म और माया का यह सम्बन्ध स्वीकार नही किया है, यह स्मरणीय है। फिर भी माया को ईश्वर के अधीन कर देने से तुलसी को शक्तिवादी नही कहा जा सकता क्योकि वह जगत् को शंकर की ही तरह मायाजन्य भ्रम मानते हैं जबकि शक्तिवादी उसे सत् मानते हैं।

आगममूलक शक्तिवाद का रूप तुलसी मे सीतातत्व के रूप मे प्रतिष्ठित है—

---

१ उत्तरकाण्ड, दोहा ११७, ११८, ११९।

२ उत्तरकाण्ड—काकमुनि का उपदेश

उत्तरकाण्ड के प्रसिद्ध दीपक के रूपक में तुलसी ने ज्ञान और योग की प्रशंसा की है। कहा गया है कि सात्विक श्रद्धाधेनु के दुग्ध को, धैर्य, सन्तोषादि गुणों से दधि रूप में परिणत कर, वैराग्यरूपी नवनीत निकालना चाहिए और योग-अग्नि से ममतारूपी मल को जला डालना चाहिए, तब विज्ञान-प्रधान बुद्धि दीपशिखा की तरह प्रज्वलित हो उठती है और "सोऽहं" की अनुभूति होती है, इस स्थिति में अनेक बाधाएं आती हैं। यदि किसी प्रकार निर्विघ्न समाधि प्राप्त हो जाय तो अति कठिन कैवल्यपद प्राप्त हो सकता है।[1]

इस प्रकार ज्ञान व योग की महिमा को तुलसी स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होंने भक्ति को चिन्तामणि और ज्ञान को दीपक मानकर भक्ति की श्रेष्ठता स्वीकार की है।

तुलसी के भक्ति-सिद्धान्तों में योग और ज्ञान का वह निरादर नहीं मिलता जो कृष्णकाव्य में मिलता है। रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय के अनुसरण करने के कारण ही तुलसी संन्यास और योग की परम्परा को आगम-परम्परा के साथ सन्निविष्ट कर देते हैं। यही कारण है कि लोमस, अगस्त्य, शरभंग, भरद्वाज आदि सभी ज्ञानी व योगी भक्त के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। आगमों की पञ्चदेवोपासना को तुलसी के रामावतसम्प्रदाय में इतना अधिक महत्व मिला है कि ज्ञान और योग के ऊपर सगुण ब्रह्म की भक्ति को प्रतिष्ठित कर दिया गया है। किन्तु ज्ञान और योग की उपेक्षा नहीं की गई है। तुलसीदास ऐसे हठयोगियों का अवश्य विरोध करते हैं जो सगुण-भक्ति-विरोधी थे।

शक्तिवाद—तुलसी यद्यपि जगत् को मिथ्या मानते हैं, किन्तु उन्होंने माया को ब्रह्म के अधीन एक शक्ति के रूप में माना है। यह माया ब्रह्म के संकेत पर नर्तकी की तरह नृत्य करती है।[2] शंकराचार्य ने ब्रह्म और माया का यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया है, यह स्मरणीय है। फिर भी माया को ईश्वर के अधीन कर देने से तुलसी को शक्तिवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह जगत् को शंकर की ही तरह मायाजन्य भ्रम मानते हैं जबकि शक्तिवादी उसे सत् मानते हैं।

आगममूलक शक्तिवाद का रूप तुलसी में सीतातत्व के रूप में प्रतिष्ठित है—

---

१ उत्तरकाण्ड, दोहा ११७, ११८, ११६।

२ उत्तरकाण्ड—काकमुनि का उपदेश

उत्तरकाण्ड के प्रसिद्ध दीपक के रूपक मे तुलसी ने ज्ञान और योग की प्रशंसा की है। कहा गया है कि सात्विक श्रद्धाधेनु के दुग्ध को, धैर्य, सन्तोषादि गुणों से दधि रूप मे परिणत कर, वैराग्यरूपी नवनीत निकालना चाहिए और योग-अग्नि से ममतारूपी मल को जला डालना चाहिए, तब विज्ञान-प्रधान बुद्धि दीपशिखा की तरह प्रज्वलित हो उठती है और "सोऽहं" की अनुभूति होती है, इस स्थिति मे अनेक बाधाएं आती हैं। यदि किसी प्रकार निर्विघ्न समाधि प्राप्त हो जाय तो अति कठिन कैवल्यपद प्राप्त हो सकता है।[1]

इस प्रकार ज्ञान व योग की महिमा को तुलसी स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होंने भक्ति को चिन्तामणि और ज्ञान को दीपक मानकर भक्ति की श्रेष्ठता स्वीकार की है।

तुलसी के भक्ति-सिद्धान्तों मे योग और ज्ञान का वह निरादर नही मिलता जो कृष्णकाव्य मे मिलता है। रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय के अनुसरण करने के कारण ही तुलसी सन्यास और योग की परम्परा को आगम-परम्परा के साथ सन्निविष्ट कर देते हैं। यही कारण है कि लोमस, अगस्त्य, शरभंग, भरद्वाज आदि सभी ज्ञानी व योगी भक्त के रूप मे प्रस्तुत किये गये हैं। आगमो की पंचदेवोपासना को तुलसी के रामावतसम्प्रदाय मे इतना अधिक महत्व मिला है कि ज्ञान और योग के ऊपर सगुण ब्रह्म की भक्ति को प्रतिष्ठित कर दिया गया है। किन्तु ज्ञान और योग की उपेक्षा नही की गई है। तुलसीदास ऐसे हठयोगियो का अवश्य विरोध करते हैं जो सगुण-भक्ति-विरोधी थे।

शक्तिवाद—तुलसी यद्यपि जगत् को मिथ्या मानते हैं, किन्तु उन्होने माया को ब्रह्म के अधीन एक शक्ति के रूप मे माना है। यह माया ब्रह्म के संकेत पर नर्तकी की तरह नृत्य करती है।[2] शंकराचार्य ने ब्रह्म और माया का यह सम्बन्ध स्वीकार नही किया है, यह स्मरणीय है। फिर भी माया को ईश्वर के अधीन कर देने से तुलसी को शक्तिवादी नही कहा जा सकता क्योंकि वह जगत् को शंकर की ही तरह मायाजन्य भ्रम मानते हैं जबकि शक्तिवादी उसे सत् मानते हैं।

आगममूलक शक्तिवाद का रूप तुलसी मे सीतातत्व के रूप मे प्रतिष्ठित है—

---

१ उत्तरकण्ड, दोहा ११७, ११८, ११९।
२ उत्तरकाण्ड—काकमुनि का उपदेश

वाम भाग सोभति अनुकूला, आदि सक्ति छवि निधि जगमूला ।
जासु अंस उपजहिं गुनखानी, अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ।
भ्रकुटिविलास जासु जग होई, राम बाम दिसि सीता सोई ।[१]

विनयपत्रिका मे तुलसी ने देवी-स्तुति मे शक्ति को विश्वमूला, भीमा, रामा, वामा, चंडी, असुरविमर्दिनी तथा पराप्रकृति कहा है ।[२] इस "विकट देवी" का जो "ललित" और "पवित्र" उभा रूप है, उसी के आदर्श पर सीतातत्व की सृष्टि हुई है और रामभक्ति के रसिक-सम्प्रदाय में देवी का ललिता और रामा रूप ही विकसित हुआ है । तुलसी ने शक्ति सहित देवता पर सर्वत्र बल दिया है—

देखे जहं जहं रघुपति जेते, सक्तिन्हि सहित सकल सुर तेते ।
सती विधात्री इन्दिरा, देखीं अमित अनूप ।
जेहिं जेहिं बेष अजादि सुर, तेहि तेहि तन अनुरूप ।[३]

शिव—तुलसीदास ने रुद्रशिव के वेदमार्गरक्षक और वेदमार्ग विरोधी अर्थात् वाममार्गी दोनों रूपों का चित्रण किया है । उन्होंने रामभक्ति के उपदेशकों में शिव को शामिल किया है । कृष्णभक्ति-साहित्य मे भी शिव यशोदा के द्वार पर बालकृष्ण के दर्शन करने के लिए जाते हैं और रामभक्ति-सम्प्रदाय में भी वह राम के रूप के प्यासे दिखाये गये है । तुलसी के शिव को देखकर यह कल्पना करना भी कठिन हो जाता है कि यह देवता तथा इसके उपासक आर्येतर जाति से सम्बन्धित रहे हैं ।

तुलसी ने शिव के तांत्रिक रूप के अनुसार उन्हे सिद्धिदाता,[४] श्मशाननिवासी[५], अवधूत, सिद्ध[६] तथा भैरव रूप कहा है ।[७] इस रूप मे रुद्रशिव

---

१ बालकाण्ड-मानस, दोहा १४८
२ विनयपत्रिका-पद १५
३ बालकाण्ड-मानस, दोहा ५४-५५
४ विनयपत्रिका-पद ६
५ वही, पद ६
६ वही, पद १२
७ भीषनाकार भैरव भयंकर, भूत-प्रेत प्रमथाधिपति विपति हरता ।
डाकिनी साकिनी खेचरं भूचर, जन्त्र-मन्त्र-भंजन प्रबल कल्मषारी ।
—वही, पद ११

तुलसी के समय तक नहो रह गया था, इसलिए तुलसी ने उसे महत्त्व नही दिया।

उक्त देवों के अतिरिक्त तुलसी ने रामभक्त होने से वानर हनुमान की उपासना का विपुल प्रचार किया है। राम के साथ राम के सेवक हनुमान की उपासना भी चल पड़ी। गणेश की तरह हनुमान की उपासना कभी स्थानीय थी। रामभक्ति के प्रचार के साथ हनुमान दूसरे प्रान्तों मे भी पूजित हुए। इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं कि हनुमान-उपासना तान्त्रिक उपासना है क्योंकि उसमे मंत्र और ध्यान का बहुत अधिक महत्त्व है। हनुमान की मूर्ति के ऊपर जो सिन्दूर लगाया जाता है, वह रक्त का अवशेष है।[1] गणेश की ही तरह हनुमान को भी शिव के साथ सम्बन्धित कर दिया गया है। उन्हें यंत्र, मंत्र, मारण, कृत्या आदि से सम्बन्धित बताया गया है। तुलसी के पूर्व ही इस स्थानीय देवता को उच्च वर्गों ने स्वीकार कर लिया था। तुलसीदास ने तो स्पष्ट कहा है कि रामभक्त होने के कारण "सनेहवश" रुद्रदेव ने हनुमान का अवतार धारण किया था।[2]

गणेश की स्तुति के साथ रामचरितमानस का प्रारम्भ होता है, इससे उनका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। इस आर्येतर देवता को तुलसी वेदमार्ग के अनुकूल मानते हैं। उन्हें भी राम का भक्त बना दिया गया है।

उक्त देवताओ के अतिरिक्त तुलसीदास ने "सियाराममय" कहकर देव, दनुज, नाग, खग, प्रेत, पितर, गन्धर्व, रजनीचर, किन्नर आदि की भी वन्दना की है।[3] प्रेतपूजा मे भी तुलसी का विश्वास था।[4]

वैदिक देवताओ के प्रति तुलसी की भक्ति नही थी। उन्होने इन्द्रादि देवताओं को स्वार्थी व मायावी कहा है।[5] पुराणो ने भी देवताओ के चरित्र

---

१ द्रष्टव्य–एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री-धर्मानन्द कोशाम्बी, अध्याय २

२ जेहि सरीर रति रामसों, सोइ आदरैं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान। दोहावली-दो० १४२

३ बाल काण्ड-दोहा ७

४ अयोध्याकाण्ड-दोहा ३५

५ स्वारथ विवस विकल तुम्ह होहू, भरत दोस नहिं राउर मोहू।
सुर स्वारथी मलीन मन, कीन्ह कुमन्त्र कुठाटु।
रचि प्रपच माया प्रबल, भयभ्रम अरति उचाटु—
अयोध्याकाण्ड–दो० २२०, २९५।

तन्त्रों में कहा गया है कि वेद के मंत्र कलियुग में काम नहीं देते, अतः तान्त्रिक मन्त्रों का ही फल इस युग में अमोघ माना जाता है। तुलसी भी इस परम्परा को स्वीकार करते हैं।[१]

तुलसी ने "राम" बीजमंत्र के 'रं' "आ" तथा "म" को क्रमशः अग्नि, सूर्य व चन्द्रमा का हेतु कहा है। इस मंत्र को वेदों का प्राण भी बताया गया है।[२] यह व्याख्या स्पष्ट ही तांत्रिक है।

तुलसीदास के अनुसार नामी नाम का सेवक है। नाम जपने से स्वतः देवता नाम का अनुसरण करता है।[३] नाम और रूप अनिर्वचनीय तत्त्व है। साधना से ही ये स्पष्ट होते हैं।[४] देवता का रूप नाम के अधीन रहता है। कोई भी विशेष रूप, बिना उसका नाम जाने पहिचाना नहीं जा सकता, जबकि रूप सम्मुख न होने पर भी नाम के स्मरण द्वारा रूप सम्मुख आ जाता है। निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म के बीच में नाम ही दोनों का साक्षी है। वह दोनों का प्रबोधक है, दुभाषिया है।[५] निर्गुण के उपासक योगियों को भी नाम का सहारा लेना पड़ता है।[६] नाम द्वारा ही परमात्मा का रूप स्पष्ट होता है। सिद्धियाँ भी नाम-जप से ही प्राप्त होती हैं।[७] और कामना हीन भक्त राम की भक्तिरस में लीन होकर नाम से ही अमृत तत्त्व को प्राप्त करते हैं।[८]

---

१ यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम-फलनि फरो सो।
 —विनय० पद १७३

२ बंदउं नाम राम रघुबर को, हेतु कृसानु भानु हिमकर को।
 बिधि हरिहरमय बेद प्रान सो, अगुन अनूपम गुन निधान सो॥
 —बालकाण्ड दो० १९

३ समुझत सरिस नाम अरु नामी, प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी।
 वहीं, दोहा २१

४ नाम रूप दुइ ईस उपाधी, अकथ अनादि सुसामुझि साधी। वही,

५ देखिहिं रूप नाम आधीना, रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना।
 रूप बिसेष नाम बिनु जानें, करतलगत न परहिं पहचानें।
 सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें, आवत हृदय सनेह बिसेषें।-वही

६ वहीं, दोहा २१

७ साधक नाम जपहिं लय लाएं, होहिं सिद्ध अनमादिक पाएं।-वही

८ वहीं, दोहा २२

मनमिल प्रावर मरथ न जापू।
प्रगट प्रभाव महेश प्रतापू ॥[1]

तुलसी का मत है कि बाह्य सिद्धियों के लिए भी राममंत्र समर्थ है। रामनाम के जप द्वारा उस वामाचार को नहीं अपनाना पड़ता जिसे प्रायः साधक अपनाते हैं।[2] तुलसी ने ऐसे वामाचारियों की निन्दा की है।[3]

बाह्य सिद्धियों, जादू और अभिचार का सम्बन्ध तुलसी ने आर्येतर जातियों के साथ अधिक दिखाया है। यह परम्परा अथर्ववेद के समय ही चली आ रही थी। मेघनाद, युद्ध में विजय के लिए निकुम्भिला देवी का यज्ञ करता है। इस यज्ञ में पशुबलि दी गई थी।[4] तुलसी ने मेघनाद को मायावी कहा है इसका स्पष्ट अर्थ "ब्लैक मैजिक" का प्रयोक्ता है। मानस में राक्षसों की माया या जादू का चमत्कार तुलसी ने विस्तार से वर्णित किया है।[5]

आर्यों ने भी इस माया को सीख लिया था। देवी या शिव के साथ इसका विशेष सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। विश्वामित्र अथर्व विद्या के विशेषज्ञ थे, उन्होंने राम को सिद्धियां दी थी।[6] दशरथ का सत्कार जनक ने सिद्धियों द्वारा किया था।[7]

---

१ बालकाण्ड दोहा १५

२ पय अहार फल खाइ जपु, राम राम षटमास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब, करतल तुलसीदास।—दोहावली, दोहा ५

३ असुभ वेष भूषन धरें, मच्छ अमच्छ जे खाहिं।
ते जोगी ते सिद्ध नर, पूजित कलिजुग माहिं ॥—वही, दोहा ५५०

४ मेघनाद मख करइ अपावन, खल मायावी देव सतावन।
जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा, आहुति देत रुधिर अरु भैंसा ॥—लंकाकाण्ड, दोहा ७५-७६।

५ उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया, जीति न जाय प्रभंजन जाया।
सुन्दरकांड, १९ दोहा।
नभ चढ़ि बरष बिपुल अंगारा, महि ते प्रगट होहिं जलधारा।
नाना भांति पिशाच पिशाची, मारु काटु धुनि बोलहिं नाची ॥
लंका—दोहा ५२

६ बालकांड, दोहा २१०

७ वही, दोहा ३०६

लीला से सम्बन्धित उदाहरण भी दिये गये हैं।[1] यह भी बताया गया है कि राममक्ति में रसिक भावना का साम्प्रदायिक स्वरूप सर्वप्रथम नम्मालवार में मिलता है। कुलशेखर व अंडाल, लोकाचार्य और वरवरमुनि में भी रसिक भावना का विकास दिखाई पड़ता है। इसी परम्परा में रामानन्द ने ईश्वर जीव के "भोग्य-भोक्तृत्व" भाव को प्रतिष्ठित किया था।[2]

रामानन्द के बाद अनन्तानन्द व कृष्णदास पयहारी में इसी रसिक भावना का विकास हुआ।

रसिक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक अग्रदास—(विक्रम की सत्तरहवीं शताब्दी) उपर्युक्त रामभक्ति में रसिकभावना के विकास को यदि प्रामाणिक माना जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तांत्रिक युग में ही रामभक्ति में राम की शृंगारिक क्रीडाओं का प्रवेश हुआ। नम्मालवार व अंडाल तांत्रिकयुग के ही साधक हैं। और इन आलवार भक्तों तथा इनके अतिरिक्त शैवभक्तों में भी गुह्य रहस्यवाद अवश्य मिलता है। तांत्रिक युग के प्रभाव के कारण ही राम के साथ माधुर्यभावना का सम्बन्ध दृढ हुआ है, किंतु अग्रदास के पूर्व तक इसका साम्प्रदायिक रूप पूर्णरूप से निश्चित नहीं हो पाया था। अग्रदास ने आगमों की पद्धति पर शक्ति और शक्तिमान अर्थात् सीता और राम की रति-क्रीडाओं का वर्णन भक्तकवियों के लिए अनिवार्य कर दिया। इस प्रकार अग्रदास और उनके बाद रामभक्ति में जिस रसिक सम्प्रदाय का विकास हुआ है वह तुलसीदास में नहीं मिलता। तुलसीदास ने जागरूक होकर राम के मर्यादावादी रूप को प्रतिष्ठित किया है। अतः तुलसी पर आगमों के शक्तिवाद का जो प्रभाव दिखाई पड़ता है, उसमें मर्यादाहीन शृंगारिक चित्रणों के लिए स्थान नहीं है, जबकि अग्रदास और उनके बाद के कवियों में कृष्ण-भक्तों की तरह इस प्रकार के चित्रण बहुत अधिक मात्रा में मिलते हैं।

डा० भगवतीसिंह ने भी "रसिक सिद्धान्तों" पर आगम-प्रभाव प्रमाणित किया है। उनके अनुसार "वैष्णवाचार्यों द्वारा विरचित रामभक्तिपरक रचनाओं

---

१ रामवस्त्रगलितं श्रमाम्बुभिश्छिद्रित कुचयुगस्य कुंकुमम्
सा निरीक्ष्य हसिते सखीजने समुखाद्रुपजगाम सस्मितम्-जानकीहरण ८-११ द्रष्टव्य-रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० ६७ से ७६ तक

२ नम. पदेना खडेन त्वात्मात्मीयत्वमुच्यते
षष्ठयन्तेन मकारेण भोग्यभोक्तृत्वमप्युत—वही, पृ० ८२

थी, मानसी ध्यान के रूप मे सीताराम के विहार का वर्णन किया गया है।[1]
सदा शिवसंहिता और अग्रदास की ध्यानमंजरी मे सादृश्य दिखाई पड़ता है—

तस्य मध्येपुर दिव्य साकेतमिति सज्ञकम्-सदाशिवसंहिता
अवध पुनिर की अवधि यही स्रुति अस्मृति वरनो-ध्यानम०
तन्मध्ये परमोदारा, कल्पवृक्षो वरप्रद
तस्याध परम दिव्य रत्नमडपमुत्तमम्।
तन्मध्ये वेदिका रम्या स्वर्णरत्नविनिर्मिता।
तन्मध्ये च पर शुभ्र रत्नसिंहासन शुभम्।—सदाशिव स०
कल्पवृक्ष के निकट तहाँ यक धाम मणिन जुत।
कचनमय सब भूमि परम अति राजत अद्भुत।
स्वर्णवेदिका मध्य तहा यक रजत सिंहासन।
सिंहासन के मध्य परम अति पदुम सुआसन।—ध्यानमजरी[2]

स्पष्ट है कि अग्रदास ने तन्त्रा से ही प्ररित होकर शक्ति-शक्तिमान की रति-क्रीडा का वर्णन किया है। इसीलिए राम रमाकेलिकुलाचारी और सीता रति प्रिया के रूप म चित्रित हुई ह। मर्यादा की रक्षा के लिए स्वकीयाभाव को हा अपनाया गया है और जीव सखीभाव से सीताराम के रमण म सहायक होता है। स्वय अग्रदास न आगम का प्रभाव स्वीकार किया ह—

सुनि आगम विधि अर्थ कछुक जो मन हियो आवे।
एहि म गल कर ध्यान जयामति बरन सुनावे।[3]

ध्यान मजरी—अग्रदास ने शक्ति शक्तिमान क युगल रूप का भव्य नख-सिख वर्णन किया है। यह नख सिख वर्णन साधकों के ध्यान के लिए किया गया है।

युगल का 'सुरति' म सखिया अपने अपन अधिकार क अनुसार सेवा करती हैं—

---

१ अन्योन्याश्लिष्टहृद्बाहुनेत्र पश्यतमादरात्।
दक्षिणेन करापेण कुचाग्रे चचलाग्रक।
स्पृशन्त च तनोत्सर्ग, परिहासंमुंहुर्मुंहु।
विनोदपत ताम्बूलचर्वणकपरायणम्।—वही
२ रामभक्ति मे रसिक सम्प्रदाय, पृ० ६४-६५
३ निजी हस्तलिखित प्रति से उद्धृत

यहाँ भी "सीताराम" का "युगनद्ध" रूप देखकर प्रसन्न होने की भावना है, एक स्थान पर अग्रदास राधावल्लभ सम्प्रदाय के कृष्ण की तरह राम को भी "सीता" का सुमिरन करते हुए दिखाते हैं—

> जगत जपत रघुनाथ नाम सब,
> राम करत सीता को सुमिरन,
> रघुवर के मंथिली महाधन।[1]

तुलसीदास में मधुरामभक्ति—अग्रदास की तरह रसिक भक्त तुलसीदास को "चारुशीला" या "तुलसीसखी" कहते हैं और उनके काव्य में भी "सखीभाव" खोजते हैं—

तुलसीदास के शृंगारपरक, काव्यस्थलों की व्याख्या रसिक सम्प्रदाय के अनुसार की गई है, अर्थात् तुलसीदास को भी सखीभावना का उपासक माना गया है। गीतावली में इस दृष्टिकोण के अनुसार कुछ ऐसे पद मिलते हैं जिनमे तुलसीदास का सखीभाव व्यक्त हुआ है—

> जैसे ललित लखन लाल लोने।
> तैसिये ललित उरमिला परस्पर लखत सुलोचन कोनें।
> सोभा सील सनेह सोहावने, समउ केलिगृह गौनें।
> देखि तियन के नयन सफल भए तुलसिदास हू के कोनें।[2]

इसी प्रकार बरवै रामायण से भी एक पद्य उद्धृत किया गया है—

> उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
> सिय रघुवर के भये उनींदे नैन।

क्या इस प्रकार के पद्यों से यह सिद्ध करने की आवश्यकता है कि तुलसी सखीभाव के ही उपासक थे। वास्तविकता यह है कि तुलसी मर्यादा की सर्वत्र रक्षा करने के कारण सेवक-सेव्य भाव के ही उपासक ठहरते हैं। हमे इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं, हमे तो यह देखना है कि तुलसी पर तन्त्रों का प्रभाव किस रूप में पड़ा है और रसिक सम्प्रदाय के कवियों पर किस रूप में। हम, देख चुके है कि तुलसीदास के सीताराम शक्तिवादी सिद्धान्त के अनुरूप ही गढ़े गये हैं, किन्तु अपने मर्यादावाद के कारण तुलसीदास ने

---

१ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० ३८१, ३८२

२ गीतावली-बालकाण्ड

हैं, उनमें और कृष्ण सम्प्रदाय के मर्यादाहीन सम्भोगपरक चित्रणों में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता—

> नीवी करषत बरजति प्यारी।
> रसलंपट सपुट कर जोरत, पद परसत पुनि लै बलिहारी।
> पिय हँसि रस-रस कंचुकि खोलें।
> चमक निवारति पानि लाड़िलो, मुरक-मुरक मुख बोलें।[1]

डा० भगवतीसिंह का इन उदाहरणों के विषय में मत है कि इनमें "युगल-विहार का जो वर्णन कि गया है, वह साम्प्रदायिक सिद्धांतों के अनुकूल है।[2] किन्तु शुक्लजी द्वारा उद्धत एक अन्य पद को वह प्रमाणिक नहीं मानते—

> हमारे पिय ठाढ़े सरजू तीर।
> छोड़ि लाज मैं जाय मिली जहँ खड़े लखन के वीर।
> मृदु मुस्काय पकरि कर मेरो, खेंचि लियो तब चीर।
> झाऊ वृक्ष की झाड़ी भीतर, करन लगे रति धीर।[3]

क्योंकि इस पद में जीव का रतिद्रष्टा रूप नहीं है, अपितु वह राम के साथ स्वयं रति करता है, अतः उसे डा० भगवतीसिंह एक "भ्रष्ट रसिक" की उपाधि देते हैं।[4] यह सही है कि ऐसे भ्रष्ट रसिकों की कमी नहीं है और ऐसे लोगों ने बहुत से सम्भोगपरक पद लिख कर भक्तों की रचनाओं में शामिल कर दिये हैं। किन्तु तान्त्रिक प्रभाव के कारण जब स्वयं भक्तकवि भगवान के सम्भोग का नग्न वर्णन करते हैं तब भ्रष्ट रसिकों और पवित्र रसिकभक्तों की रचनाओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता। स्वयं रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय में रसिक अली जैसे भक्तकवि भी हुए हैं जो भगवान के साथ "स्वसुख" के सिद्धान्त को भी मानते थे और इस सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त भ्रष्ट रसिक की रचना भी सम्प्रदाय के विरुद्ध नहीं प्रमाणित होती। तान्त्रिकों ने स्पष्ट कहा

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८६, इंडियन प्रेस, प्रयाग, संवत् १९९७

२ डा० भगवतीसिंह, पृ० १५

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८६

४ डा० भगवतीसिंह पृ० १५

रक्षरक्षकभाव, भर्त्ताभार्याभाव, स्वामीसेवकभाव आदि भावों में श्रेष्ठ और अन्तिम भाव है—भोक्ताभोग्यभाव।

इस सम्प्रदाय में गुरु का आगमों की तरह ही अमित महत्व है। गुरु को साधक और साध्य का मध्यस्थ माना गया है।

मंत्र और गुरु के अतिरिक्त मुद्राओं का भी विधान किया गया है। धनुष, बाण, नाम, चन्द्रिका और मुद्रिका ये पाँच मुद्राएं हैं। दीक्षा के अवसर पर न्यास की तरह ही साधक के वक्षस्थल पर युगल नाम की छाप दी जाती है। इस संस्कार में भी युगल का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। नाम को युगल-विग्रह का प्रतीक माना गया है। तिलक और कंठी धारण में भी युगल सिद्धान्त मिलता है।

. दर्शन—इस मत में पाँचरात्र आगमों की तरह ही, व्यूह, विभव, अंतर्यामी और अर्चावतार ब्रह्म के ये पाँच रूप स्वीकृत हैं। अर्थात् परात्पर ब्रह्म अपनी शक्ति द्वारा अनेक रूप धारण करता है। इस सम्प्रदाय को इसीलिए शक्तिवादी कहा जा सकता है। परात्पर ब्रह्म या राम के साथ सीता शक्ति की स्थिति मानी गई है। परवर्ती सीतोपनिषद् के आधार पर सीता शब्द की यह व्याख्या की गई है कि जो अपनी चेष्टा से भगवान को वश में करे, वह सीता है—सिनोति वश करोति स्वचेष्टया भगवन्तं सा सीता। इस सम्प्रदाय में जीव का स्त्रीभाव ही कल्पित है, पुरुषभाव नहीं। जीव सीता की शक्ति का अंश है, अतः वह सीता के सम्मुख समर्पण करता है। इस सम्प्रदाय में जगत को शक्तिरूप माना गया है।

साधना—इस मत में आगमों की तरह मूर्ति-उपासना का बड़ा महत्व है। मूर्तिपूजा में मूर्ति को साक्षात् भगवान माना जाता है, प्रतीक नहीं। क्योंकि मूर्ति में भगवान की शक्ति का अवतरण होता है।

इस मत में बाह्य उपासना का उद्देश्य भगवान की मधुर लीलाओं में प्रवेश प्राप्त करना है। कर्म तथा ज्ञान को इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक माना गया है। एक विशेष प्रवृत्ति यह है कि इस सम्प्रदाय में योग को भी बहुत अधिक महत्व दिया गया है।

क्रम-साधना की दृष्टि से सर्वप्रथम नाम या मन्त्रसाधना आती है। सन्तकवियों की तरह इस मत में अजपाजाप स्वीकृत है। अजपाजाप से भक्ति प्राप्त होती है और अन्त में प्रपत्ति उत्पन्न होती है जिसमें भक्त भगवान के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। इसी स्थिति को सर्वोच्च माना गया है। तंत्रों में जहाँ

कर सकता है।[1] वल्लभाचार्य के मत में स्वसुख का सिद्धान्त जिस प्रकार स्वीकृत था, उसी प्रकार रसिकग्रली ने तत्सुख के साथ स्वसुख का सिद्धान्त भी प्रचलित किया, किन्तु ग्रधिकतर तत्सुख का सिद्धान्त ही माना जाता है।

वस्तुतः तत्सुख का सिद्धान्त मर्यादा की रक्षा के लिए बनाया गया है। भक्तों को यह भय रहा है कि कहीं उनका सिद्धान्त पूर्ण रूप से रहस्यवादी न हो जाय। किन्तु तत्सुख का सिद्धान्त भी रहस्यवाद से रहित नहीं है, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार भी सीताराम की परिचर्या करते समय सखियों को "चुम्बन", "आलिंगन" आदि का सुख तो प्राप्त होता ही था। इस प्रकार रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय पर तान्त्रिक प्रभाव पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ता है।

सम्पूर्ण वैष्णव-साधना व दर्शन पर विहंगावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रार्य धर्म के लिए इस साधना व दर्शन द्वारा प्रस्तुत तत्व, देवता, शक्ति, मूर्ति, मन्दिर, गुरु मन्त्र, स्तोत्र, भक्ति आदि नवीन थे। ये तत्व शैव, शाक्त, पांचरात्र तथा बौद्ध, तन्त्रों में विकसित हुए थे। इनमें बहुत से तत्व पुराणों में भी स्वीकृत हुए थे। वैष्णवों ने इन तत्वों को स्वीकार कर ग्रपनी विशिष्ट साधना और तदनुरूप ग्रपने काव्य का विकास किया है। सम्पूर्ण वैष्णव-कवि दार्शनिक दृष्टि से शक्तिवादी हैं, साधना की दृष्टि से उन्होंने शक्ति और शक्तिमान की मधुर लीलाओं का ही अधिक वर्णन किया है। तुलसीदास को छोड़कर ग्रन्य सभी कवियों ने दिव्यरति को लौकिक रति के रूप ग्रपनी लेखनी का विषय बनाया है। शक्ति और शक्तिमान को लौकिक नायक और नायिका का रूप देखकर उनकी परस्पर प्रीति और रति में ही भक्तकवि निमग्न रहे हैं। तान्त्रिकों के द्वारा राग को साधना का माध्यम स्वीकार कर लेने के कारण ही यह सम्भव हुआ है। वैष्णव कवियों ने तन्त्रों और ग्रागमों से ही ग्रपनी भाव-साधना के लिए प्रेरणा ली है। जिस तरह पंक से कमल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तान्त्रिकों के वामाचार से मध्यकालीन वैष्णव भक्तों द्वारा सीता और राम तथा राधा और कृष्ण का जन्म हुआ है। जिस प्रकार कमल-पुष्प को ग्रहण करते समय पंक का भय रहता है, उसी प्रकार वैष्णव कवियों की मधुराभक्ति के ग्रहण में पतन का भय विद्यमान है।

---

[1] उक्त साधना से सम्बन्धित दिए गये तथ्यों के लिए द्रष्टव्य रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय में सम्प्रदाय व साधना शीर्षक विषय।

उपसंहार

वैदिक युग के पूर्व भी मनुष्य ने अपने बाह्य जीवन के अनुरूप विचारों और विश्वासों का विकास किया था। वैदिक-परम्परा को प्रभावित करती हुई नाना देशी-विदेशी, स्थानीय, प्रान्तीय, निम्न और उच्च जातियों के विश्वासों और विचारों को समेटती हुई तान्त्रिक धारा एक विराट महाधारा के रूप मे प्रवाहित हुई था। इस महाधारा की गृहणशील प्रवृत्ति के कारण इसने उच्च और निम्न सभी प्रकार की धारणाओं और साधना-विधियों का विकास हुआ। तान्त्रिक-युग (६००-१३००) मे आकर यह महाधारा शैव, शाक्त, वैष्णव व बौद्ध तान्त्रिक धाराओं के रूप मे प्रवाहित हुई। इसने अपने समय के अन्य सांस्कृतिक आन्दोलनों को भी प्रभावित किया। तान्त्रिकयुग मे इस महाधारा की सर्वत्र एकता दिखाई पड़ती है। जैसे मिट्टी के गुण से जल का गुण बदल जाता है, उसी प्रकार नाना सम्प्रदायों मे पहुँचकर यह नये रूप धारण कर लेती है। अनेक दृष्टियों या "दर्शनों" का सम्बन्ध भी इससे स्थापित होता है। परन्तु आधार की दृष्टि से इन सब मे समानता दिखाई पड़ती है।

यह समानता शक्तिवाद, कुण्डलिनी योग तथा शक्ति सहित देवता की उपासना—मुख्यत: इन तीन रूपों मे दिखाई पड़ती है। यह लक्ष्य करने योग्य तथ्य है कि इन तीनों म शक्ति अथवा नारीतत्व सन्निविष्ट है। वैदूर्यमणि की तरह इस शक्ति सिद्धान्त के नाना रूप हैं। सिद्धान्तत: प्रज्ञा-उपाय, शक्ति-शिव, लक्ष्मी-विष्णु, प्राण, अपान आदि शक्ति और शक्तिमान के सिद्धान्त के ही

करती है। अजन्ता और बाघ के चित्रण, एलौरा तथा एलिफेन्टा के मधुर और कमनीय मूर्त्ति-अंकन भी इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं। कालिदास के कुमारसम्भव और एलिफेन्टा (आठवीं शताब्दी) में अंकित "शिव-पार्वती-परिणय" में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। इसी परम्परा का विकास जयदेव के गीतगोविन्द, चंडीदास और विद्यापति के पदों तथा ब्रज-क्षेत्र के कवियों की ललित-स्वर-लहरी में हुआ है। (वैष्णव-काव्य में चित्रित राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण अथवा रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय में चित्रित सीता-राम की जो मूर्त्ति हमारे सम्मुख अवतरित होती है, वह तान्त्रिक युग में ही प्रस्तर, स्वर और शब्द इन तीनों माध्यमों से अभिव्यक्ति हो चुकी थी। अलंकरण, रसपीयूष-वर्षण तथा भोग अभिव्यक्ति के इन सभी रूपों में इन तीनों प्रवृत्तियों का एकमात्र स्रोत तान्त्रिक परम्परा है, जो कहीं पुराणों के माध्यम से और कहीं प्रत्यक्ष रूप से वैष्णव-कवियों द्वारा गृहीत हुई है।)

जिस प्रकार कलाकारों के लिए आदेश था कि पहले समाधि में देवता को प्रत्यक्ष करो, तभी उसका अंकन हो सकता है, उसी प्रकार वैष्णवकवि प्रथम देवता का साक्षात्कार करता है और तब उसका रूप वर्णन करता है। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए गुरु, देवता, मंत्र, कथा-श्रवण, सेवा, अर्चा, सत्संग आदि का विधान किया गया है। जब देवता का युगल स्वरूप वैष्णव कवि के मानसिक क्षितिज पर स्फुरित हो जाता है, तब वही आन्तरिक देवता शब्द का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए तुलसीदास ने सीता और राम के स्वरूप को "गिरा अर्थ सम" अभिन्न कहा है। शब्द और अर्थ जिस प्रकार अभिन्न हैं, उसी प्रकार देवता का वास्तविक स्वरूप और व्यक्त स्वरूप अभिन्न हैं।

तान्त्रिक परम्परा से कला का दूसरा रूप सन्तकाव्य के रूप में विकसित हुआ है। यह शुद्ध "सिद्ध-काव्य" है, जो अटपटा किन्तु प्रेम से पगा हुआ और अटूट आत्म-विश्वास से ओतप्रोत है। यह काव्य हठयोगियों द्वारा सन्त-कवियों तक पहुँचा था। यह सन्तकाव्य ऊपर से खुरखुरा और खीझ उत्पन्न करने वाला प्रतीत होता है। किन्तु धूल की ढेरी में अनजान हीरों की तरह बहुमूल्य अनुभव और अन्याय के विरुद्ध मानवीय आत्मा की ऊष्मा इस काव्य में विद्यमान है। धैर्य की छलनी से छानने पर सन्तकाव्य में सिद्धकाव्य की ही धरोहर दिखाई पड़ती है। सिद्धान्ततः वैष्णवकाव्य में तान्त्रिधारा का यह विश्वास ही व्यक्त हुआ है कि वासना के नाश के स्थान पर उसका शोधन, उसका उदात्तीकरण अथवा रूपान्तरण सम्भव है। भारतीय दर्शन का यह

खड़ी बोली में भी कामायनी व पार्वती जैसे काव्यों पर आगमों का ही अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार मध्यकाल में शंकराचार्य के मायावाद और संन्यासवाद के विरुद्ध आगममूलक शक्तिवाद द्वारा संघर्ष किया गया था, उसी प्रकार आज के बुद्धिवाद के दोषों को देखकर कामायनीकार ने बुद्धि और श्रद्धा के सामंजस्य पर बल दिया है तथा जीवन और जगत् को भ्रम समझने वाले दार्शनिकों के विरुद्ध कामायनीकार ने जीवन की स्वीकृति पर अधिक बल दिया है।

अंगरेजी शिक्षा से अप्रभावित भारतीयमानस का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि आज धार्मिक क्षेत्र में जो नाना देवी-देवताओं की उपासना प्रचलित है, वह आगममूलक ही है। आज भी अपने स्थूलरूप में तत्रों की मयर्वेदी परम्परा, भूत-प्रेत उपासना, जादू, टोटका, शकुन, मंत्र तथा झाड-फूंक आदि के रूप में विद्यमान है। वस्तुत सामान्य व्यक्ति तो तंत्र का यही अर्थ समझता है।

आज का हिन्दू समाज मंदिर, मूर्त्ति, नामकीर्त्तन, घरेलू आचार, उत्सव, मेले, व्रत, तीर्थ आदि से ही परिचित है। ये सब आगम परम्परा के ही देन हैं।

यद्यपि उत्पादन के साधन न बदलने के कारण वर्ण, वर्गवैषम्य से रहित समाज की स्थापना में तान्त्रिक-साधक सफल नहीं हो सके। परन्तु शताब्दियों तक तांत्रिक साहित्य तथा उससे प्रभावित मध्यकालीन साहित्य ने समाज की असगतियों के विरुद्ध अनवरत रूप से अभियान किया है। अत तांत्रिक साहित्य के अनुशीलन का भविष्य उज्ज्वल है।

१३ इन्ट्रोडक्शन टू द पांचरात्र एंड द अहिर्बुध्न्य—एफ० ओ० श्रेडर,
मद्रास लाइब्रेरी, मद्रास १६१६
१४ इन्टरनेशनल जर्नल आफ तांत्रिक आर्ट—अमेरिका
१५ इसोटेरिक बुद्धिज्म—ए० पी० सिन्नेट, लंदन, १८८३ ई० द्वितीय संस्करण
१६ इंडिया इन वैदिक एज—पुरुषोत्तमलाल भार्गव, जयपुर, १६५६ ई०
१७ इंडियन साधूज—घुरे
१८ इंट्रोडक्शन टू तंत्रशास्त्र—आर्थर एवेलान
१६ ईश्वरप्रत्यभिज्ञा—उत्पलदेव
२० उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—संवत २००८, प्रयाग. परशुराम चतुर्वेदी
२१ उज्ज्वल नीलमणि—सम्पा० दुर्गाप्रसाद, बम्बई, १६३२ ई०
२२ उड्डीशतंत्र—माधवप्रसाद व्यास, बनारस, सं० १६६२ वि०
२३ एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ इंडियन हिस्ट्री—डी० डी० कौशाम्बी,
बम्बई, १६५६ ई०
२४ एक नवीन भक्ति सूत्र—सरस्वतीभवन सीरीज, बनारस, १६२३
२५ ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री—के० एम० पनिक्कर, बम्बई, १६५० ई०
२६ ए मेटाफिजीक आफ मिस्टीसिज्म—गोविन्दाचार्य स्वामी, मैसूर,
१६२३ ई०
२७ ए हिस्ट्री आफ ब्रजबुलि लिट्रेचर—सुकमारसेन, कलकत्ता, १६३५ ई०
२८ एलीमेंट्स आफ हिन्दी इकनोग्राफी—गोपीनाथ राव, मद्रास, १६१४ ई०
२६ एन आउटलाइन आफ रिलीजन्स आफ इण्डिया—जे० एन० फर्कुंअर,
१६२० ई०
३० ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलोसफी—डा० एस० एन० दास गुप्ता,
केम्ब्रिज, १६४० ई०
३१ एन इन्ट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म—डा० एस० बी० दास गुप्ता, कलकत्ता
विश्वविद्यालय
३२ एनसियेन्ट हिस्ट्री आफ वेस्टर्न एशिया इंडिया एण्ड क्रीट—प्रो० बी०,
ह्राजनो, न्यूयार्क
३३ ऐतरेय ब्राह्मण—
३४ ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषद फिलासफी—आर० डी० राना डे, पूना
ओरियेन्टल बुक ऐजेंसी, १६२६ ई०
३५ ऋग्वेद-हिन्दी अनुवाद—रामगोविन्द त्रिवेदी, प्रयाग, १६५४ ई०

६० ग्रेथ आफ सिविलीजेशन—डब्ल्यू० जे० पेरी
६१ गधर्व तत्र—सपादक रामचन्द्रकाक तथा हरभट्ट शास्त्री, श्रीनगर, कश्मीर, १९३४ ई०
६२ गौड्स आफ नारदर्न पैंथियन—पेटी
६३ गोरखबानी—डा० बड्थ्वाल
६४ गारलैंडग्राफ लेटर्स—एवेलॉन
६५ ग्रेटनेस ग्राफ शिवा—एवेलॉन
६६ गोरक्ष सिद्धान्तसग्रह—
६७ गुरुग्रन्थ साहब—शिरामणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर, १९५१ ई०
६८ चौका विधान—साधु अमूदास कबीरपथी, बड़ोदा १९४० ई०
६९ छन्दोग्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर
७० छीतस्वामी—(जीवनी और पद सग्रह काकरौली, राजस्थान, २०१२ वि०
७१ जैन साहित्य और इतिहास (द्वितीय सस्करण)—नाथूराम प्रेमी, बम्बई, १९५६ ई०
७२ जगजीवन बानी—(प्रथम भाग) बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
७३ जयाख्य सहिता—गायकवाड ओरियटल सीरीज
७४ टू वज्रयान वर्क्स—प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि-अनगवज्र, ज्ञानसिद्धि-इन्द्रभूति, बड़ौदा, १९२९ ई०
७५ ट्री ऐण्ड सरपेंट वरशिप—फर्ग्युसन
७६ ट्रान्सफोर्म्ड हिन्दूइज्म—ई० पी०बी० लदन १९०८ ई०
७७ ग्रैवेडियन गौड्स इन मोडर्न हिन्दूइज्म—डब्ल्यू० टी० एल्मोर, मद्रास १९२५ ई०
७८ डियायन सागस आफ जरथुस्त्र—तारापुरवाला।
७९ त्रिपुरारहस्य—सरस्वती भवन सीरीज, काशी।
८० तत्रराजतत्र—एवेलान।
८१ तिब्बतन योग एण्ड सीक्रिट डाक्ट्रिन—डा० एस० काजा।
८२ तत्राज—देयर फिलासफी एण्ड आकल्ट सीक्रिट-डी० एन० बोस।
८३ तांत्रिक टैक्स्ट्स सीरीज—आर्थर एवलान, आगमानुसधान समिति, कलकत्ता
८४ तत्रालोक—अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत सीरीज, श्रीनगर।

१०९ प्रिंसिपल आफ तंत्राज—एवेलॉन
११० प्रज्ञा-पारमिता—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
१११ परफैक्शन आफ विज़डम—इ० जे० थामस
११२ पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट इन बंगाल—एम०एन० बसु
११३ पाम लीफ सेलेक्टिड मैन्युसक्रिप्टस—हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता
११४ प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास—रांगेय राघव, दिल्ली १९५३ ई०
११५ प्रि एरियन एलीमेंटस इन इंडियन कल्चर—ए० के० सूर, कलकत्ता १९३४ ई०
११६ पाटल—संत साहित्य विशेषांक—सम्पा० रामदयाल पांडे, पटना, १९५५ ई०
११७ परशुराम कल्पतन्त्र—गायक० ओरि० सीरीज, बड़ौदा
११८ पातन्जलि योगदर्शन—हरिहरानन्द आरण्य, लखनऊ विश्वविद्यालय
११९ परमानन्दसागर—सम्पा० गोवर्धननाथ शुक्ल, अलीगढ़, १९५८ ई०
१२० प्रीमियर आफ हिन्दूइज्म—जे० एन० फर्कुंअर, आक्सफोर्ड, १९१४ ई०
१२१ परानन्दसूत्र—स्वामी त्रिविक्रम तीर्थ, बड़ौदा, १९३१ ई०
१२२ फिलोसफीकल एसेज—डा० एस० एन० दास गुप्ता, कलकत्ता
१२३ बुद्धिस्ट रिमेन्स इन आंध्र—के० आर० सुब्रमनियन, मद्रास, १९३२ ई०
१२४ बौद्ध दर्शन मीमांसा—प्रथम संस्करण, बल्देव उपाध्याय, बनारस, १९४६ ई०
१२५ बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक—परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग, १९५८ ई०
१२६ बुद्धिज्म—सर मोनियर विलियम्स, लंदन १८८९ ई०
१२७ बुद्धिस्ट तांत्रिक लिटरेचर आफ बंगाल—एस० के० डे०, न्यू इंडियन एन्टीक्विटी जिल्द १ (१९३८)
१२८ बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स थ्रो द एजिज—सी० एडवर्ड
१२९ बुद्धिस्ट मेडीटेशन—ए० लॉयड
१३० बिगनिंग आफ बुद्धिस्ट आर्ट—एम० फाउचर
१३१ बुद्धिस्ट मोनूमेन्ट्स आफ संट्रल इण्डिया—ए० कनिंघम, लन्दन, (१८५४ ई०)

१५४ माडर्न रिलीजस मूवमेन्टस इन इंडिया—जे० एन० फर्कुअर न्यूयार्क, १६१५ ई०
१५५ मेनुअल आफ् ए मिस्टिक—वुडवर्ड
१५६ योग उपनिषद्—सम्पा० महादेव शास्त्री, मद्रास १६२० ई०
१५७ योगिनी हृदय दीपिका—सरस्वती भवन सीरीज् काशी, १६२३ वि०
१५८ रामानन्द की हिन्दी रचनाएं—डा० बडथ्वाल, पीताम्बरदत्त, काशी सं० २०१२ वि०
१५६ रिलीजन्स आफ इंडिया—हापकिन्स
१६० रिलीजन एण्ड फिलॉसफी आफ् अथर्ववेद—एन० जे० शिन्दे, पूना १६५२
१६१ रिलीजन ऐण्ड राइज आफ् कैपीटलिज्म—आर० एच० टॉनी
१६२ राधा-तंत्र—
१६३ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डा० भगवतीसिंह, बलरामपुर, जि० गोंडा, स० २०१४ वि०
१६४ रुद्रयामल तंत्र—देवीरहस्य-रामचन्द्र काव, १६४१ ई० श्रीनगर
१६५ लामाइज्म—"द बुद्धिज्म ओफ तिब्बत-वेडेल-कैम्ब्रिज, १६३४ ई० द्वितीय संस्करण
१६६ लिंग सिद्धान्त चन्द्रिका—एम० आर० सखरे, बेलगांव, १६४२ ई०
१६७ लोकायत—देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
१६८ ललितासहस्रनाम—अनुवादक अनन्त कृष्णशास्त्री, संस्करण २, अोटकमंड, १६२५ ई०
१६६ ललिताकल्ट—वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार—मद्रास यूनीवर्सिटी, १६४२ ई०
१७० वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेन्ट इन बंगाल—जिल्द १, एस० के० डे० कलकत्ता, १६४२ ई०
१७१ वन हण्ड्रेड पोइम्स ओफ कबीर—रवीन्द्रनाथ टैगोर, लंदन, १६३४ ई०
१७२ वरिवस्यारहस्यम्—
१७३ विज्ञान भैरव—
१७४ विलेज गॉड्स आफ साउथ-इण्डिया—हेनरी व्हाइट हैड।
१७५ वेदान्तिक बुद्धिज्म आफ् बुद्ध—जीनिंग्स।
१७६ वैदिक माइथालॉजी—ए० ए० मैक्डॉनेल लन्दन १८६७

२०० स्वयंभू पुराण—हरप्रसाद शास्त्री
२०१ साउथ इण्डियन इमेजिज आफ गॉड्स एण्ड गॉडेसिज—मद्रास १९१०
२०२ सीक्रिट डॉक्ट्रिन—मदाम ब्लैवात्स्की
२०३ स्पन्द-निर्णय – क्षेमराज
२०४ शावताज—इ० ए० पायने
२०५ शतपथ ब्राह्मण—जूलियस इगलिंग, सैक्रिड बुक सीरीज, आक्सफोर्ड, १८८२ ई०
२०६ शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर एवेलॉन, गनेश एण्ड को० मद्रास, चतुर्थ संस्करण, १९५१ ई०
२०७ शतपथ ब्राह्मण—हिन्दी विज्ञान भाष्य, मोतीलाल शास्त्री, जयपुर
२०८ शक्ति अंक—कल्याण, गोरखपुर
२०९ शिवांक – कल्याण, गोरखपुर
२१० शांडिल्य संहिता – भाग १, सरस्वती भवन सीरीज, बनारस, १९३५ ई०
२११ शिवसंहिता – अंगरेजी में अनुवाद, एस०, सी० वसु
२१२ शैव-स्कूल आफ हिन्दूज्मि—शिवपादसुन्दरम्
२१३ शाक्त-सम्प्रदाय—नर्मदाशंकर, देवशंकर मेहता, फार्बस गुजराती सभा (गुजराती भाषा में)
२१४ श्री चक्रसंहारतन्त्र—सम्पा० काजी दासमदुप, कलकत्ता १९१९ ई०
२१५ शिक्षासमुच्चय, शांतिदेव—सी० बेंडल द्वारा अनूदित, लंदन १९२२ ई०
२१६ श्यामारहस्य—जीवनानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८९६ ई० द्वितीय संस्करण
२१७ श्री राधा का क्रमिक विकास – डा० शशिभूषणदास गुप्त, काशी, १९५६ ई०
२१८ श्री हितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य—ललिताचरण गोस्वामी, वृन्दावन, सम्वत २०१४ वि०
२१९ हिस्टोरियन्स हिस्ट्री आफ द वर्ल्ड—लंदन, १९०७ ई०
२२० हिन्दुत्व—रामदास गौड, संवत् १९९५ ई०
२२१ हंसविलास – गायक० ओरि० सीरीज, १९३७ ई०
२२२ हिस्ट्री ऑफ कैमिस्ट्री—पी० सी० राय, कलकत्ता, १९५६
२२३ हिन्दी व कान्नड़ में भक्ति आन्दोलन – हिरण्मय, आगरा, १९५९
२२४ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—प्रथम भाग, काशी, संवत् २०१८ वि०

शब्दानुक्रमणिका

शब्दानुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	पृष्ठ	शुद्ध
सेलंविडेटड	२	सेलंविटड
प्रामाण	३	प्रमाण
अद्‌य	४	अद्वय
टंवट्स	४	टंवरट्स
ब्रह्मांड	५	ब्रह्माण्ड
बार्यों	७	आर्यों
आम्भृणी	७	आम्भृणी
दाचि	९	दाची
पुष्टि	१८	पुष्ट
ततरीय	२०	तैतरीय
प्रवृत्ति	४०	प्रवृत्त
अमिनाम	६६	अमिणाम
आइमार	७७-७९	आड्मार
पांचरात्र	७९-८५	पांचरात्र
पिप्ला	९१	पिप्प्ला
शक्तिवाद	९६	शक्तिपाद
उग्मतता	९७	उग्मताना

बौद्धान्त्रिक योग	२५८	बौद्ध तान्त्रिक योग
उन्मम	२६५	उन्मन
प्रातिमा	२६६	प्रतिमा
वृष्टिता	२७४	वृद्धता
अमोध	२७६	अमोघ
प्रम	२९१	प्रेम
वेकफर	२६७	देखकर
वौलें	२६६	वोलं
नक्ति	२६६	मुक्ति
अनुगमन	३०१	अनुगमन
वाह्याचार	१८३-३०१	वाह्याचार
सौन्दर्य लहरी	३०४	आनन्द लहरी
मारवि	३०६	भारवि
सर्वे	३२१	सर्वं
परिस्थित	३२१	परिस्थिति
कसपूरानन्स	३२४	कर्पूरानन्स
पनिवकर	३२७-३२६	पणिपकर
नूनास	३२८	नूनास
लम्पट	३३४	लम्पट
सापना	३३४	साधना
सना	२३६	सनी
उपनिपद	३३८	उपनिषद्
कामेक्षा	३३८	कामेच्छा
सोत-राम	३३६	सीताराम
प्रवृत्तियां	३४५-३४७	प्रवृत्तियाँ
घर्पात्	३५१	अर्थात्
चबरी भोड	३६५	सेयरीनाथ
पारवती	३७६	पार्वती
उप्रेक्षा	३८१	उपेक्षा
रतियों	४०३	रश्मियाँ
नवनीति	४०५	नवनीत